शिक्षाशास्त्र के नए क्षितिज

शिक्षा में बदलाव का सवाल

अनिल सद्गोपाल

'असली चमत्कार न तो पानी पर चलने में
है और न ही हवा में चलने में।
चमत्कार अगर है तो जमीन
पर चलने में।'
थिक न्हाट हान्ह
(एक वियतनामी बौद्ध भिक्षु)

उक्त कथन का भारत की शिक्षानीति में फैले भ्रमजाल के संदर्भ में भाष्य :

'असली चमत्कार न तो औपचारिकेतर शिक्षा केंद्र
चलाने में है और न ही प्रौढ़ साक्षरता कक्षाएं
चलाने में। चमत्कार अगर है तो देश के
आठ लाख स्कूलों की व्यवस्था को भारत के
गरीब बच्चों, विशेषकर लड़कियों और विकलांग बच्चों की
जरूरत के अनुरूप बदलने में।'

शिक्षा में बदलाव का सवाल

सामाजिक अनुभवों से नीति तक

अनिल सद्गोपाल

ग्रंथ शिल्पी

© अनिल सद्गोपाल

प्रथम हिंदी संस्करण 2000
पुनर्मुद्रण 2004, 2009
ISBN : 81-7917-056-X (HB)
ISBN : 81-7917-057-8 (PB)

श्यामबिहारी राय द्वारा ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, बी-7,
सरस्वती कामप्लेक्स, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली 110 092
से प्रकाशित और डी.पी. ग्राफिक्स, उत्तम नगर, नई दिल्ली 110 059 से
टाइप सेट होकर एम.एस. इंडियन इंटरप्राइजेज, दिल्ली में मुद्रित

समर्पण

माताजी को

जिनकी इस पुस्तक को देखने की

आस पूरी न हो सकी

और

शशि को

जिसने इस पुस्तक का बीज बोया,

रोपा लगाया, सींचा और फलीभूत करवाया

विषयानुक्रम

भूमिका 9

खंड एक : स्कूली तंत्र में हस्तक्षेप : एक जमीनी अनुभव

1. होशंगाबाद विज्ञान 25
2. स्कूली तंत्र में हस्तक्षेप—इतिहास के आईने में 53
3. होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के सबक 74
   (क) नीतिगत निहितार्थ
   (ख) लेबल का प्रसार या. . .

खंड दो : नीति में साक्षरता का भटकाव

4. साक्षरता : राष्ट्रीय ध्येय या शैक्षिक मापदंड 95
5. साक्षरता का शिकंजा 105
6. सबक सीखने से इनकार 112

खंड तीन : शिक्षा की राजनीति

7. बस्ते का बोझ और गरीब बच्चे 119
8. पाठ्यपुस्तकों की राजनीति 124
9. राज्यपाल द्वारा संविधान को चुनौती 136

खंड चार : विकल्प की खोज

10. पूर्वप्राथमिक शिक्षा और बचपन 145
11. आखिर बस क्यों गिरी 153
12. प्रारंभिक शिक्षातंत्र की पुनर्रचना 164

खंड पांच : शिक्षा नीति : विश्लेषण से विकल्प तक

13. शिक्षा नीति का संकट 175
14. नारी शिक्षा नीति : लिंग समता का भ्रम 190
15. बाल अधिकार और शिक्षा नीति के बीच अंतर्द्वंद्व 196

खंड छह : शिक्षा और जन आंदोलन

16. जन आंदोलन में विज्ञान की भूमिका 211
17. प्रारंभिक शिक्षा का लोकव्यापीकरण : वैकल्पिक नीति के चंद आयाम 238
(क) हैदराबाद बाल श्रमिक उन्मूलन परियोजना के नीतिगत निहितार्थ
(ख) महिला सशक्तीकरण और स्कूली शिक्षा
(ग) जन आंदोलन और शैक्षिक परिवर्तन के सरोकार
18. लोकशाला : स्कूली तंत्र में जनहस्तक्षेप का परिप्रेक्ष्य 249

उपसंहार 257

परिशिष्ट : दस्तावेज

1. राष्ट्रीय शिक्षक आयोग से त्यागपत्र (1984) 265
2. किशोर भारती : एक सामाजिक प्रयोग समेटने पर (1991) 271
3. क्या शिक्षा का लोकव्यापीकरण संभव है (1998) 280

भूमिका

आप एक प्रयोग करके देखिए। जहां कहीं भी कुछ लोग इकट्ठे हों—रेलगाड़ी में, ढाबे में, बस स्टैंड पर, पान के टप पर, गांव की चौपाल पर, काफी हाउस में या संसद और विधान सभा के गलियारों में—वहां आप शिक्षा के वर्तमान हालात पर कोई छोटीसी टिप्पणी कर दीजिए। मिर्च-मसाले के लिए उसमें शिक्षकों की गैर-जिम्मेदारी, विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता या राजनेताओं द्वारा दखलंदाजी की बात भी जोड़ दीजिए। यह निश्चित है कि वहां मौजूद सभी लोग पूरे जोशखरोश के साथ शिक्षा पर अपनी-अपनी राय व्यक्त करने लगेंगे। हर व्यक्ति इस लहजे में बोलेगा जैसे कि वह शिक्षा का विशेषज्ञ है और उसके विचार किसी गहरे विश्लेषण या विस्तृत आंकड़ों पर आधारित हैं। किसी को भी यह जरूरत महसूस नहीं होगी कि उस विषय पर ऐतिहासिक अनुभवों का जिक्र किया जाए, किसी अध्ययन का संदर्भ दिया जाए या किसी शोधकर्ता अथवा आयोग की रपट का उल्लेख किया जाए। लेकिन जब उसी जनसमूह में आप ओज़ोन परत में छेद हो जाने से पर्यावरण पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों, लेज़र किरणों से आपरेशन करने अथवा उपग्रहों के जरिए एकत्रित आंकड़ों के सहारे मौसम का पूर्वानुमान लगाने की बात छेड़ दीजिए तो एकदम चुप्पी छा जाएगी। हर व्यक्ति मन ही मन यही सोचेगा कि यह तो गूढ़ तकनीकी विषय है और पूर्वज्ञान के बगैर उस पर कैसे बोला जा सकता है। कोई जरूरी नहीं कि ऐसे विषय विज्ञान और प्रौद्योगिकी के ही हों। संविधान में अल्पसंख्यकों की अवधारणा क्या है, गोंडी भाषा कहां और कैसे विकसित हुई, तटीय क्षेत्र में मछुआरों के जीवन का राजनीतिक अर्थशास्त्र क्या है अथवा मेघालय की खासी जाति में मातृवंशीयता का सांस्कृतिक आधार क्या है, ऐसे मुद्दों पर भी लोग बोलने से हिचकेंगे, चूंकि इनके बारे में भी उन्हें पूर्व-अध्ययन आवश्यक लगेगा।

कुछ ठिकाने और भी हैं जहां लोग अकसर इकट्ठे होते हैं—कुएं की जगत, पोखर का किनारा, हैंड पंप का प्लेटफार्म या धान के खेतों की मेड़। यहां अधिकतर महिलाएं होती हैं। महिलाएं भी शिक्षा पर चर्चा करती हैं लेकिन इनकी चर्चा का सामाजिक-सांस्कृतिक चरित्र एकदम भिन्न होता है। वे एक-दूसरे से पूछती हैं कि उनके बच्चे स्कूल में क्या सीख रहे हैं, बच्चों की पिटाई होती है या नहीं, कौन सा शिक्षक बच्चों को प्यार से पढ़ाता है, बच्चे स्कूल के खाली समय में क्या करते हैं, बच्चों की संगत किस तरह बदल रही है, आदि। उन्हें यह भी चिंता रहती होगी कि उनकी लड़की को स्कूल के रास्ते में लड़के छेड़ते हैं या नहीं और उसने घर के कामों में हाथ बंटाना क्यों बंद कर दिया है। इन गहरे सरोकारों के बावजूद यह सवाल नहीं उठता कि देश की शिक्षा नीति का स्थानीय स्कूल के हालात, शिक्षण माहौल और शिक्षक-बच्चे के रिश्तों से क्या लेना-देना है। अकसर महिलाओं का

बच्चों के खेल-कूद, शिक्षण के तौर-तरीकों आदि प्रश्नों के साथ स्वाभाविक जुड़ाव होता है। यदि इस जुड़ाव में नीति-संबंधी जानकारी और स्कूली तंत्र के हालात से संबंधित आंकड़ों और पाठ्यक्रम निर्माण की प्रक्रिया के बारे में समझ आदि जोड़ने का मौका मिल जाए तो यही महिलाएं तेजी के साथ शैक्षिक परिवर्तन की प्रक्रिया में अपनी उचित भूमिका भी खोज पाएंगी। यही अनुभव देश के विभिन्न हिस्सों में मिला है।

शिक्षा से सरोकार रखने वाले सभी लोगों को इस स्थिति से खुश होना चाहिए चूंकि कम से कम इससे यह तो दिखता ही है कि आम इनसान का शिक्षा से कितना गहरा जुड़ाव है। इसी दिलचस्पी के जरिए उम्मीद बंधती है कि शैक्षिक विमर्श को आगे बढ़ाना मुश्किल नहीं होगा। संभवतः इस संवाद के जरिए शिक्षा के बारे में एक गहरी समझ का आधार भी बन सकेगा, जिसके सहारे शैक्षिक परिवर्तन के पक्ष में जनमानस बनाने का मार्ग प्रशस्त होगा। लेकिन अनुभव बताता है कि शिक्षा का यह विमर्श संभवतः 1906 से लेकर आज तक गुणात्मक रूप से बहुत आगे नहीं जा सका है—1906 में भारतीय कांग्रेस ने शिक्षा का राष्ट्रीय स्वरूप खड़ा करने की जरूरत पर अपना पहला प्रस्ताव पारित किया था। तब से लेकर आज तक दर्जनों समितियों और आयोगों ने शिक्षा पर अपनी तथ्यात्मक रपटें पेश की हैं। इन रपटों के बारे में आम धारणा यह है कि हर समिति या आयोग की रपट लगभग एक ही बात कहती है।

ऐसी धारणा के पीछे दो कारण हो सकते हैं। पहला, आम तौर पर लोग यह नहीं समझ पाते कि राष्ट्रीय स्तर पर संसद द्वारा पारित शिक्षा नीति उनके गांव, कसबे या मोहल्ले के स्कूल पर कैसे असर डालती है और उनके बच्चों के भविष्य को कैसे प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। दूसरा, नीति संबंधी हर दस्तावेज में ऐसे लुभावने शैक्षिक मुहावरों का उपयोग किया जाता है कि वे बातें लोगों को सिर्फ आकर्षक ही नहीं, वरन वाछंनीय भी लगती हैं। इसी वजह से हर नीति आम व्यक्ति को सटीक होने का अहसास देती है। इसलिए अचरज़ नहीं कि देश के आम नागरिक सभी नीतियों को सही मानते हैं और सारी गड़बड़ी क्रियान्वयन के मत्थे मढ़ देते हैं।

ऊपर हमने यह जिक्र किया है कि 1906 से लेकर आज तक शैक्षिक विमर्श गुणात्मक रूप से बहुत आगे नहीं बढ़ पाया। इस बात पर गहराई से विचार करने की जरूरत है। ऐसा कतई नहीं कहा जा सकता कि विगत लगभग नब्बे सालों में शिक्षा के क्षेत्र में कोई नई दिशा देने वाला विचार सामने न आया हो या स्कूली तंत्र को झकझोरने वाला कोई प्रयोग न किया गया हो। समकालीन शैक्षिक इतिहास इस बात का गवाह है कि ऐसे अनेक विचार हमारे सामने आए हैं और ठोस जमीनी प्रयोगों के रूप में स्थापित भी हुए हैं। लेकिन यह भी सच है कि जब-जब ऐसी कोई प्रक्रिया चली तो पूरे दमखम के साथ राजसत्ता एवं सत्ता के साए में फली-फूली ताकतों ने इन परिवर्तनशील विचारों और प्रयोगों को खत्म करने या अपने में समाहित करने हेतु सोचे-समझे कदम उठाए हैं। इसका सबसे सटीक ऐतिहासिक अनुभव महात्मा गांधी द्वारा प्रस्तावित 'नई तालीम' का है। 'नई तालीम' के

तहत यह प्रस्तावित था कि उत्पादक कामों को शिक्षा के केंद्र में रखकर उनके जरिए ज्ञान प्राप्ति एवं ज्ञान सृजन का क्रांतिकारी शिक्षाशास्त्र स्कूली शिक्षा की मुख्यधारा बने। लेकिन आजाद भारत की नई सरकार को शिक्षा का यह सामाजिक चरित्र स्वीकार न था। अतः उसे कभी व्यावसायिक शिक्षा, कभी कार्यानुभव (वर्क एक्सपीरिएंस) और वर्तमान में 'समाजोपयोगी उत्पादक कार्य' (एस.यू.पी.डब्ल्यू.) का रूप देकर हमेशा के लिए निरर्थक बना दिया। गांधी के शैक्षिक दर्शन की हत्या का इससे बेहतर उदाहरण और कोई नहीं हो सकता। राजसत्ता के द्वारा उठाए गए ऐसे सचेत कदमों के पीछे लगातार एक जनविरोधी लेकिन तर्कपूर्ण राजनीति काम करती रही है। इसका उद्देश्य अर्थव्यवस्था के लिए उपयोगी मानस एवं कौशल विकसित करना रहा है, न कि संपूर्ण संभावनायुक्त इनसान का निर्माण करना। इसका स्पष्ट प्रमाण 1835 के मैकाले के प्रतिवेदन में देखा जा सकता है। उपयोगितावाद का यह सूत्र बदलती हुई अर्थव्यवस्था के अनुसार राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1968, 1986, 1992) एवं नब्बे के दशक में विश्व बैंक द्वारा शुरू की गई 'सबके लिए शिक्षा' योजना तथा 'जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम' (डी.पी.ई.पी.) जैसे दस्तावेजों में मैकाले के प्रतिबिंब के रूप में आज भी मौजूद है।[1] इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था और उसके द्वारा पोषित स्कूली तंत्र दोनों की यथास्थिति को बरकरार रखा जाए। इस बिंदु पर राजसत्ता एकदम स्पष्ट है। उसकी दृष्टि में पूरा शिक्षा तंत्र (पूर्व-प्राथमिक स्कूल से लेकर विश्वविद्यालय तक) सामाजिक व्यवस्था की प्रमुख अवधारणाओं एवं संरचनाओं के हूबहू पुनरुत्पादन का प्रमुख साधन है।

उपरोक्त व्याख्या की पृष्ठभूमि में यह समझना मुश्किल नहीं होना चाहिए कि राजसत्ता और सत्तासीन शिक्षाविदों और नौकरशाहों द्वारा शिक्षा में बुनियादी परिवर्तनों, विशेषकर समाज को सशक्त बनाने वाले एवं समतामूलक सुधारों का व्यवस्थित प्रतिरोध क्यों होता रहा है। इसके विपरीत इनसान को अर्थव्यवस्था का उपयोगी कलपुर्जा बनाने वाले हर शैक्षिक प्रस्ताव को तुरंत स्वीकारा गया है, चाहे वह सरकारी आयोगों की अनुशंसाओं द्वारा दिया गया हो या विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा थोपा गया हो। इसी संदर्भ में समझा जा सकता है कि 1985 में केंद्रीय सरकार ने शिक्षा मंत्रालय का नाम बदलकर मानव संसाधन विकास मंत्रालय क्यों कर दिया था। निश्चित ही यह परिवर्तन वैश्वीकरण की अर्थव्यवस्था हेतु शिक्षा को ढालने की पूर्व तैयारी का संकेत था। हमारी दिक्कत राजसत्ता और शिक्षा प्रणाली के इस समाजविरोधी समीकरण को समझने में नहीं है बल्कि यह समझने में है कि राजसत्ता की इस राजनीति के कारण आम जनता के बीच चलने वाला शैक्षिक विमर्श गुणात्मक रूप से आगे क्यों नहीं बढ़ पाता है। यह पुस्तक अन्य सवालों के साथ-साथ इस सवाल का भी उत्तर खोजने एवं उसे आम जनता तक पहुंचाने की प्रेरणा से लिखी गई है।

आजादी के बाद जब शिक्षा में जन-अपेक्षाओं के अनुरूप परिवर्तन नहीं हुए तो धारणा यह भी बनी कि सभी आयोगों और समितियों की अनुशंसाएं तो ठीक ही होती हैं, गड़बड़

केवल उनके क्रियान्वयन में है। शिक्षा पर चलने वाले जनसंवाद पर इस तथ्य का कोई असर नहीं दिखता कि विभिन्न आयोगों और समितियों की रपटों में न केवल गहरे अंतर रहे हैं वरन उनके परिप्रेक्ष्य तथा बुनियादी मान्यताएं भी परस्पर विरोधाभासी रही हैं। इस प्रकार की जनचेतना के अभाव में कोई अचरज नहीं कि शैक्षिक विमर्श अकसर बगैर किसी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, वैचारिक ढांचे एवं वैज्ञानिक तथ्यों के ढुलमुल तरीके से चलता रहता है। इसीलिए इस विमर्श से कोई स्पष्ट दिशा नहीं निकलती और न ही हमारी समझ आगे बढ़ पाती है।

विगत तीन दशकों में मैंने गांवों से लेकर कसबों तक और महानगरों से लेकर राजधानियों तक अनेक जनसमूहों के बीच शिक्षा पर तार्किक संवाद शुरू करवाने और आगे बढ़ाने के अनुभव प्राप्त किए हैं। इन चर्चाओं में दिहाड़ी पर काम करने वाले मजदूरों से लेकर विद्यार्थी, विश्वविद्यालयीन शिक्षक, शैक्षिक नौकरशाह, पत्रकार, समाजकर्मी, उद्योगपति और राजनेता तक सभी शामिल रहे हैं। अकसर ऐसी चर्चा या तो विभिन्न दिशाओं में बंट कर बिखर गई या जानकारी की कमी और गैर-तार्किकता के कारण पूर्वग्रहों को दोहराने में ही सिमट गई। मसलन, बेहतर कैरियर वाली शिक्षा कैसे उपलब्ध हो, किस कोचिंग क्लास के जरिए जे.ई.ई. की परीक्षा पास करवाई जाए या किस स्कूल के विद्यार्थी 'मेरिट' की सूची में अधिक आते हैं, जैसे मध्यमवर्गीय सरोकारों के आगे बात नहीं बढ़ पाई। यदि समतामूलक गुणवत्ता की शिक्षा देने वाली कोठारी शिक्षा आयोग द्वारा अनुशंसित 'समान स्कूल प्रणाली' और 'पड़ोसी स्कूल' की अवधारणा स्थापित करने का सवाल उठा तो इसे गैर-व्यावहारिक की संज्ञा देकर टाल दिया गया। इसी प्रकार यदि प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर मातृभाषा के जरिए बच्चों के लिए ज्ञान और अभिव्यक्ति को सहज सुलभ बनाने का प्रस्ताव सामने आया तो अंग्रेजी के वर्चस्व वाले विश्व ज्ञान की दौड़ में भारत के पिछड़ जाने का डर दिखाकर विमर्श बंद कर दिया गया। बस्ते का बोझ हल्का करने का प्रस्ताव देने वाली यशपाल समिति की रपट (1993) भी इसी सोच का शिकार हुई। अभिजात तबके को यह स्पष्ट खतरा दिख गया कि बस्ते का बोझ हल्का करने की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने से शिक्षा गरीब बच्चों की पहुंच के दायरे में आ जाएगी और देश की अर्थव्यवस्था पर अभिजात वर्चस्व खत्म हो जाएगा (देखिए, खंड तीन, अध्याय 7)।

उक्त विमर्श में आम मान्यता यह रही है कि वर्तमान शिक्षा की मुख्य धारा का सामाजिक चरित्र सभी प्रश्नों के परे है, यानी पाठ्यक्रम, सीखने-सिखाने (अधिगम) की प्रक्रिया एवं मूल्यांकन के मापदंडों के संबंध में न तो संशय की कोई गुंजाइश है और न ही 'मेरिट', प्रतिभा या परीक्षा प्रणाली जैसी स्थापित अवधारणाओं में किसी मौलिक परिवर्तन की जरूरत है। यदि कोई विद्यार्थी इस प्रणाली में पिछड़ जाता है या असफल घोषित कर दिया जाता है और अंततः निराश और कुंठित होकर स्कूल छोड़ने (सरकारी शब्दावली में 'ड्राप आउट' होने) के लिए मजबूर हो जाता है तो सारी गड़बड़ विद्यार्थी में है, न कि शिक्षा प्रणाली में। सब यही मानकर चलते हैं कि विद्यार्थी को शिक्षा के पूर्व-निर्धारित सांचे

में फिट होना है, यानी शिक्षा प्रणाली में विद्यार्थियों के अनुकूल विविधतापूर्ण प्रावधान बनाने की कोई जरूरत नहीं है। कुल मिलाकर राजसत्ता द्वारा पोषित शिक्षा प्रणाली की बुनियादी मान्यताओं और उसके विभिन्न ढांचों की वैधता को व्यापक रूप से बिना कोई प्रश्नचिन्ह लगाए स्वीकारा जा चुका है। यही कारण है कि पूरे स्कूली तंत्र (न कि केवल इक्का-दुक्का स्कूल) को बदलने के नए रास्ते खोजने और उसके लिए व्यवस्थित रूप से कुछ ठोस काम या मुद्दे उठाने की हर कोशिश इसी अटकाव में उलझती रही है। यदि बात थोड़ी आगे बढ़ी भी है तो अंततः एकाध अच्छे स्कूल शुरू करने या कोई नया प्रयोग आयोजित करने के सुझावों पर आकर टिक जाती है। दरअसल, शिक्षा प्रणाली की विकृतियों एवं विरोधाभासों के मूल कारणों को जानने-समझने और प्रणालीगत परिवर्तन के जरिए पूरे स्कूली तंत्र की गुणवत्ता सुधारने का कोई भी कदम उठाने की तैयारी न तो आम लोगों में दिखी और न ही स्वयंसेवी समूहों या जन आंदोलनों में।

ऐसे अनुभव शिक्षाविदों के परिसंवादों और विशेषज्ञों की समितियों और आयोगों की बैठकों में भी हुए हैं। शिक्षा के बारे में यदि कोई विशेषज्ञ या वैज्ञानिक भी बात करता है तो उसकी प्रवृत्ति जल्द ही तर्क को छोड़कर मूल प्रश्नों से कतराने और अपने दिमागी अटकावों तथा निराधार धारणाओं में उलझ जाने की रहती है। उस समय आप कितने ही तथ्यों, आंकड़ों, ऐतिहासिक अनुभवों या पूर्व-अध्ययनों का संदर्भ क्यों न दीजिए, उस विशेषज्ञ को उसके पूर्वग्रहों और धारणाओं के जाल से बाहर निकालना टेढ़ी खीर हो जाता है। राष्ट्रीय शिक्षक आयोग (1983-84) की बैठकों में आयोग के सदस्य के रूप में मेरे भी अनुभव ऐसे ही रहे हैं। जब इन बैठकों की चर्चा को तर्क-आधारित, प्रामाणिक अथवा समाजोन्मुख बनाने की सभी कोशिशें विफल हो गईं तब विरोधस्वरूप मुझे आयोग से अपना त्यागपत्र देना पड़ा (देखिए परिशिष्ट, दस्तावेज क्रमांक एक)। इस त्यागपत्र के बाद दो प्रकार की प्रतिक्रियाएं सामने आईं। अखबार वालों ने इसे एक बार खबर के रूप में छाप दिया तो उनकी दिलचस्पी की इतिश्री हो गई। न तो संपादकीय निकले और न ही कोई अग्रलेख। यहां तक कि सरकार और आयोग ने भी कोई जिज्ञासा नहीं दिखाई। दूसरी प्रतिक्रिया आम लोगों की थी, विशेषकर शिक्षकों, पढ़े-लिखे युवाओं और विद्यार्थी संगठनों की। इन लोगों को बहुत दुःख हुआ कि अब उनकी बात को नीति निर्माण के शीर्षस्थ स्तर पर रखने की गुंजाइश खत्म हो गई है। इसीलिए 1990 में जब मुझे आचार्य राममूर्ति समिति (राष्ट्रीय शिक्षा नीति समीक्षा समिति) का सदस्य बनाया गया तो दर्जनों लोगों ने मुझसे यह अपील की कि अब आप किसी भी हालत में त्यागपत्र नहीं देंगे और चाहे कितनी ही बाधाएं क्यों न आएं, आप अंतिम समय तक जूझते रहेंगे। इन लोगों ने यह भी कहा कि यदि आपके विचार अल्पमत में आ जाते हैं तो आप अपनी असहमति चाहे दर्ज करा दें लेकिन समिति में टिके रहिए ताकि भविष्य में लोग यह तो जान पाएं कि आखिर मतभेद के आधार क्या थे।

इस समिति (आचार्य राममूर्ति समिति) में एक बार फिर अपेक्षित अनुभव हुए।

उदाहरणार्थ, नवोदय विद्यालय के मुद्दे पर तार्किक प्रक्रिया की जल्दी ही सीमा आ गई—बच्चों में प्रतिभा के मायने क्या होंगे, प्रतिभा की पहचान क्या और कैसे होगी, 'प्रतिभाशाली' बच्चों को तथाकथित 'प्रतिभाहीन' बच्चों से अलग करके विशेष प्रकार की संस्थाओं में पढ़ाने के पूर्व अनुभव क्या हैं, क्या नवोदय जैसा स्कूल आम सरकारी प्राथमिक एवं मिडिल स्कूलों के लिए प्रेरणादायक मिसाल बन सकता है, आदि प्रश्नों पर समिति के अधिकांश सदस्यों की बातचीत करने की तैयारी ही नहीं दिखी। प्रतिभा के बारे में पूर्व से स्थापित अभिजात सोच सारी चर्चा पर हावी रहा। 'चलो, कुछ तो अच्छा हो रहा है', ऐसा कहकर वरिष्ठ वैज्ञानिकों और विश्वविद्यालयों के कुलपतियों ने इस मुद्दे की इतिश्री कर दी। अंततः समिति के 17 सदस्य इस मुद्दे पर तीन हिस्सों में बंट गए और संसद में प्रस्तुत इस रपट में ये तीनों मत समिति के अनिर्णय के प्रमाणस्वरूप दर्ज हुए।

इन तमाम अनुभवों के आधार पर मैंने जनमानस के साथ-साथ बुद्धिजीवियों, राजनेताओं और शैक्षिक नौकरशाही में समान रूप से व्याप्त छह प्रकार के भ्रम पहचाने हैं जो इस प्रकार हैं :

1. सामाजिक-आर्थिक कारकों में परिवर्तन लाए बगैर शिक्षा में परिवर्तन संभव है। इस भ्रम के पीछे मान्यता है कि शिक्षा, सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का एक अवयव नहीं है और इनके बीच के संबंध को दरकिनार करके भी शिक्षा में परिवर्तन की बात की जा सकती है।
2. शिक्षा में 'राजनीति' नहीं लानी चाहिए और इसे एक गैर-राजनीतिक मुद्दे के रूप में स्वीकारने की जरूरत है।
3. नीतियां तो हमेशा जनकल्याण के उद्देश्य से ही बनती हैं और कम से कम उनका कागजी स्वरूप तो सही होता है। गड़बड़ केवल उनके क्रियान्वयन में होती है।
4. भारत के विकास एवं अखंडता को सुनिश्चित करने के लिए जरूरी है कि पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तकें, शिक्षण पद्धति और परीक्षा प्रणाली का राष्ट्रव्यापी मानकीकरण हो एवं उसके एकरूपी स्वरूप को पूरे देश में स्थापित किया जाए। भारत की भू-सांस्कृतिक विविधता का शिक्षा के इन निर्धारक पहलुओं पर कोई ठोस असर पड़ना न तो संभव है और न ही वांछनीय। शिक्षा में वैविध्य लाने से राष्ट्रीय एकता खतरे में पड़ जाएगी; एकरूपता के सहारे ही देश को अखंड रखा जा सकता है। इस उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए केंद्रीकृत संस्थाओं और उनमें कार्यरत विशेषज्ञों का वर्चस्व प्राथमिकता बतौर बढ़ाना होगा।
5. औपचारिक स्कूली तंत्र के बुनियादी स्वरूप—यानी पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तक, परीक्षा प्रणाली और मूल्यांकन के मापदंडों—में परिवर्तन लाने में स्वैच्छिक संस्थाओं, स्थानीय निकायों या जन समुदायों की कोई निर्णायक भूमिका नहीं हो सकती। इनकी भूमिका चंद नवाचारों या प्रयोगों को करने या अधिक से अधिक सरकार द्वारा तयशुदा एजेंडे को क्रियान्वित करने तक ही सीमित रहनी चाहिए।

6. स्कूल या विश्वविद्यालय में ज्ञान प्राप्त करने का अर्थ यही है कि विद्यार्थी पूर्व-निर्धारित पाठ्यपुस्तकों अथवा पाठ्य सामग्री से जानकारी संकलित तथा कंठस्थ करे और परीक्षा के वक्त पूछे गए प्रश्नों के दायरे में उसे उगल दे। जो विद्यार्थी इस प्रक्रिया को जितना बेहतर कर सकता है उसे उतने ही अच्छे अंक मिलने चाहिए। यानी, जानकारी को परीक्षा हेतु प्राप्त करना और फिर प्रस्तुत करना ही ज्ञान का पर्याय है। यह आवश्यक नहीं है कि जानकारी के फलस्वरूप अवधारणाओं की समझ बने अथवा किसी समस्या का समाधान खोजने की क्षमता विकसित हो। इसीलिए पाठ्यपुस्तकों के बाहर के तमाम जन-जीवन और अनुभवों को औपचारिक शिक्षा में निहित ज्ञान के दायरे से बाहर रखा गया है।

उपरोक्त छठे एवं अंतिम भ्रम को पढ़े-लिखे समाज में व्यापक रूप से आत्मसात किया जा चुका है। इस भ्रम के साथ दो महत्वपूर्ण मुद्दे भी जुड़े हुए हैं। पहला, किताबी ज्ञान को शिक्षा का पर्याय मान लिया गया है। अतः औपचारिक शिक्षा में शिक्षा की समग्रता के लिए कोई स्थान नहीं बचा है। यानी, शिक्षा के तीनों आयामों[2] में से केवल संज्ञानात्मक आयाम के लिए औपचारिक शिक्षा में स्थान है, भावात्मक और कौशलात्मक विकास का महत्व केवल प्रतीकात्मक ही रह गया है। जहां तक संज्ञानात्मक पक्ष का सवाल है, वहां भी औपचारिक शिक्षा का नजरिया बेहद संकीर्ण है। संज्ञानात्मक पक्ष में जिज्ञासा, तार्किक चिंतन, विश्लेषण क्षमता, जानकारी का संकलन एवं पुनर्गठन, दार्शनिक, ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक बोध, प्रयोगधर्मिता एवं सृजनशीलता जैसी अनेक बौद्धिक प्रक्रियाएं शामिल हैं। इन सबकी उपेक्षा करके औपचारिक शिक्षा में जानकारी को कंठस्थ करना ही संज्ञानात्मक पक्ष का पर्याय बन गया है। यही कारण है कि संज्ञानात्मक पक्ष की कई बौद्धिक प्रक्रियाओं एवं विद्यार्थियों के मूल्यों और कौशलों के विकास से संबंधित तमाम गतिविधियों को स्कूल में सह-पाठ्यक्रमीय गतिविधियों की संज्ञा देकर पाठ्यक्रम के हाशिए पर रख दिया जाता है। इस अधकचरी समझ का ही परिणाम है कि परीक्षा प्रणाली एवं उसमें निहित मूल्यांकन के मापदंडों का प्रमुखतम सरोकार जानकारी संकलन एवं कंठस्थ करने की प्रक्रिया मात्र में सिमट गया है। औपचारिक शिक्षा की यह व्याख्या एक बार फिर स्पष्ट करती है कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली क्यों न तो संपूर्ण इनसान गढ़ने का जरिया बन सकती है और न ही यथास्थिति में परिवर्तन के उत्प्रेरण का। इस विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि शैक्षिक परिवर्तन की कोई भी पहलकदमी तब तक अर्थहीन है जब तक कि शिक्षा के उद्देश्यों को पुनर्परिभाषित करने का सवाल साथ-साथ नहीं उठाया जाता। इसी क्रम में जब उद्देश्यों की समझ बदलेगी तो परीक्षा प्रणाली और मूल्यांकन के मापदंड बदलना अपने आप प्राथमिक मुद्दा बन जाएगा।

छठे भ्रम से जुड़ा हुआ दूसरा मुद्दा शिक्षा में उत्पादक काम की भूमिका एवं शिक्षा-समाज के परस्पर रिश्ते का है। यह प्रश्न वही है जो गांधीजी ने 'नई तालीम' के संदर्भ में उठाया था। यानी, शिक्षा में 'काम की दुनिया' का 'ज्ञान की दुनिया' के साथ क्या रिश्ता हो?

यहां काम के मायने व्यवसाय या रोजगार मात्र से नहीं है। शिक्षा की इस अवधारणा में काम को ज्ञान प्राप्ति एवं ज्ञान सृजन का जरिया माना गया है। इस दृष्टि से शिक्षा में ज्ञान की परिभाषा ही बदल जाती है और यह प्रश्न ज्ञानमीमांसा (एपिस्टामोलॉजी)[3] का बन जाता है। हालांकि इस प्रश्न की पूरी व्याख्या करना यहां संभव नहीं है, लेकिन इतना संकेत देना पर्याप्त होगा कि भारतीय संदर्भ में स्कूली एवं विश्वविद्यालयीन शिक्षा में ज्ञान की अवधारणा उसकी ऐतिहासिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जड़ों से कटी हुई है। इसीलिए प्राकृतिक विज्ञान और सामाजिक विज्ञान दोनों क्षेत्रों में ज्ञान का प्रमुख स्रोत बाहर से आयातित ज्ञान बन गया है और देशज ज्ञान से पूर्णतः कट गया है। यदि औपचारिक शिक्षा में 'काम की दुनिया' को 'ज्ञान की दुनिया' के साथ जोड़ने की प्रक्रिया ईमानदारी के साथ चलाई जाती है तो आयातित ज्ञान और देशज ज्ञान के बीच समकालीन संदर्भ में नए सिरे से समन्वय करना न केवल संभव हो जाएगा, वरन लाजिमी भी बन जाएगा। नई तालीम की अवधारणा ने भारत की शिक्षा को ज्ञानमीमांसा की एक चुनौती दी थी। शायद इसी खतरे को पहचान कर राजसत्ता ने उसे शैक्षिक विमर्श के दायरे से बाहर कर दिया था।

भ्रम तो और भी हो सकते हैं लेकिन इस पुस्तक में जिन आलेखों का संकलन प्रस्तुत किया जा रहा है उनके जरिए इन भ्रमों को तोड़ने या कम से कम उन पर सटीक सवाल खड़ा करने की एक व्यवस्थित कोशिश की गई है। मेरी राय में शिक्षा तंत्र में किसी भी रचनात्मक परिवर्तन की शुरुआत तब तक नहीं हो सकती जब तक कि उसको व्यापक जनसमर्थन न मिले और जनसमर्थन तभी मिलेगा जब जन-विमर्श को एक स्पष्ट दिशा में आगे बढ़ाया जाएगा। लेकिन इस प्रकार के भ्रमों के चलते शैक्षिक विमर्श बार-बार उलझता रहता है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है चूंकि भ्रम तभी टूटते हैं जब उनके बारे में कोई तथ्यात्मक जानकारी उपलब्ध हो, विश्लेषणात्मक अध्ययन व्यापक रूप से पढ़े जा सकें और भावी विकल्पों की जांच-पड़ताल करने के लिए एक तार्किक ढांचा तथा परिप्रेक्ष्य सामने हो। मेरा यह प्रयास रहा है कि ऐसी सामग्री सरल भाषा में उपलब्ध कराई जाए जो जन-विमर्श को एक विश्लेषणात्मक आधार दे सके।

इन लेखों को किसी तिथिक्रम में नहीं रखा गया है लेकिन मुद्दों और विचारों के आधार पर उनको छह अलग-अलग खंडों में बांटा है। पहले खंड के पहले अध्याय में, मेरे और तत्कालीन साथियों द्वारा सत्तर के दशक में मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले के सरकारी स्कूली तंत्र के साथ काम करने के अनुभवों का विवरण है। दो स्वयंसेवी संस्थाओं (मित्र मंडल केंद्र रसूलिया एवं किशोर भारती) के संयुक्त मंच से औपचारिक स्कूली तंत्र में विज्ञान शिक्षण को प्रयोग एवं गतिविधि-आधारित बनाने का यह एक ऐतिहासिक हस्तक्षेप था जो कालांतर में 'होविशिका' (होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम) के नाम से जाना गया। इस हस्तक्षेप ने यह सिद्ध कर दिया कि स्कूली तंत्र की जड़ता को सामाजिक प्रक्रिया के जरिए चुनौती देना संभव है। लेकिन इस चुनौती की सीमाओं को पहचाने बगैर आगे बढ़ने

की कोई भी भावी कोशिश दिशाहीन हो सकती है। उम्मीद है कि दूसरे और तीसरे अध्यायों की आत्म-विश्लेषणात्मक प्रस्तुतियों से अन्य स्वैच्छिक संस्थाओं तथा जनसमूहों को स्कूली तंत्र में परिवर्तन लाने की संभावनाएं और सीमाएं दोनों दिखेंगी एवं साथ ही कारगर रणनीति तय करने का एक वस्तुनिष्ठ आधार भी मिल पाएगा।

दूसरे खंड में, प्रौढ़ साक्षरता कार्यक्रम की मिसाल लेकर यह स्पष्ट करने की कोशिश की गई है कि शिक्षा नीति में भी विकृति हो सकती है जिसके कारण प्राथमिकताएं बुनियादी रूप से गड्ड-मड्ड हो जाती हैं। यहां जानबूझ कर साक्षरता कार्यक्रम का मूल्यांकन उसके क्रियान्वयन के आधार पर नहीं किया गया है। मेरा मानना है कि साक्षरता, शिक्षा का स्वाभाविक परिणाम है—यह अपने आप में किसी समाज का उद्देश्य नहीं हो सकता। अतः प्रौढ़ साक्षरता का हर कार्यक्रम—चाहे वह सक्षमता से क्रियान्वित हो या ढुलमुल तरीके से—हमको भारतीय शिक्षा की सर्वोच्च प्राथमिकता से, यानी प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण के राजनीतिक सरोकार से दूर ले जाता है। विशेषकर भारतीय परिस्थिति में, जहां गरीब बच्चों की शिक्षा के सवाल को कभी भी राजनीतिक इच्छाशक्ति का लाभ नहीं मिल सका, वहां इस उपेक्षा के फलस्वरूप उभरी निरक्षरता के निदान के रूप में सरकार ने प्रौढ़ साक्षरता कार्यक्रम पेश किया है। अतः प्रौढ़ साक्षरता कार्यक्रम को शिक्षा नीति में एक विकृति के रूप में ही देखने की जरूरत है।

तीसरे खंड में, ऐसे लेख शामिल किए गए हैं जो शिक्षा और राजनीति के अभिन्न रिश्तों के प्रमाण और आधार प्रस्तुत करते हुए यह भी स्पष्ट करते हैं कि शिक्षा को गैर-राजनीतिक मुद्दा मानना या तो मासूमियत है या स्वयं ही एक विशिष्ट प्रकार की राजनीति। इस खंड का पहला लेख 'बस्ते के बोझ' जैसे पाठ्यक्रम संबंधी प्रश्न के पीछे निहित राजनीति की व्याख्या करता है। इसमें विश्लेषण पेश किया गया है कि राजनीति किस प्रकार अभिजात एवं मध्यम वर्ग के बच्चों को समाज में आगे बढ़ने के लिए समर्थन देती है और किस प्रकार गरीब बच्चों को शिक्षा से वंचित रखकर उनकी गरीबी को बरकरार रखती है। दूसरे लेख में, स्कूल के पाठ्यक्रम को एक राजनीतिक दल विशेष की संकीर्ण विचारधारा का औजार बनाने के प्रयास का विवरण पेश किया गया है। इस लेख से यह भी पता चलता है कि यह कोई पहला ऐसा प्रयास नहीं है, बल्कि जिस भी राजनीतिक दल का शासन रहा है उसने अपनी विचारधारा या अपने निहित स्वार्थों के अनुरूप पाठ्यक्रम को तोड़ने-मोड़ने की कोशिश की है। तीसरे लेख में, दिखाया गया है कि नई आर्थिक नीति के दौर में संविधान की शपथ लेने वाले एक राज्यपाल महोदय किस प्रकार संविधान में निर्देशित गरीब बच्चों की शिक्षा के सवाल को दरकिनार करते हैं।

चौथे खंड में, शिक्षा नीति के कुछ मुद्दों का इस प्रकार विश्लेषण किया गया है कि एक वैकल्पिक नीति का खाका दिखने लगे। पहले लेख में, पूर्व-प्राथमिक शिक्षा का वर्तमान स्वरूप किस प्रकार बच्चों के विकास के बुनियादी सिद्धांतों का उल्लंघन करता है, इसकी व्याख्या की गई है। यह दरशाया गया है कि ऐसी परिपाटी के चलते देश के बच्चों का

बचपन खतरे में है। दूसरे लेख में, नवंबर 1997 में दिल्ली शहर में यमुना नदी को पार करती हुई बच्चों की बस के नदी में गिर जाने की त्रासदी को एक नीतिगत संकट के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह विश्लेषण दिखाता है कि यह हादसा कोठारी शिक्षा आयोग की सिफारिशों से उभरी 'समान स्कूल व्यवस्था' एवं 'पड़ोसी स्कूल' की अवधारणा को दरकिनार करने की नीति का नतीजा है। तीसरे लेख में, यह सवाल उठाया है कि स्कूली तंत्र के विकेंद्रीकरण और उसमें जन सहभागिता बढ़ाने की बार-बार की गई सिफारिशों के बावज़ूद केंद्रीकरण क्यों बढ़ता जा रहा है। लेख के अंत में विकेंद्रित स्कूली तंत्र और उस पर स्थानीय जन समुदाय के नियंत्रण को एक विकल्प के रूप में इंगित किया गया है। उम्मीद यह है कि इस खंड में जिस तरीके से और जिस परिप्रेक्ष्य में नीति-संबंधी तीन मुद्दों की व्याख्या की गई है उससे वर्तमान शिक्षा प्रणाली का विकल्प खोजने की दिशा उभरने लगेगी।

भारत में शिक्षा प्रणाली के भविष्य की दृष्टि से शायद पांचवें खंड को इस पुस्तक के सबसे महत्वपूर्ण अंश के रूप में देखने की जरूरत है। वैसे तो पिछले चार खंडों में भी शिक्षा की बदहाली को एक नीतिगत संकट के रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश रही है। लेकिन इस खंड में नीति के विश्लेषण की एक पद्धति और आवश्यक परिप्रेक्ष्य को स्थापित करने की जरूरत पर जोर दिया गया है। पहले लेख में शिक्षा के विभिन्न मुद्दों को उदाहरण के रूप में लेकर उनसे संबंधित नीति में निहित मान्यताओं और आंतरिक विरोधाभासों का विश्लेषण पेश किया गया है। इस लेख को शिक्षा नीति को समझने और उसका विकल्प विकसित करने की एक पद्धति के रूप में देखा जा सकता है। दूसरे लेख में, 1986 की शिक्षा नीति में 'महिलाओं की समानता हेतु शिक्षा' वाले वक्तव्य का विस्तृत विश्लेषण पेश करके एक बार फिर नीति विश्लेषण की पद्धति और परिप्रेक्ष्य के महत्व को रेखांकित किया है। तीसरे लेख का संदर्भ बाल अधिकारों के मुद्दे पर संयुक्त राष्ट्र के तत्वाधान में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय सहमति-पत्र है, जिस पर भारत सरकार ने 1992 में दस्तखत किए थे। अगले दो वर्षों में इस मुद्दे पर भारत सरकार ने जिस प्रकार काम किया उसको इस लेख में नीति विश्लेषण के आइने में देखने की कोशिश की गई है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकार की नीति बाल अधिकारों को सुनिश्चित करने की नहीं, वरन व्यवस्थित रूप से उनका हनन करने की थी। यह खंड यदि इस बात को स्थापित कर पाता है कि शिक्षा नीति को जन आंदोलन का एक प्रमुख मुद्दा बनाने के अलावा अब अन्य कोई रास्ता नहीं बचा है, तो इसे इस खंड के उद्देश्य की पूर्ति समझा जाएगा।

खंड छह में, शिक्षा और जन आंदोलन के बीच के रिश्ते को परिभाषित करने और वर्तमान शिक्षा नीति के विकल्प को सैद्धांतिक स्तर पर स्थापित करने का प्रयास किया गया है। इस खंड के पहले आलेख में सामाजिक प्रयोगों एवं आंदोलनों के विभिन्न अनुभवों के सहारे स्पष्ट किया गया है कि वैज्ञानिक दृष्टि तथा सामाजिक प्रक्रिया एक-दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। इस विश्लेषण से जनविज्ञान आंदोलन की मर्यादाओं और

संभावनाओं को समझने में मदद मिलती है। अगले आलेख में प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण के संदर्भ में तीन अलग-अलग शैक्षिक आयामों के संदर्भ में वैकल्पिक नीति का खाका उभारने की कोशिश की गई है। इसमें सबसे पहले बाल मजदूरी उन्मूलन की दृष्टि से शुरू किए गए एक प्रयोग से उपजे वैकल्पिक विचारों को पेश किया है। अगला मुद्दा लिंग भेद समाप्त करने हेतु आयोजित महिला सशक्तीकरण की प्रक्रिया में शिक्षाशास्त्रीय तत्वों को जोड़ने का है। तीसरा मुद्दा उन सरोकारों से संबंधित है जो शिक्षा आंदोलन से उजागर हुए हैं और वर्तमान प्रणाली में निहित ज्ञान के चरित्र को चुनौती देते हैं। इस खंड के आखिरी आलेख में शिक्षा के संदर्भ में एक वैकल्पिक परिप्रेक्ष्य तलाशने की कोशिश की है। चूंकि इस प्ररिप्रेक्ष्य के सभी प्रमुख तत्व वर्तमान शिक्षा नीति के विश्लेषण से उभरे हैं, अतः इस आलेख को वर्तमान और भावी नीति के बीच की एक कड़ी के रूप में देखने की जरूरत है।

परिशिष्ट में दिए गए तीनों दस्तावेजों के सहारे उन शैक्षिक धारणाओं का स्रोत समझने में मदद मिलेगी जिनसे यह पुस्तक प्रभावित है। पहला दस्तावेज 1983-84 में गठित राष्ट्रीय शिक्षक आयोग (चट्टोपाध्याय आयोग) से दिए गए मेरे त्यागपत्र का है। यह दस्तावेज स्थापित करता है कि इस आयोग की आंतरिक प्रक्रियाएं इतनी गैर-वैज्ञानिक और जनविरोधी थीं कि उनसे निकलने वाली सिफारिशों का बुनियादी सामाजिक चरित्र उपरोक्त प्रक्रियाओं के चरित्र से भिन्न नहीं हो सकता था। यानी जब तक आयोगों और समितियों एवं उनकी आंतरिक प्रक्रियाओं का सामाजिक चरित्र नहीं बदलेगा तब तक जनता के पक्ष में काम करने वाली नीतियां भी नहीं बन सकेंगी। दूसरा दस्तावेज मेरे जीवन के अति महत्वपूर्ण चरण—मध्य प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों में बीस वर्षों के शैक्षिक प्रयोग—से संबंधित है। इस प्रयोग में शामिल सभी लोगों ने, चाहे वे मध्यम वर्गीय समाजकर्मी हों या गांव के गरीब मजदूर-किसान, कई नए सबक सीखे हैं और वर्तमान स्कूली तंत्र में सामाजिक हस्तक्षेप की सशक्त मिसाल पेश की है। इसके बावजूद इस प्रयोग को एक लंबी बहस के बाद समेटा गया। इस निर्णय की पृष्ठभूमि क्या थी और इससे स्वैच्छिक कार्यक्षेत्र के बारे में क्या सवाल उठे हैं, इनका संक्षिप्त ब्योरा इस दस्तावेज में है। तीसरा दस्तावेज, मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री तथा मेरे बीच प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण के मुद्दे पर हुए संवाद को प्रस्तुत करता है। इससे स्पष्ट होता है कि राजनेता की दृष्टि और समाज की शैक्षिक जरूरतों एवं नजरिए के बीच कितनी बड़ी खाई है।

दो दशकों के जमीनी अनुभवों और अनेक संघर्षों के बाद 1991 में 'किशोर भारती' का प्रयोग समेटने पर मेरे जीवन में एक महत्वपूर्ण मोड़ आया। मध्य प्रदेश के इस प्रयोग में हमारी यह मान्यता थी कि शिक्षा में परिवर्तन से सामाजिक परिवर्तन लाया जा सकता है। अपने मूल स्वरूप में शैक्षिक परिवर्तन की हमारी कल्पना महात्मा गांधी के 'नई तालीम' के दर्शन पर आधारित एक संस्था स्थापित करने की थी। इस मूल कल्पना में न तो 'होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम' शामिल था और न ही स्वास्थ्य, पर्यावरण, मजदूर

संगठन, मध्यवर्गीय युवा संगठन, पुस्तकालय आदि से संबंधित अन्यान्य आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रयोग थे। किशोर भारती के वैचारिक विकासक्रम में अस्सी के दशक में नारीवाद से जुड़े हुए मुद्दों ने एक प्रमुख स्थान लिया—यह विचार भी मूल कल्पना का अंग नहीं था। आज जब हम किशोर भारती की सामाजिक परिवर्तन की मूल दृष्टि की ओर मुड़कर देखते हैं तो वह एक अति सरलीकृत एवं रोमांटिक रूप में दिखती है। इस मायने में हमारा सत्तर के दशक की शुरुआत वाला मूल नजरिया, जो अधिकांश ईमानदार स्वैच्छिक समूहों का आज भी है, उसे रोमांटिक चाहे कह लीजिए लेकिन उसे सामाजिक असलियत से जूझने वाला और समस्याओं को जड़ से हल करवाने वाला नहीं माना जा सकता। इस रोमांटिक सोच से बाहर निकलने में मुझे तीन अनुभवों से मदद मिली, वे इस प्रकार हैं:

(क) राष्ट्रीय शिक्षक आयोग (1983-84) में मेरी भागीदारी और उसके परिप्रेक्ष्य एवं काम करने के तौर-तरीकों के विरोध में त्यागपत्र।
(ख) भोपाल गैस कांड के जन आंदोलन में भागीदारी (1984-86) जिसके जरिए गैस पीड़ितों के इलाज-पुनर्वास के वैज्ञानिक और राजनीतिक पक्षों को जनसंघर्ष का प्रश्न बनाना संभव हुआ और साथ-साथ बहुराष्ट्रीय पूंजी पर आधारित प्रौद्योगिकी के जनविरोधी आयामों को उभारा जा सका।
(ग) 1980-81 में जन्मे ग्राम पलिया पिपरिया (बनखेड़ी विकास खंड, जिला होशंगाबाद) के मजदूर संगठन के साथ अस्सी के दशक के दौरान जमीन के बंटवारे, दिहाड़ी और रोजगार के प्रश्नों पर चले संघर्षों में मेरे शैक्षिक और राजनीतिक अनुभव।

उपरोक्त में से हर अनुभव ने मुझे स्थानीय सामाजिक यथार्थ को राजनीतिक मुद्दों से जोड़कर व्यापक दुनिया को समझने के लिए प्रेरित किया। जब मुझे 1990 में गठित राष्ट्रीय शिक्षा नीति समीक्षा समिति (आचार्य राममूर्ति समिति) में हिस्सेदारी का मौका मिला तो अपने आप एक तार्किक कड़ी के रूप में गांव के जमीनी अनुभव राष्ट्रीय स्तर पर चलने वाली शिक्षा की राजनीति से न केवल जुड़ते चले गए वरन उस राजनीति की जटिलता को समझने-बूझने का आधार भी बनने लगे। इस सत्रह-सदस्यीय समिति में जहां अकसर मैंने अपने को एक किनारे पर अकेला खड़ा पाया, वहीं इस जमीनी समझ ने मुझे समिति पर हावी राजसत्ता के विचारों से जूझने की ताकत भी दी। जनविज्ञान के सघन अनुभव ने मुझे उस वैज्ञानिक पद्धति से लैस किया जिसके सहारे उन औपनिवेशिक एवं अभिजात शैक्षिक अवधारणाओं को चुनौती देना संभव हुआ जिनका शिक्षा नीति पर वर्चस्व रहा है। इस आंतरिक संघर्ष के परिणामस्वरूप आचार्य राममूर्ति समिति की रपट अनेक मुद्दों पर वैकल्पिक नीति प्रस्तुत करने और सरकार की विभिन्न शैक्षिक अवधारणाओं के विरोधाभासों को उभारने में सफल हुई। यह रपट 1991 की शुरुआत में संसद के पटल पर रखी गई। यह दीगर बात है कि शिक्षा नीति में इस प्रकार के बुनियादी परिवर्तन की तैयारी न तो उस सरकार की थी जिसने इस समीक्षा समिति का गठन किया था और

न ही आने वाली किसी सरकार की। अतः अगली सरकार ने तुरंत जनार्दन रेड्डी समिति गठित करके 1993 में जारी की गई उसकी रपट के माध्यम से आचार्य राममूर्ति समिति की लगभग सभी अनुशंसाओं को निरस्त करवा दिया। इस प्रक्रिया के कारण सरकार नीति में समतामूलक एवं बाल केंद्रित परिवर्तनों को रोकने में अवश्य सफल हो गई। लेकिन इस अनुभव ने मुझे मैकाले से लेकर आज तक चल रही शिक्षा प्रणाली के जनविरोधी स्वरूप को बरकरार रखने वाली ताकतों को समझने हेतु प्रेरित किया।

सामाजिक परिवर्तन की राह में नकारात्मकता, संशय और हताशा के लिए कोई स्थान नहीं है। हर संघर्ष में से जीवन के लिए नए मायने निकलने ही चाहिए। इसी समझ के कारण मैंने 1991-93 के दौरान एक नई चुनौती स्वीकारी—मध्य प्रदेश के दक्षिण-पूर्वी अंचल में शंकर गुहा नियोगी के नेतृत्व में चले मजदूर-किसान आंदोलन का अध्ययन करने की। किशोर भारती में काम करते हुए मुझे दल्ली-राजहरा के खदान मजदूरों और भिलाई के औद्योगिक मजदूरों के हालात एवं छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा के संघर्षों का कई बार वहां जाकर प्रत्यक्ष अनुभव करने का मौका मिला था। लेकिन इसके बावजूद इस आंदोलन के ऐतिहासिक निहितार्थ को गहराई से पकड़ना संभव नहीं हो पाया था। किशोर भारती का प्रयोग ऐसे वक्त पर समेटा गया जब मेरी पूरी मानसिक तैयारी थी छत्तीसगढ़ के आंदोलन को व्यापक राजनीतिक संदर्भ में देखने की। अतः छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चे के द्वारा उनके दस्तावेजों के संपादन के लिए दिए गए मौके ने मुझे उसकी 'संघर्ष-निर्माण' की राजनीति को नए प्ररिप्रेक्ष्य में आत्मसात करने की राह दिखाई। अंततः इस अध्ययन ने *संघर्ष और निर्माण* नाम की एक संपादित पुस्तक का रूप लिया।

वर्तमान में विश्वविद्यालयीन शिक्षक के रूप में काम करते हुए तीन दशकों के ये सामाजिक अनुभव मुझे एक ठोस धरातल दे रहे हैं। जहां एक ओर किशोर भारती को समेटने के साथ-साथ मुझे उसके अति सरलीकृत एवं रोमांटिक परिप्रेक्ष्य से बाहर निकलने की ताकत मिली, वहीं 'संघर्ष और निर्माण' के ऐतिहासिक दर्शन ने विश्वविद्यालय के अकादमिक काम को परिवर्तन के विश्वव्यापी दौर में यथास्थिति के एक और मोर्चे के रूप में देखने का नजरिया दिया। शंकर गुहा नियोगी की शहादत मुझे लगातार याद दिला रही है कि परिवर्तन के कई आयाम हैं और उसकी राह अनंत काल तक जाएगी। हम सब राहगीरों को इस राह में अपनी-अपनी सकारात्मक भूमिका तलाशनी है। यह पुस्तक मेरी इस लंबी तलाश का एक प्रतिबिंब है। इस पुस्तक को लिखने का उद्देश्य सफल हो जाएगा यदि इसमें प्रस्तुत अनुभव एवं विचार आज की युवा पीढ़ी के लिए समाज के पक्ष में नई राहें खोजने में रंच मात्र भी मददगार हो पाएंगे।

आभार

हम उन सभी समाचार पत्रों एवं पत्रिकाओं के आभारी हैं जहां से हमने प्रकाशित लेखों को साभार लेकर इस पुस्तक के लिए संपादित, अनूदित या रूपांतरित किया है।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. विश्व बैंक के शैक्षिक दस्तावेजों के अनुसार लड़कियों को शिक्षित करना इसलिए जरूरी है चूंकि इससे उनकी प्रजनन दर कम होती है. औद्योगिक उत्पादकता बढ़ती है और उनके जरिए जनसंख्या नियंत्रण का संदेश परिवार तक पहुंचता है. यानी, विश्व बैंक लड़कियों को अपने उद्देश्य पूर्ति हेतु साधन के रूप में देखता है, न कि शिक्षा को लड़कियों का बुनियादी हक और उनके समग्र विकास का साधन मानता है.
2. शिक्षा के तीन आयाम माने गए हैं—संज्ञानात्मक (बौद्धिक प्रक्रियाओं से संबंधित), भावात्मक (मूल्य-आधारित) और कौशलात्मक (हस्त-कौशलों से संबंधित). इन तीनों को अभिन्न रूप से परस्पर गूंथने से ही शिक्षा का समग्र स्वरूप उभर सकता है.
3. ज्ञानमीमांसा (एपिस्टामोलॉजी) दर्शनशास्त्र की वह शाखा है जिसके तहत मानव ज्ञान के उद्भव, प्रकृति, प्राप्त करने की पद्धतियों एवं सीमाओं का अध्ययन किया जाता है.

खंड एक

स्कूली तंत्र में हस्तक्षेप

एक जमीनी अनुभव

1. होशंगाबाद विज्ञान

1972 में मित्र मंडल केंद्र रसूलिया और किशोर भारती के संयुक्त प्रयास से मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले के सोलह सरकारी उत्तर-प्राथमिक (मिडिल) स्कूलों में विज्ञान शिक्षण को गतिविधि-आधारित बनाने तथा स्थानीय परिवेश से जोड़ने का प्रयोग शुरू हुआ। अगले पांच वर्षों तक दिल्ली विश्वविद्यालय के कई वरिष्ठ विज्ञान शिक्षकों और उनके शोध विद्यार्थियों की पूरी एक टीम एवं टाटा आधारभूत शोध संस्थान (टाटा इंस्टिच्यूट आफ फंडामेंटल रिसर्च), मुंबई, और इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नॉलाजी, कानपुर, जैसी अन्य संस्थाओं के वैज्ञानिकों की मदद से रूढ़िगत विज्ञान शिक्षण को बदलने की एक साहसिक प्रक्रिया शुरू हुई। इस प्रक्रिया में स्कूली शिक्षकों एवं बच्चों की भागीदारी बढ़ाने के ऐतिहासिक अनुभव प्राप्त किए गए। इस अनुभव को स्वयंसेवी मंच से सरकारी शिक्षा तंत्र में हस्तक्षेप के प्रयोग के रूप में व्यापक मान्यता मिली। 1978 में इन दोनों संस्थाओं ने जिले के सभी 220 उत्तर-प्राथमिक स्कूलों में विज्ञान शिक्षण के इस नए स्वरूप के अनुसार तंत्रगत ढांचे और प्रक्रियाएं खड़ा करने का काम भी किया। इस जिला स्तरीय प्रसार के कुछ महीने पहले पांच साल के अनुभव पर एक विहंगम दृष्टि डालने वाला यह विवरण 'होविशिका' (होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम) की ओर से किशोर भारती की चार-सदस्यीय टीम द्वारा दर्ज किया गया था।

मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले में काम कर रही मित्र मंडल केंद्र रसूलिया एवं किशोर भारती नामक दो स्वैच्छिक संस्थाओं ने विगत पांच वर्षों में जिले के सोलह ग्रामीण मिडिल स्कूलों में विज्ञान शिक्षण के क्षेत्र में पथ प्रदर्शक प्रयोग किए हैं। इन प्रयोगों में उन स्कूलों के शिक्षक और बच्चे सहभागी बने। इस पहलकदमी की आधारशिला गतिविधि-आधारित शिक्षण है। इसमें बच्चे निष्क्रिय होकर केवल व्याख्यान सुनते रहने के बजाए सक्रिय रूप से ज्ञान के सृजन में हिस्सेदारी करते हैं। लेकिन बहुत जल्द ही हमने अनुभव किया कि यदि इस शैक्षिक नवाचार को करते हुए सामाजिक-आर्थिक कारकों को ध्यान में नहीं रखा गया तो ये विचार आकर्षक मुहावरे मात्र बनकर रह जाएंगे।

आगे जो होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम (होविशिका) की रपट प्रस्तुत है वह दिल्ली विश्वविद्यालय विज्ञान शिक्षण समूह, मित्र मंडल केंद्र रसूलिया एवं किशोर भारती की ओर से तैयार की गई है।

मूल स्रोत : *साइंस टुडे (टाइम्स आफ इंडिया* प्रकाशन) दिसंबर 1977 में प्रकाशित मूल अंग्रेजी से स्वयं अनुवाद किया गया है. यह लेख सामूहिक प्रयास का नतीजा है. इस समूह के सदस्य थे : कमल महेंद्रू, साधना सक्सेना, रेक्स डी' रोज़ारियो एवं अनिल सद्गोपाल.

● इम्तिहान का समय था। भैय्यालाल बैठा हुआ मेहनत से 'ऑक्सीजन बनाने की विधियां' रट रहा था। वह तोते की तरह दोहरा रहा था—'पहली विधि, कांच को गरम करके। दूसरी विधि, पोटेशियम परमेंग्नेट को गरम करके। तीसरी विधि. ...गरम करके'। कांच को गरम करने पर ऑक्सीजन निकलने की बात हमारे लिए एकदम नई थी। हमारे पूछने पर विद्यार्थी ने अपनी बात पर डटे रहकर जवाब दिया, 'गुरुजी ने हमें बताया है कि जब कांच को अच्छी तरह गरम किया जाता है तो ऑक्सीजन निकलती है।' कक्षा में लिए गए एवं शिक्षक द्वारा जांचे गए नोट्स उसके कथन की पुष्टि कर रहे थे। हमारे लिए यह मामला एक पहेली सा बन गया। हमने उसकी पाठ्यपुस्तक को ध्यान से देखा तो रहस्य खुला। उसमें लिखा था कि जब 'सीसे के ऑक्साइड' को गरम किया जाता है तो ऑक्सीजन निकलती है। शिक्षक ने अपनी अक्ल लगाई कि 'सीसा' गलत छप गया होगा, दरअसल वह 'शीशा' होना चाहिए। फिर तो 'शीशे' के कांच तक पहुंचना आसान था और वहां पहुंचते-पहुंचते 'ऑक्साइड' बीच में ही कहीं लुढ़क गया।

● तखतसिंग एक तेज तर्रार विद्यार्थी था। किसी भी बाहरी व्यक्ति के सामने गुरुजी उसे एक मिसाल के रूप में पेश करते थे। एक दिन हम लोग तखत के स्कूल में पहुंचे। गुरुजी के कहने पर उसने गर्व के साथ फूल के विभिन्न अंगों के नाम गिनाने शुरू किए : 'अंखुड़ी, पंखुड़ी, पुंकेसर, स्त्रीकेसर, अंडकोष...।' लेकिन जब हमने उसके सामने एक फूल रखकर यही अंग पहचानने को कहा तो वह सकपका गया और कुछ भी नहीं कर पाया।

● कुछ बच्चे बैठे हुए अपने-अपने कंपास की मदद से अलग-अलग व्यास के वृत्त बना रहे थे। गुरुजी ने इस कौशल में उनको सिद्धहस्त कर दिया था। हममें से किसी ने अचानक उनसे एक सवाल पूछा, 'क्या तुम चार फुट व्यास का एक वृत्त बना सकते हो?' यह सुनते ही पूरी क्लास स्तब्ध होकर हमारी ओर ताकने लगी, क्योंकि बच्चों ने स्कूल में केवल कंपास के जरिए ही वृत्त बनाना सीखा था और कंपास की अपनी सीमाएं होती हैं। हमने बच्चों को उकसाया, 'यदि तुम्हें चार फुट व्यास का एक कुआं खोदना हो तो क्या करोगे?' यह सुनते ही एकदम उनके चेहरों पर रौनक आ गई और वे एक साथ बोल उठे, 'वह तो एकदम आसान है—एक खूंटी और एक रस्सी की मदद से बनाया जा सकता है।' फिर इस कौशल का प्रदर्शन करने के लिए बच्चे कूदकर स्कूल के मैदान में पहुंच गए।

जिन घटनाओं का ऊपर जिक्र किया गया है वे होशंगाबाद जिले (मध्य प्रदेश) के चंदेक ग्रामीण स्कूलों में हमारे अपने अनुभव हैं। इनसे ग्रामीण स्कूलों में रूढ़िगत विज्ञान शिक्षण की एक गंभीर खामी का संकेत मिलता है (इनके मुकाबले में शहरी स्कूल शायद रंच मात्र ही बेहतर होंगे)। ग्रामीण विकास के परिप्रेक्ष्य में शैक्षिक अपेक्षाओं एवं मैदानी यथार्थ के बीच की इस चिंताजनक खाई को पाटने के लिए व्यापक कदम उठाना हमारे काम का

अभिन्न हिस्सा है। विज्ञान के नाम पर बच्चों को ऊलजलूल एवं संदर्भहीन तथ्यों को क्यों रटना पड़ता है जबकि परीक्षाओं के बाद शायद ही कोई बच्चा इन्हें याद रखता हो। शिक्षकों के लिए भी इन तथ्यों के कोई मायने नहीं होते। ऐसी शब्दावली का क्या उपयोग हो सकता है जो भारी-भरकम शब्दों के अलावा और कुछ भी नहीं बताती है? ऐसी शिक्षा की क्या उपयोगिता है जो कक्षा और जीवन के अनुभवों के बीच एक दीवार खड़ी कर दे? ऐसी जानकारी की क्या सार्थकता यदि व्यावहारिक समस्याओं को हल करने के लिए उसका अनुप्रयोग करना संभव ही न हो?

हमारे सामने कुछ नग्न सत्य मुंह बाए खड़े थे। पहला, 'ज्ञान' दिन-दूनी-रात-चौगुनी गति से बढ़ रहा है। ऐसे में किसी से भी यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वह ज्ञान के इस असीमित भंडार के किसी भी महत्वपूर्ण पक्ष को पूरी तरह जान सके या आत्मसात कर पाए। दूसरा, आमतौर पर यह माना जाता है कि 60 से 70 प्रतिशत ग्रामीण बच्चे या तो स्कूलों में दाखिला ही नहीं लेते या शुरुआती वर्षों में ही स्कूल छोड़ देते हैं। जो बच्चे किसी प्रकार आगे बढ़ पाते हैं उनमें से ग्रामीण क्षेत्रों के बमुश्किल 20 प्रतिशत बच्चे ही हाई स्कूल तक पहुंच पाते हैं। वर्तमान शिक्षा, कुल मिलाकर वर्ग विशेष के इन मुट्ठी भर बच्चों के लिए ही बनी हुई है। हमारे लिए यही प्रमुख अंतर्द्वंद्व था। हमारा मानना था कि शिक्षा के केंद्र बिंदु पर वे अधिकांश बच्चे होने चाहिए जो बीच में ही शिक्षा छोड़ देते हैं ताकि उन्हें रोजगार के अगले और अधिक दुष्कर 'स्कूल' से गुजरने के लिए तैयार किया जा सके। इस परिप्रेक्ष्य में शैक्षिक उद्देश्यों को पुनर्परिभाषित करने की जरूरत है। अतः विज्ञान शिक्षण का उद्देश्य बच्चों में ऐसे कौशल और प्रवृत्तियों को विकसित करना होना चाहिए जिनके जरिए वे अपने परिवेश और अनुभवों से सीधे सीख सकें।

इन विचारों को हमने फरवरी 1972 में ठोस रूप देते हुए संचालक लोकशिक्षण (भोपाल) के सामने एक प्रस्ताव के रूप में पेश किया। लेकिन हमारी बात सुनी भी जाएगी, इस पर हमें गहरा शक था। स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में हमारी कोई पहचान भी नहीं थी। राष्ट्रीय शैक्षिक शोध एवं प्रशिक्षण परिषद (एन.सी.ई.आर.टी.), राज्य विज्ञान शिक्षण संस्थान (जबलपुर) एवं राज्य शिक्षा संस्थान (भोपाल) आदि सरकारी संस्थान हम पर हावी थे। इसके बावजूद हमारे पक्ष में एक सकारात्मक बात यह थी कि हमें अखिल भारतीय विज्ञान शिक्षक संघ के भौतिकी अध्ययन दल के श्री भास्कर पित्रे एवं श्री चंद्रकांत दीक्षित तथा टाटा आधारभूत शोध संस्थान (टी.आई.एफ.आर.), मुंबई के प्रो. यशपाल और श्री वी. जी. कुलकर्णी का समर्थन प्राप्त था। इन लोगों ने मुंबई महानगर निगम के कुछ स्कूलों तथा चंद पब्लिक स्कूलों में भौतिकी को खोजपूर्ण विधि से सिखाने के कुछ पथप्रदर्शक प्रयोग किए थे। इनके इन अनुभवों के सहारे इस विधि को ग्रामीण परिस्थितियों में परखने का काम हम करने जा रहे थे। हमारा उद्देश्य स्थानीय परिवेश को सीखने का एक प्रमुख माध्यम बनाते हुए विज्ञान के सभी विषयों को शामिल करना था।

हमने प्रस्ताव में लिखा था कि बच्चों को अपने हाथों से प्रयोग करके, अपने अवलोकनों

को दर्ज करके और अपने सहपाठियों एवं शिक्षकों के साथ चर्चा करके स्वतंत्र निष्कर्ष निकालते हुए विज्ञान सीखना चाहिए। उनको प्रश्न पूछने, प्रमाणों की समीक्षात्मक जांच-पड़ताल करने एवं नई उभरने वाली परिस्थितियों का विश्लेषण करने के लिए प्रोत्साहित करने की जरूरत है। तथ्यों एवं परिभाषाओं को रटकर याद करने की गुंजाइश ही नहीं होनी चाहिए। जानकारी का मात्र संकलन करना, सीखने का मापदंड हो ही नहीं सकता। इस नए माहौल में शिक्षक, ज्ञान का एकमात्र स्रोत नहीं रह जाएगा बल्कि उसकी भूमिका एक मार्गदर्शक तथा सहयोगी की होगी। इसके मायने हैं कि पाठ्यक्रम, शिक्षण पद्धति, पाठ्यपुस्तक, विद्यार्थी-शिक्षक संबंध एवं स्कूली प्रशासन की रूढ़िग्रस्त दीवारों को तोड़ना होगा। पाठ्यक्रम शिक्षकों और बच्चों के दैनिक अनुभवों से धीरे-धीरे उभरेगा, न कि महानगरों में कार्यरत विशेषज्ञों की पंडिताऊ अपेक्षाओं पर आधारित होगा। इन नए उद्देश्यों को मद्देनजर रखते हुए परीक्षाओं के दबावों को भी बुनियादी तौर पर बदलना होगा। हमने अपने प्रस्ताव में यह सब करने की छूट मांगी। राज्य सरकार ने हमें सोलह मिडिल स्कलों में इस प्रयोग को करने की अनुमति दे दी। इनमें से नौ स्कूल होशंगाबाद विकास खंड में मित्र मंडल केंद्र रसूलिया के इर्द-गिर्द थे और सात स्कूल बनखेड़ी विकास खंड में किशोर भारती के आसपास थे। स्कूलों और शिक्षकों की चयन प्रक्रिया में इस बात का ध्यान रखा गया कि वे आम हालात जैसे हों। राज्य और जिलास्तरीय अधिकारियों ने हमें पूर्ण सहयोग का आश्वासन दिया। मध्य प्रदेश शासन द्वारा दिए गए निरंतर समर्थन एवं काम करने की खुली छूट न केवल इस कार्यक्रम की आधारशिला बनी बल्कि अकसर प्रेरणा भी। एक स्वैच्छिक समूह को शासकीय तंत्र के अंतर्गत स्कूली शिक्षा में प्रयोग करने के लिए दिया गया यह व्यापक एवं सघन समर्थन संभवतः देश में अपने आप में एक अनूठी मिसाल है। और इस प्रकार यह प्रयोग शुरू हुआ।

शिक्षकों के साथ

25 मई 1972 की सुबह 34 शिक्षकों के सशंकित समूह के सामने अनिश्चित मुद्रा में स्रोत दल[1] बैठा हुआ था। पहला उन्मुखीकरण शिविर शुरू हो चुका था। न कोई उद्घाटन समारोह था और न ही कोई अन्य शोर-शराबा। जिला शिक्षा अधिकारी ने हमें पहले ही सावधान कर दिया था कि अधिकांश शिक्षक/शिक्षिकाएं केवल दसवीं कक्षा तक ही पढ़े हुए हैं और उनकी विज्ञान विषय में शिक्षा की पृष्ठभूमि न के बराबर है। जो शिक्षक उम्र में ज्यादा बड़े थे उन्होंने तो मिडिल स्कूल तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद ही शिक्षण कार्य शुरू कर दिया था। केवल चार-पांच शिक्षक डिग्री-प्राप्त (ग्रेजुएट) थे और उनमें से केवल एक विज्ञान में।

बात की शुरुआत एक सवाल के जरिए हुई, 'वर्तमान शिक्षा प्रणाली में आप क्या कमी पाते हैं?' इस पर एक जोरदार बहस छिड़ गई। लेकिन जल्द ही जिला शिक्षा अधिकारी

के पहुंचने पर अचानक चुप्पी छा गई। काफी तनावपूर्ण खामोशी के बाद एक शिक्षक ने खड़े होकर बड़े अदब से पूछा, 'यदि साहब को कोई परेशानी न हो तो क्या मैं एक गुजारिश कर सकता हूं?' जिला शिक्षा अधिकारी ने प्रोत्साहित करते हुए कहा, 'हां, हां, जरूर। शिक्षक ने साहस करके पूछा, 'क्या हम साहब के आने के पूर्व इस सभाकक्ष में जो माहौल था उसको दोबारा नहीं बना सकते?' उस शिक्षक की अपील एवं जिला शिक्षा अधिकारी के प्रोत्साहन के बावजूद पूर्व के माहौल में जो खुलापन था वह फिर से नहीं लौट सका। शिक्षा विभाग के पदक्रम की संरचना का हमारा यह पहला प्रत्यक्ष अनुभव था। इस संरचना के कारण नीचे से लेकर ऊपर योजना बनाने वालों तक संप्रेषण एवं फीडबैक नहीं हो पाता है।

इसके बावजूद मात्र एक वर्ष के बाद इन्हीं शिक्षकों ने राज्य के शिक्षामंत्री की उपस्थिति को भी सहजता से लिया और उनके आने पर केवल थोड़ी-सी हलचल भर हुई। जब मंत्री महोदय शिक्षकों की मेजों तक जा-जाकर उनके प्रयोगों को देखने की कोशिश कर रहे थे तो भी शिक्षक बिना किसी परेशानी के अपने प्रयोग करते रहे। आज ये शिक्षक वरिष्ठ प्रशासकों, शिक्षाविदों, वैज्ञानिकों एवं एन.सी.ई.आर.टी. के प्रतिनिधियों के साथ चर्चा में निस्संकोच हिस्सेदारी कर सकते हैं।

स्रोत दल ने शुरू से ही एक निहायत अनौपचारिक और खुले माहौल का निर्माण किया था। खाना परोसने और एक ही पंगत में बैठकर साथ-साथ खाने जैसी छोटी-छोटी बातों का अपना ही एक निराला महत्व था। जब शिक्षक बहुत ही सरल दिखाई देने वाले प्रयोगों को करने के लिए तैयार नहीं होते थे तो प्रो. यशपाल द्वारा उनकी पीठ थपथपाकर यह कहना कि 'यार, करके तो देखो', शिक्षकों के लिए सब कुछ बदल देता था। स्रोत दल ने कई शिक्षकों को यह कहकर सकते में डाल दिया कि वे सभाकक्ष में बीड़ी भी पी सकते हैं।

पूरे 21-दिवसीय शिविर के दौरान शिक्षकों को विज्ञान किट सामग्री एवं पुस्तकों का उपयोग करने की पूरी छूट मिली हुई थी। उनके अनुभव में वे पहली बार किसी ऐसे प्रशिक्षण में (कई शिक्षक इस तरह के अनेक प्रशिक्षण ले चुके थे) हिस्सा ले रहे थे जहां वे स्वयं प्रयोग कर रहे हों। उनको इस बात का भी अचरज था कि ये प्रयोग धागे, फुग्गे (गुब्बारे), रबड़ के छल्ले, पेपर क्लिप, बटन और कुल्हड़ जैसी साधारण चीजों से किए जा सकते हैं।

'खोजी पद्धति'[2] के बुनियादी मुद्दे जल्द ही उभरने लगे थे। उदाहरणार्थ, जीवविज्ञान के एक सत्र में पौधों के जीवन के बारे में चर्चा के दौरान किसान परिवार से आए एक शिक्षक ने सवाल उठाया, 'मिट्टी में मौजूद उर्वरक पत्तियों तक कैसे पहुंचते हैं?' इस सवाल के जवाब में तुरंत ही एक प्रयोग की योजना बनी। एक टहनी काटी गई और उसे लाल स्याही के घोल में रख दिया गया, आधे घंटे बाद पत्तियों की नसें लाल हो गईं। निष्कर्ष सामने था। लेकिन एक शिक्षक ने शंका जाहिर की, 'हम इतना पक्का कैसे कह सकते

हैं? शायद, नसें इसलिए लाल हो गईं चूंकि हमने टहनी को उसके तने से काट दिया था। मैंने सेब को काटकर रखने के बाद उसे भूरा होते देखा है।'

यद्यपि हममें से कुछ को यह सवाल फ़िज़ूल सा लगा लेकिन उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकी। क्योंकि ऐसे ही सवाल 'खोजी पद्धति' की मेरुदंड बनते हैं जिनके जरिए अगले प्रयोग नियोजित करने की कड़ियां मिलती हैं। एक गरमागरम बहस शुरू हो गई। तय हुआ कि इस प्रयोग को संशोधित करके उसमें सादे पानी में दूसरी कटी हुई टहनी रखी जाए। यहां से कार्यक्रम में 'तुलना के लिए प्रावधान' (कंट्रोल) शामिल करने की अवधारणा की शुरुआत हुई।

अब तक शिक्षक खोजबीन करने की भावना से ओतप्रोत हो चुके थे। 'यदि हम लाल स्याही की जगह नीली स्याही का उपयोग करें तो क्या होगा?' एक शिक्षक ने पूछा। सबके चेहरे स्रोत दल के एकमात्र जीवविज्ञानी की ओर मुड़ गए। उन्होंने झटके में कह दिया, 'मुझे नहीं मालूम'। यह सुनकर शिक्षक हक्के-बक्के रह गए। जीवविज्ञानी का यह उत्तर शिक्षकों के पूरे मूल्य तंत्र के लिए एक धक्का था। उन्होंने बड़े अविश्वास के साथ पूछा, 'यदि आपको इतनी सरल चीजें भी नहीं आतीं तो पी-एच.डी. की उपाधि कैसे मिल गई?' उनकी धारणा के अनुसार पी-एच.डी. की उपाधि ज्ञान का अंतिम बिंदु थी। स्रोत दल के लिए वैज्ञानिक जांच-पड़ताल में निहित खुलेपन की मिसाल पेश करने का यह मौका था। इस प्रयोग को अलग-अलग प्रकार की स्याहियों के साथ दोहराया गया। इसके जरिए पौधों के द्वारा विभिन्न रसायनों का 'पृथक्कृत अवशोषण' स्पष्ट रूप से प्रदर्शित हुआ। 'खोजी पद्धति' का संपूर्ण निहितार्थ तब कहीं जाकर शिक्षकों के मानस में उतर पाया। वे समझने लगे कि उन्हें भी अकसर ऐसे मुश्किल मौकों पर यह स्वीकारने के लिए बाध्य होना पड़ेगा कि 'मुझे इसका जवाब नहीं आता। आओ, हम मिलकर पता करें।' यह सब कक्षा में शिक्षक के पारंपरिक प्रभुत्व को चुनौती देने जैसा था। यह एक लंबी लड़ाई रही है और 'मुझे नहीं मालूम' का दर्शन धीरे-धीरे शिक्षकों के मानस का हिस्सा बना है।

सरल से सरल काम भी हमारे लिए अनपेक्षित प्रसंगों के स्रोत बन जाते थे। उदाहरण के लिए लंबाई नापने का मामला ही लीजिए। शिक्षकों को कहा गया कि वे एक मेज की लंबाई नापें। वे कहने लगे, 'अरे ! यह तो बच्चों का खेल है, हमसे कोई गंभीर काम क्यों नहीं कराते?' लेकिन हम अपनी बात पर अड़े रहे। बड़े बेमन से हाथ में मीटर स्केल पकड़े हुए वे मेज तक गए। नापना शुरू किया तो जल्द ही उनका आत्मविश्वास बिखरने लगा। उनमें से कुछ को पैमाने को पढ़ने में दिक्कत आई, कुछ को दशमलव के साथ, तो कुछ को सेंटीमीटर और इंच में भेद करने को लेकर। बहुत लज्जित होकर उन्होंने मापन क्रिया में प्रशिक्षण लेना स्वीकारा। हमने हरेक को श्यामपट्ट की लंबाई नापने को कहा, 200.8 सें.मी., 198.7 सें.मी., 200.5 सें.मी., 199.2 सें.मी., 201.2 सें.मी. ....लंबी सूची चलती रही। उन्होंने पूछा, 'लंबाई इस तरह घटती-बढ़ती क्यों हैं?' नापने में उनसे शायद कोई गलती

हो गई हो, इसलिए फिर से नापना शुरू किया—इस बार अधिक सावधानीपूर्वक। लेकिन फिर भी उनके मापन घटते-बढ़ते रहे, यह देखकर वे परेशान हो गए। उनकी दृष्टि में विज्ञान की सत्यता का अर्थ उसकी विशुद्धता में था। दुकानदारों द्वारा तौलने और नापने में भी इस प्रकार का घटना-बढ़ना होता है लेकिन शिक्षकों ने इसे उनके द्वारा की गई बेईमानी मान लिया था। अंतरिक्ष किरणों (कास्मिक रे) के साथ काम करने वाले एक भौतिकशास्त्री (प्रो. यशपाल) ने अपने उन प्रयोगों का ज़िक्र किया जिनमें अंतरिक्ष किरणों के मापन में भी इसी प्रकार का घटना-बढ़ना होता है—चाहे इसके लिए 'आयातित' (विदेशी) उपकरणों का ही उपयोग क्यों न किया जाए। उस दिन शिक्षकों की शब्दावली में घटने-बढ़ने के लिए एक नया शब्द—घटबढ़—जुड़ गया।

चोर, लकड़ी की पेटियां तथा विद्यार्थी कोष

अब तो यह रोजमर्रा की बात हो गई थी। शिक्षक एक बार फिर विज्ञान किट की दुर्दशा के बारे में शिकायत कर रहे थे। किट सामग्री बिखरी पड़ी थी —चूहों, चोरों, हवा, बारिश एवं धूल आदि सभी के आक्रमण के लिए। अधिकारियों ने शिक्षकों को सूचित कर दिया था कि 'किट को रखने के लिए कोई अतिरिक्त अलमारियां नहीं दी जा सकतीं।' हमने विकल्प के रूप में लकड़ी की पेटियां इस्तेमाल करने का सुझाव दिया। शिक्षकों को इस सुझाव पर गहरे शक थे। वे इस बात पर अड़े रहे कि इतनी सारी सामग्री लकड़ी की पेटी में समा ही नहीं सकती। हमने उन्हें पेटी के अंदर खाने बनाकर, खूंटियां लगाकर, आले बनाकर और कब्जों तथा सिटकनियों की मदद से पेटी का ढक्कन लगाकर दिखाया। बच्चों के द्वारा ऐसी अलमारियां 15 रुपए ग्ति स्कूल की कीमत पर बनाई जा सकती थीं। मासिक गोष्ठी में शिक्षकों ने पूछा, 'इसके (अलमारी के) लिए पैसा कहां से आएगा?' जिला शिक्षा अधिकारी ने उन्हें विद्यार्थी कोष की याद दिलाई। यह कोष बच्चों के द्वारा हर साल छोटी-छोटी निश्चित मात्रा में दिए गए चंदे को जोड़कर इकट्ठा किया जाता है और इसका उपयोग इसी प्रकार के विविध कामों के लिए किया जाता है। लेकिन इसके बावजूद कुछ भी नहीं हुआ।

अगले शैक्षिक सत्र की शुरुआत में हमने फिर से लकड़ी की पेटियों का मुद्दा उठाया। अब हमारे पास कुछ नई जानकारियां थीं। एक सहायक जिला शाला निरीक्षक (यानी इंस्पेक्टर) ने हमें काफी उत्साह के साथ बताया कि वे स्कूलों को चाहे जितनी पेटियां दे सकते हैं। स्कूलों के लिए चाक की आपूर्ति उनके दफ्तर में ऐसी ही पेटियों में होती है। इन पेटियों को खाली करके साधारणतः 'भेंट स्वरूप' बांट दिया जाता है। उन्होंने हमें आश्वासन दिया कि उस वर्ष इन पेटियों को स्कूलों में किट अलमारियां बनाने के लिए आरक्षित कर दिया जाएगा।

एक साल और बीत गया। स्कूलों में एक भी पेटी नहीं पहुंची। कई स्कूलों में अभी भी किट सामग्री इधर-उधर पड़ी रहती है—चूहों, चोरों....आदि के आक्रमण के लिए।

'4 फुट 8 इंच = 4.8 फुट'

अगस्त 1972 के एक बारिश भरे दिन की बात है। कार्यक्रम को शुरू हुए छह सप्ताह भी नहीं बीते थे। एक स्कूल में अनुवर्तन के दौरान ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ा जिसके लिए हमारी कोई तैयारी नहीं थी। किट में दिए गए मीटर पैमानों की मदद से बच्चे एक-दूसरे का कद नापने में व्यस्त थे। उनमें से एक विद्यार्थी स्तंभालेख तैयार करने के लिए कदों के माप श्यामपट्ट पर दर्ज कर रहा था। एक लड़के का कद 4′ 8″ था। विद्यार्थी ने श्यामपट्ट पर इसको लिखा–'4 फुट 8 इंच'। अचानक शिक्षक की तीखी प्रतिक्रिया ने उसे झकझोर दिया : 'तुम दशमलव में क्यों नहीं लिखते?' यह सुनकर वह विद्यार्थी ऊपर ताकने लगा। शिक्षक ने आदेश दिया : 'लिखो 4.8 फुट।' विद्यार्थी ने चुपचाप पालन किया। हम भौचक्के रह गए। खतरे की घंटी बज चुकी थी। सभी अनुवर्तनकर्ताओं को कहा गया कि वे बच्चों और शिक्षकों की दशमलव के बारे में समझ की जांच-पड़ताल करें। अधिकांश स्कूलों में इस पहले अनुभव की पुष्टि हुई।

अगली अनुवर्तन बैठक में शिक्षकों के बीच इस सवाल को उठाया गया। लेकिन शिक्षक अपनी बात पर अड़े रहे। उनके अनुसार बच्चों को प्राथमिक स्कूल में ही दशमलव सिखा दिया जाता है, इसलिए उन्हें दशमलव की समझ होती ही है। दशमलव के मामले में शिक्षकों की समझ में किसी कमी का तो सवाल ही नहीं उठता। इस मुद्दे पर शिक्षकों की अति संवेदनशीलता के कारण कोई भी सुधारात्मक कदम उठाना असंभव हो गया। यह समस्या मनोवैज्ञानिक अधिक और शैक्षिक कम थी। इसलिए उसी स्तर पर जूझने की जरूरत थी।

हमें अगली मासिक गोष्ठी तक इंतजार करना पड़ा। एक प्रयोग की योजना बनाई गई। प्रत्येक शिक्षक को चुपचाप बगैर किसी चेतावनी के एक-एक पैमाना दिया गया। प्रत्येक पैमाने पर इंच के खंडों की संख्या अलग-अलग थी। उनसे पुस्तक की लंबाई नापने को कहा गया तो उन्होंने 10.2″ लिखा जबकि उनके पैमाने में प्रत्येक इंच के चार खंड थे। इसी प्रकार किसी ने 8.11″ (आठ दशमलव ग्यारह इंच) लिखा जबकि स्केल पर प्रत्येक इंच में बारह खंड थे। उनकी पोल खुल चुकी थी।

दशमलव के मसले पर सुधारात्मक प्रशिक्षण की आवश्यकता निश्चित हो चुकी थी। स्रोत दल के सदस्यों ने मिलकर दिमाग लगाया और 1974 के उन्मुखीकरण शिविर तक इसके प्रशिक्षण का एक प्रारूप तैयार हुआ। इस नई विधि में बच्चों से अपेक्षा थी कि वे अपना-अपना एक गिनतारा (अबैकस) बनाएं और उसका उपयोग स्थानीय मान तथा उसके सहारे दशमलव का महत्व समझने के लिए करें। दो शोध विद्यार्थियों ने उपयुक्त गिनतारा बनाने की चुनौती स्वीकारी। इस प्रयास से जो यंत्र तैयार हुआ उसको 'गणक' के नाम से जाना जाता है। इसमें लकड़ी के एक आयताकार गुटके पर छह सीधी तारों को एक-दूसरे से बराबर दूरी पर सीधे खड़ा करके लगाया जाता है। तारों के पीछे एक आयताकार कड़क कागज लगाकर उस पर रंगीन कागज की पट्टियां चिपका दी जाती

क्रमशः...

हैं। इसके ऊपर तिकोने कागज का एक छोटा-सा संकेतक लगाया जाता है जो दशमलव बिंदु का काम करता है (देखिए नीचे दिया गया रेखाचित्र)। सीधी खड़ी हुई तारों की लंबाई इतनी रखी जाती है कि उनमें केवल नौ मोती ही पिरोए जा सकें, उससे अधिक नहीं। दसवां मोती डालने के लिए ये सारे नौ मोती निकालने पड़ते हैं और उनकी जगह बाईं ओर की अगली तार में एक अकेला मोती डाल दिया जाता है। इस साधारण यंत्र के जरिए विद्यार्थी स्वयं ही दशमलव के जोड़ने, घटाने तथा इनको भिन्न में बदलने के बुनियादी सिद्धांत खोज सकते हैं। विषय प्रवेश के लिए बच्चों को गिनती की शुरुआत की एक प्राचीन रोचक कहानी सुनाई जाती है जब गिनती हमारी दस उंगलियों पर आधारित रही होगी। गणक की गतिविधि को पुष्ट करने के लिए लंबाई, क्षेत्रफल, आयतन तथा वजन से संबंधित ठोस प्रयोग करवाए जाते हैं।

उन्मुखीकरण शिविर को देखने के लिए कुछ राज्य तथा जिला स्तरीय शिक्षा अधिकारी आए और शिक्षकों को इस नई विधि का प्रशिक्षण लेते हुए देखा। उन्होंने

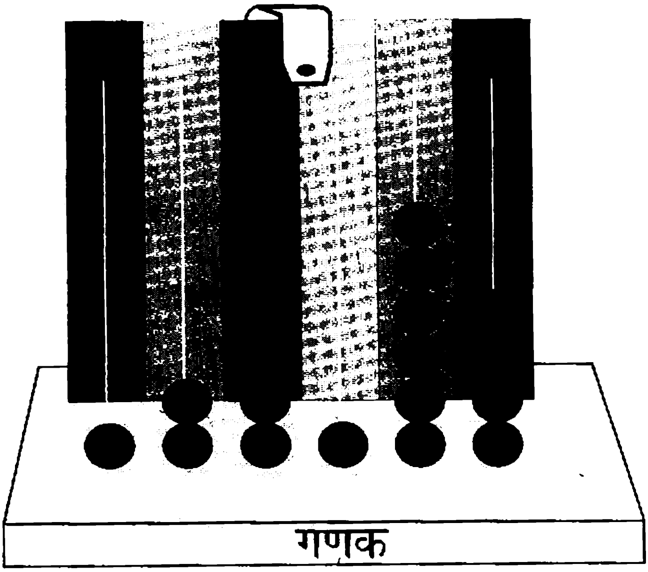

एकदम पूछा कि मिडिल स्कूल के स्तर पर दशमलव के बारे में इतनी ऊर्जा और समय लगाने का क्या मतलब है? हमने तुरंत पड़ोसी गांव के मिडिल स्कूल में पढ़ने वाले बीस

क्रमशः

बच्चों को इकट्ठा किया और मौके पर किए गए परीक्षण के अकाट्य प्रमाण अधिकारियों के समक्ष प्रस्तुत किए (देखिए नीचे उत्तरों की प्रतियां)। अब इन सोलह मिडिल स्कूलों में गणक तथा अन्य प्रयोगों के माध्यम से दशमलव के संबंध में सुधारात्मक प्रशिक्षण, विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम का अभिन्न अंग बन चुका है।

शिक्षक समुदाय तथा शैक्षिक अधिकारियों को दशमलव के मसले पर पाठ्यक्रम की अपेक्षाओं और यथार्थ के बीच मुंह बाए खड़ी विशाल खाई की सचाई स्वीकार करवा पाने एवं एक नवाचारी विधि विकसित कर पाने के प्रयास की गिनती विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के सर्वाधिक रोमांचक संघर्षों में की जा सकती है।

दशमलव की दुर्गति

विद्यार्थियों की उत्तर पुस्तिकाओं से लिए गए जीवंत उदाहरण—कक्षा 6, 7 और 8

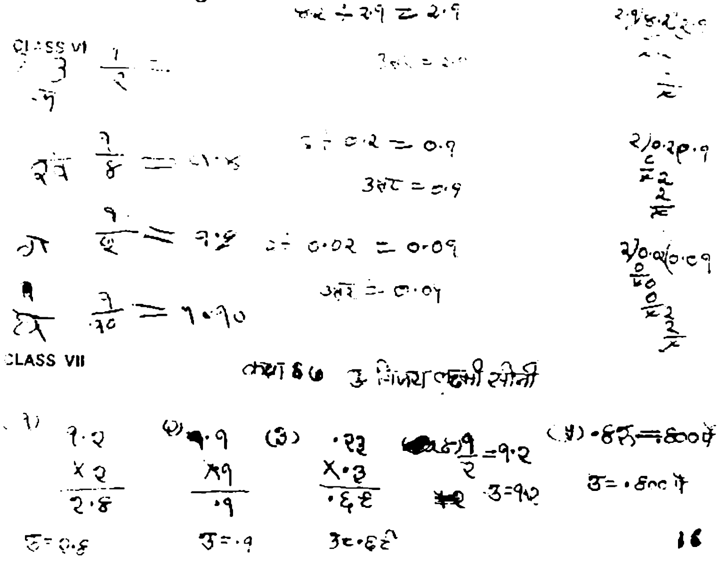

कार्यक्रम स्कूल की ओर

स्कूल लौटते ही शिक्षकों ने प्रशिक्षण का अभ्यास शुरू कर दिया। अब वे व्याख्यान नहीं दे रहे थे। बच्चों को चार से पांच के समूहों में प्रयोग करने के लिए बांट दिया गया था। कालांतर में परिभ्रमण को पाठ्यक्रम के एक अभिन्न हिस्से के रूप में जोड़ा गया। स्रोत दल के सदस्यों द्वारा कक्षाओं में अनुवर्तन के लिए जाने पर विशेष जोर रहा—इंस्पेक्शन के लिए नहीं, बल्कि मदद करने के लिए। शुरू में हमें देखकर शिक्षक अपनी कक्षा हमें सौंपने की पेशकश करते थे लेकिन हमें अपनी अवलोकनकर्ता की भूमिका पर अड़े रहना पड़ता था। कई बार हमें शिक्षण प्रक्रिया में हस्तक्षेप करने की अपनी उत्कंठा पर नियंत्रण रखना पड़ता था। खास तौर पर यह तब ज्यादा मुश्किल हो जाता था जब शिक्षक अपेक्षित

गणक का सिद्धांत - 1

जब किसी तार पर दसवां मोती लाया जाता है

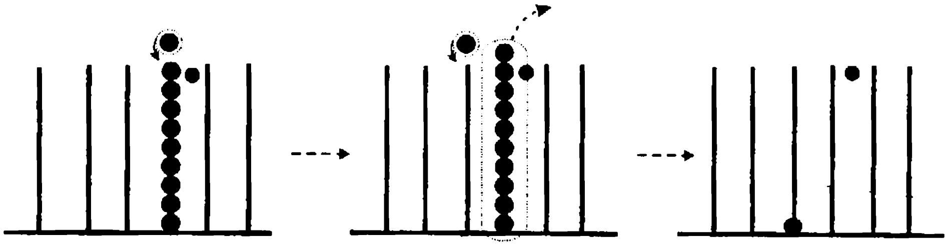

एक तार पर दस मोती उसकी बाईं ओर की अगली तार पर एक मोती के बराबर हैं

गणक का सिद्धांत

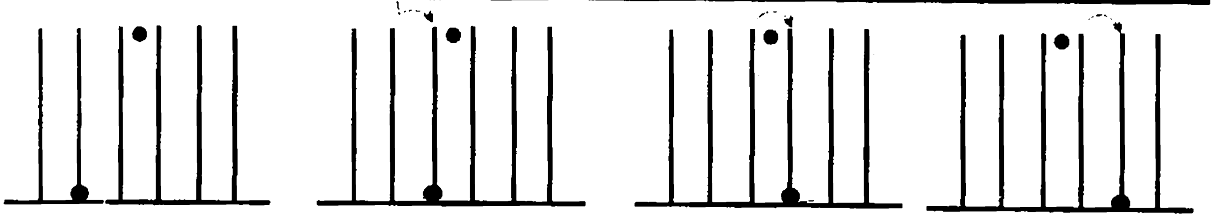

10.0	1.0	0.10	0.01
दस	एक	एक-दसवां	एक-सौवां

अलग-अलग तारों पर उसी मोती का मान बदल जाता है

स्थानीय मान की अवधारणा

गणक का सिद्धांत - 2

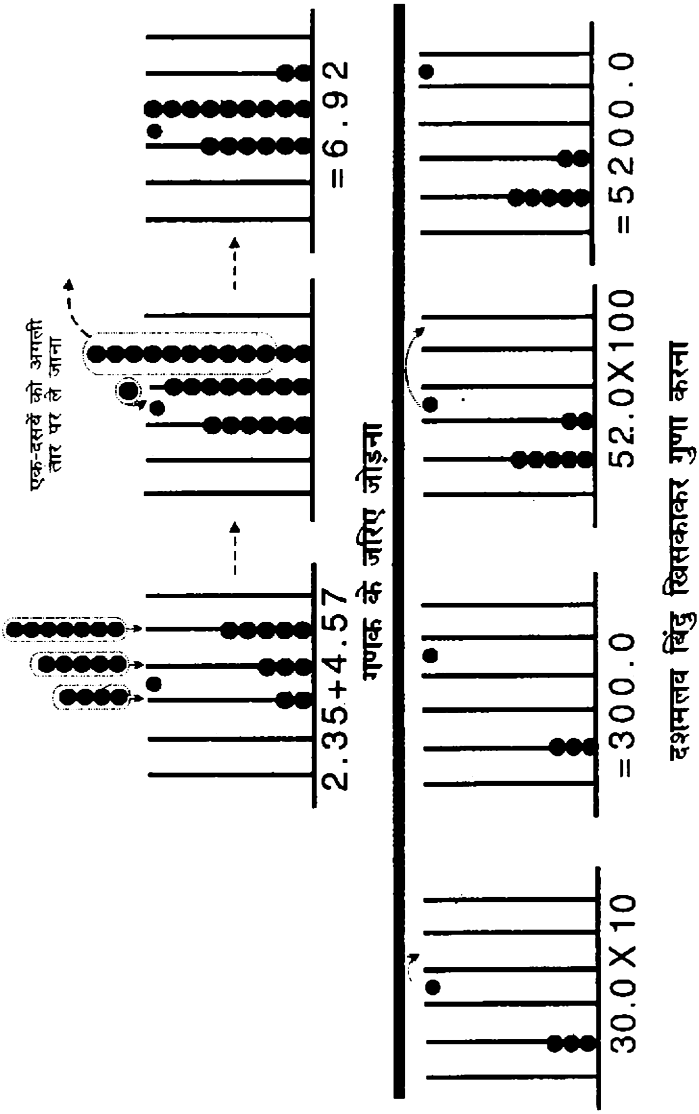
एक-दसवें को अगली तार पर ले जाना
2.35+4.57
=6.92
गणक के जरिए जोड़ना
30.0X10
=300.0
52.0X100
=5200.0
दशमलव बिंदु खिसकाकर गुणा करना

ढंग से शिक्षण नहीं कर पाते थे या तब जबकि कक्षा में किसी बात को लेकर खूब उत्साह का माहौल बनने लगे या जब शिक्षक व्याख्यान देने की प्रवृत्ति की ओर लौटना शुरू कर दे। फर्श पर बैठकर हम लोग बच्चों के साथ उनकी कार्यपुस्तकों को देखते, प्रयोग करने में मदद देते, अपने अवलोकनों को लिख लेते एवं बच्चों से ही टिप्पणियां तथा सुझाव इकट्ठा करते थे। कई बार कुछ परखने की दृष्टि से एकाध नए विचार हम बच्चों के सामने रख देते थे। मौका मिलने पर शिक्षकों को अलग ले जाकर उनके साथ चर्चा भी करते थे। कक्षा के बाद बच्चों एवं शिक्षकों के साथ अनौपचारिक बातचीत करने से अकसर हमें अधिक जानकारी मिलती और उलझी हुई समस्याओं को हल करने में मदद भी।

स्कूलों में सघन रूप से किए जाने वाले दौरों एवं शिक्षकों के साथ की मासिक गोष्ठियों ने जल्द ही हमारे कई रोमांटिक विचारों को धराशायी कर दिया। हमें अकसर छठी, सातवीं और आठवीं कक्षाएं एक ही कमरे में लगी मिलतीं। बगल के बरामदे में प्राइमरी की पांचों कक्षाएं भी लगी होती थीं और वहां बड़ी निष्ठापूर्वक पाठों का मंत्रजाप चल रहा होता था। कई बार अकेला शिक्षक, एक साथ कई कक्षाओं को पढ़ा रहा होता था। 'आज कोई भी कक्षाएं नहीं लगेंगी', यह एक आम बात थी (देखिए, 'मेरे गांव के स्कूल का पंचांग', पृष्ठ 43)। किट सामग्री अकसर साफ किए बिना इधर-उधर फेंक दी जाती थी। कभी-कभार ही उस दिन के प्रयोगों की पूर्व तैयारी की जाती थी। बच्चों की प्रयोग कापियों की जांच-पड़ताल भी शायद ही कभी होती हो। किट सामग्री का दुरुपयोग होता था। प्लास्टिक की बालटियां, कैंची, ब्लेड एवं धागे लोगों के घरों में पहुंच जाते थे। गांव के प्रभावशाली नेता लोग प्लास्टिक की तश्तरियां, मग और गिलास अपने घरों के विवाह भोज के लिए मंगवा लिया करते थे। कई बार ये चीजें वापस भी नहीं आती थीं। चुंबक, लेंस एवं टार्च बल्ब जैसी आकर्षक वस्तुओं को पाने की इच्छा बच्चों पर हावी रहती थी और मौका मिलते ही इनको गायब कर दिया जाता था। अलमारियों के अभाव के कारण सामग्री का रखरखाव एक गंभीर समस्या बन गया जिसके कारण सामग्री तेजी से नष्ट होने लगी (देखिए, पृष्ठ 31 पर दिया गया बाक्स)।

हमें पढ़ाई-लिखाई के बहुत ऊंचे स्तर की अपेक्षा नहीं थी लेकिन बच्चों के शैक्षिक विकास का गिरा हुआ स्तर देखकर हम आश्चर्यचकित हो गए। लिखित अभिव्यक्ति, अवधारणाओं की समझ एवं गणित की जो क्षमता बच्चों में प्राइमरी स्कूल में विकसित हो जानी चाहिए थी, वह भी नदारद थी। कोई भी प्रसंग जो बच्चों ने देखा हो उसे वे सरल हिंदी में लिख भी नहीं सकते थे। कार्यपुस्तक में दिए गए साधारण निर्देश उनकी समझ से बाहर थे। कुछ तो पढ़ भी नहीं पाते थे, जो पढ़ पाते थे वे निर्देशों को गतिविधियों से जोड़ नहीं पाते थे। उन्हें केवल रटने के लिए प्रशिक्षित किया गया था। गिनने के प्रारंभिक कौशल भी पूरी तौर पर विकसित नहीं हुए थे। गणित में स्थानीय मान जैसी बुनियादी अवधारणाएं भी बच्चों को स्पष्ट नहीं थीं। एक बच्चा जो पांच सौ तक की गिनती गिन सकता था उसे जब पांच सौ एक लिखने का कहा गया तो वह नहीं लिख पाया। दशमलव

की बदहाली तो देखते ही बनती थी (देखिए पृष्ठ 32-34 पर दिया गया बाक्स)। इन सबके कारण बच्चों की विज्ञान के प्रयोग करने और उनसे सीखने की क्षमता पर बहुत बुरा असर पड़ रहा था।

रेखाचित्रों से बच्चे कुछ खास नहीं समझ पाते थे। उदाहरण के लिए, वे एक बीकर के द्विआयामी रेखाचित्र का उनके सामने रखे हुए बीकर के साथ तालमेल नहीं बैठा पाते थे। सामने रखी वस्तुओं का रेखाचित्र बनाने की उनकी क्षमता अत्यंत सीमित थी। अपनी कल्पना से चित्र बनाने का तो सवाल ही नहीं उठता था। बच्चों के लिए अनुपात के कोई मायने ही नहीं थे। तीर जैसे प्रचलित संकेत तथा चित्रों में गहराई या दूरी दिखाने की साधारण तकनीक से वे पूर्णतः अनभिज्ञ थे। चित्रों एवं नक्शों में विभिन्न रंगों के महत्व का उनको कतई बोध नहीं था।

सार्वभौमिक धन

होशंगाबाद, पिपरिया, इटारसी, भोपाल, दिल्ली एवं मुंबई के बाजारों को हमने खोज मारा था। कई मैकेनिक वर्कशाप से जवाब मिल चुके थे, 'इस कीमत पर यह असंभव है।' स्प्रिंग एवं तराजू के प्रयोगों के लिए हम एक-एक ग्राम के वजनों को तलाश रहे थे। प्रत्येक स्कूल को लगभग एक सौ वजनों की जरूरत थी। इनको और कहां जाकर तलाशें? अचानक हमें ध्यान आया कि इसका जवाब हमारी किट में ही था। किट में एक घन सेंटीमीटर के प्लास्टिक घन थे जिन्हें आयतन के प्रयोगों के लिए शामिल किया गया था। ये घन पानी की तुलना में जरा से ही भारी थे। इनमें से प्रत्येक का वजन एक ग्राम था, दस प्रतिशत की घटबढ़ के साथ। महंगे वजनों की अब हमें कोई जरूरत न थी।

बाद में हमें सूझा कि घन की प्रत्येक सतह एक इकाई क्षेत्रफल की है और हर किनारा एक इकाई लंबाई का। अतः ये घन क्षेत्रफल, लंबाई एवं परिमिती के मापन के प्रयोगों के लिए एकदम सटीक थे। जब 'संयोग एवं संभाविता' पर पाठ विकसित किया जा रहा था तब इन घनों की सतह पर सफ़ेद बिंदु लगाकर उनका उपयोग पांसों के रूप में किया गया। मासिक गोष्ठी के दौरान एक शिक्षक ने बताया कि जब बच्चों को कागज पर स्तंभालेख बनाने में दिक्कत आ रही थी तो उन्होंने किस प्रकार घनों की मदद से त्रिआयामी स्तंभालेख बनाए।

शायद इसका प्रमुख कारण उनको पत्रिकाओं एवं पुस्तकों जैसी प्रचलित सामग्री का उपलब्ध न होना रहा हो (जो कि एक शहरी बच्चे को आसानी से मिल जाती है)। इसका एक और कारण यह भी है कि प्राथमिक शालाओं में चित्रकला के लिए कोई स्थान नहीं है।[3] उनके परिवेश में रंग, क्रेयान एवं कागज जैसी वस्तुएं दुर्लभ थीं।

शिक्षकों की भी अपनी समस्याएं थीं। बिलावजह परेशान किया जाना, तबादला,

अटैचमेंट, प्रशासनिक और सर्वेक्षण कार्य, नसबंदी अभियान, कम वेतन एवं स्थानीय राजनीतिज्ञों की अफसरशाही आदि उन कारणों में गिने जा सकते हैं जो शिक्षक का ध्यान स्कूल की पढ़ाई से विकर्षित करते हैं।[4] शिक्षक के पेशे ने अपनी पारंपरिक प्रतिष्ठा खो दी है। इस प्रकार के नकारात्मक सामाजिक-आर्थिक हालात में शिक्षकों द्वारा शिक्षण कार्य की अवहेलना करना स्वाभाविक ही है। इन ढांचागत अवरोधों पर इस 'खोजी पद्धति' का लेश मात्र भी सकारात्मक असर नहीं पड़ पाया है। इस माहौल में उदासीन शिक्षक उदासीन ही रहते हैं।

लेकिन आशा की एक किरण अभी भी बाकी है। पहले से ही स्वप्रेरित लगभग आधे शिक्षकों ने 'खोजी पद्धति' के कारण उभरने वाली नई संभावनाओं का पूरा-पूरा लाभ उठाया है। इसके साथ-साथ बच्चों का असीम उत्साह हमें इस प्रकार के नवाचारी प्रयासों को करने का तार्किक आधार देता है। ऐसे कई शिक्षक हैं जिन्होंने बच्चों को विज्ञान किट की व्यवस्था की पूरी जिम्मेदारी अपने हाथ में लेने के लिए प्रेरित किया है। कई बार बच्चे और शिक्षक स्कूल के बाद रात को आकाश का अवलोकन करने के लिए इकट्ठे हुए हैं। कई बच्चों ने कक्षा के प्रयोगों से आगे बढ़कर उनके हाथ जो भी सामग्री लगती उसकी मदद से प्रोजेक्टर, विद्युत मोटर एवं घंटियां, टार्च तथा संगीतमय खिलौने जैसे छोटे-छोटे यंत्र बनाकर अपनी पहलकदमी का प्रदर्शन किया है। ऐसे भी स्कूल हैं जहां शिक्षक की गैरहाजिरी में बच्चों ने स्वयं ही व्यवस्थित होकर प्रयोगों को करना जारी रखा है। परिभ्रमण के दौरान बच्चों की जिज्ञासा देखते ही बनती है। वे नदियों में छलांग लगाकर, दलदल में घुसकर, पेड़ों पर चढ़कर और साहसपूर्वक बिलों में हाथ डालकर, जानवरों, पौधों, चट्टानों, कीड़ों, अंडों एवं घोंसलों के दुर्लभ नमूनों को बटोरकर लौटते हैं। छुट्टियों के दिन और रविवार को अकसर बच्चे कई किलोमीटर चलकर हमारे पास आते हैं। वे अपने साथ सवाल लेकर आते हैं और मांग करते हैं कि उनको प्रयोग करने के लिए सामग्री दी जाए और उनके सृजनात्मक प्रयासों की सराहना की जाए।

हमारा बार-बार यह अनुभव रहा है कि किसी भी स्कूल के सही ढंग से चलने के पीछे गांव के लोगों द्वारा ली गई रुचि एक महत्वपूर्ण कारक है। इसका एक दिलचस्प उदाहरण उस शिक्षक का है जिसने एक गांव में जहां लोग स्कूल में रुचि नहीं लेते थे, लगभग तीन साल तक पढ़ाया ही नहीं। उसके बाद जब उसका तबादला एक ऐसे गांव में हुआ जहां के लोग अपने बच्चों की शिक्षा में रुचि लेते थे वहां उसकी शिक्षण की असली संभावनाएं इस हद तक उभर आईं कि वह कार्यक्रम का एक सर्वाधिक पहल करने वाला शिक्षक सिद्ध हुआ।

एक निराली कार्यपुस्तक

कार्यक्रम की शुरुआत में ही कार्यपुस्तक के बुनियादी सिद्धांतों को परिभाषित कर लिया

गया था। विषयवस्तु इस प्रकार की होगी कि प्रयोग करना अनिवार्य हो जाएगा। इसमें इन प्रयोगों को करने के लिए निर्देश दिए जाएंगे और उनके बाद चर्चा शुरू करने के लिए सांकेतिक प्रश्न होंगे। कहीं भी न तो परिभाषाएं होंगी, न तथ्य और न ही पहले से बने-बनाए उत्तर दिए जाएंगे। 'खोजी पद्धति' की सफलता के लिए इन सिद्धांतों को बरकरार रखना अनिवार्य है। जो पाठ्यपुस्तकें आजकल प्रचलित हैं उनमें प्रयोगों के जरिए सीखने की बात मात्र दिखावा है। इनमें अकसर 'देखो और खोजो', 'तुमने क्या देखा?', 'तुमने क्या निष्कर्ष निकाला?' एवं 'करके सीखो' जैसे वाक्यांश इस्तेमाल किए जाते हैं। लेकिन उनमें प्रयोगों को करने या स्वतंत्र निष्कर्ष निकालने की गुंजाइश न के बराबर होती है। इन दोनों प्रक्रियाओं—प्रयोग करना और निष्कर्ष निकालना—के बीच कोई अंतराल नहीं दिया जाता (देखिए, नीचे दिया गया बाक्स)।

पाठ्यपुस्तक बनाम *कार्यपुस्तक*

निम्नलिखत प्रयोग कक्षा सात में व्यापक रूप से इस्तेमाल होने वाली एक सरकारी पाठ्यपुस्तक से लिया गया है :

ताप का संवाहन

एक-दूसरे के संपर्क में पड़ी हुई दो वस्तुओं के बीच अथवा एक ही वस्तु के विभिन्न भागों के बीच ताप के स्थानांतरण को संवाहन कहा जाता है।

ताप के संवाहन को निम्नलिखित प्रयोग के जरिए भली भांति समझा जा सकता है।

तांबे की एक गोल मोटी तार के टुकड़े के एक सिरे को स्टैंड पर कस दो। इस तार पर मोम की मदद से लोहे की छोटी-छोटी कीलें चिपका दो। अब तार के दूसरे सिरे को स्प्रिट लैंप से गरम करो। तुम देखोगे कि गरम किए हुए सिरे की तरफ से एक-एक करके कीलें गिरने लगती हैं। इससे स्पष्ट रूप से प्रदर्शित होता है कि ताप तार के एक सिरे

हमारी कार्यपुस्तक में दिए गए इसी प्रयोग को जिस रूप में स्कूलों में किया जाता है, वह देखिए :

ताप का स्थानांतरण

लगभग 15 सें.मी. लंबी लोहे की एक पट्टी लो। मोमबत्ती जला कर पट्टी के 'क' सिरे से लगभग 4 सें.मी. हटकर पिघली हुई मोम की एक बूंद डालो। जब मोम ठंडी हो रही हो तो उसमें 1.5 सें.मी. लंबी कील चिपका दो। इस प्रकार एक-एक सें.मी. के अंतर पर पांच और कीलें पट्टी पर चिपकाओ। अब 'क' सिरे को दो ईंटों के बीच इस प्रकार फंसा दो कि कीलें नीचे की ओर हों। दूसरे सिरे को मिट्टी के तेल वाले लैंप से गरम करो। जब गरम करना शुरू करो तो उसका समय एक तालिका में दर्ज कर लो। आगे जब हर कील गिरती है तो उसका भी समय दर्ज करो।

कीलें क्यों गिरती हैं?

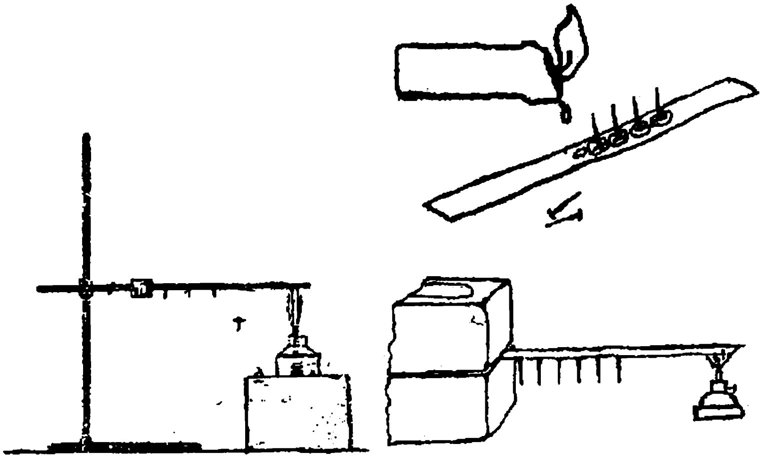

से दूसरे सिरे की ओर धीरे-धीरे संवाहित होता है। ताप संवाहन की व्याख्या पदार्थ की आणविक संरचना के आधार पर की जा सकती है।

ताप की ऊर्जा मिलने पर गरम किए हुए सिरे के नजदीक के अणु उनके इर्द-गिर्द के अन्य अणुओं की तुलना में अधिक गति से कंपन (ऑसिलेट) करने लगते हैं। ये अणु अपने पड़ोसी अणुओं से टकराते हैं जिसके कारण वे भी तेजी से कंपन (ऑसिलेट) करना शुरू कर देते हैं। यह प्रक्रिया चलती रहती है और इस प्रकार ताप ऊर्जा का संवाहन एक परत से दूसरी परत की ओर निरंतर होता रहता है।

प्रिय पाठक, आपको संवाहन की परिभाषा, प्रयोग करने के लिए अस्पष्ट निर्देश, प्रयोग के परिणाम, निष्कर्ष तथा

सब कीलें इकट्ठी क्यों नहीं गिरतीं ?

गरम किए जाने वाले सिरे से हर कील की दूरी और उसके गिरने के समय का एक ग्राफ तैयार करो।

क्या यह ग्राफ एक सरल रेखा है ? इस प्रयोग के आधार पर धातुओं (ठोस पदार्थों) में ताप के स्थानांतरण पर अपने विचार लिखो।

प्रिय पाठक, यह प्रयोग करो और ताप के संवाहन की स्वयं खोज करो। ईंटों की कोई कीमत नहीं लगेगी; कीलों की कीमत

गतिशील आणविक सिद्धांत के आधार पर एक जटिल व्याख्या दी गई है। क्या अब आप प्रयोग करने के लिए तैयार हो चुके हैं? आपको इसके लिए निम्नलिखित की जरूरत होगी : एक स्टैंड जिसकी क़ीमत 13 रुपए है, एक स्प्रिट लैंप जिसकी कीमत रु. 2.5 है, तांबे की एक मोटी तार (इसकी कीमत कितनी होगी और यह कहां से मिलेगी?) एवं कुछ कीलें। एक मोटी गोल तांबे की तार पर मोम की मदद से कीलें चिपकाने की आपकी कोशिश के लिए हमारी शुभकामनाएं ! पांच पैसे से अधिक नहीं होगी और मिट्टी के तेल वाला लैंप मात्र एक रुपए का मिलेगा। लोहे की पट्टी, लकड़ी की पेटियां बांधने की पट्टी का ही एक टुकड़ा है।

ग्रामीण स्कूल पंचांग

1973 के मध्य जुलाई की बात है। दिल्ली विश्वविद्यालय के एक युवा भौतिकशास्त्री[5] उत्साह से भरे हुए किशोर भारती पहुंचे। उनके द्वारा यह पहला अनुवर्तन था। अगली सुबह गांव के लोगों ने उन्हें धीरे-धीरे साइकिल चलाते हुए दस किलोमीटर दूर स्थित एक गांव की ओर जाते देखा। पिछली रात कई घंटे लगाकर उन्होंने बच्चों के साथ परीक्षण के लिए बहुत सारे नए प्रयोगों की योजना भी बनाई थी। लेकिन जब वे स्कूल पहुंचे तो उन्होंने देखा कि प्रधान पाठक बड़ी मेहनत से रजिस्टरों के एक ढेर को भर रहे हैं और कुछ शिक्षक उनके इर्द-गिर्द बैठे गप्प कर रहे हैं। बच्चे नदारद थे। उन्हें बताया गया कि शिक्षक, भरती के चक्कर में तथा जिलाधिकारियों द्वारा मांगी गई जानकारी बटोरने में व्यस्त हैं। कुछेक बच्चे जो भूलवश आ गए थे उन्हें छुट्टी दे दी गई। वे युवा भौतिकशास्त्री अपने खयालों में डूबे हुए साइकिल पर वापस लौट आए—निराश लेकिन इस उम्मीद में कि छुट्टी का ये मूड हमेशा नहीं रहेगा। परंतु उनकी उम्मीदें शीघ्र ही धूमिल हो गईं। अगले दिन एक अन्य स्कूल में भी उन्होंने देखा कि शिक्षक गायब हैं। यह साप्ताहिक हाट का दिन था।

आगामी महीनों में स्कूलों के बेहद अनियमित ढंग से काम करने के एक के बाद एक कई कारण उभरकर सामने आए। इनमें धान का रोपा लगाना, स्कूल की छत का टपकना, मानसूनी नदियों के कारण गांवों के घिर जाने से स्कूल पहुंचने में दिक्कत, स्थानीय त्यौहार एवं ग्रामीण मेले आदि उन कारणों में शामिल थे। कई बार छुट्टी पर जाने या प्रशासकीय काम के कारण शिक्षक गैरहाजिर होते थे। महीने में एक बार वे दो-तीन किलोमीटर दूर अपना मासिक वेतन लेने जाते थे और उसके बाद दिन भर की छुट्टी कर देते थे। एक

अन्य अवसर पर दिल्ली विश्वविद्यालय के वे भौतिकशास्त्री साइकिल से चौदह किलोमीटर दूर स्थित एक स्कूल में पहुंचे। रास्ते में अकसर उन्हें साइकिल हाथों में ऊपर उठाकर घुटनों तक कीचड़ में से निकलना पड़ा। जब वे स्कूल पहुंचे तो उन्हें वहां ताले लगे मिले। पूछने पर पता चला कि ग्राम पटेल के घर पर पूरे गांव का रसोई[6] का न्योता है।

मेरे गांव के स्कूल का पंचांग

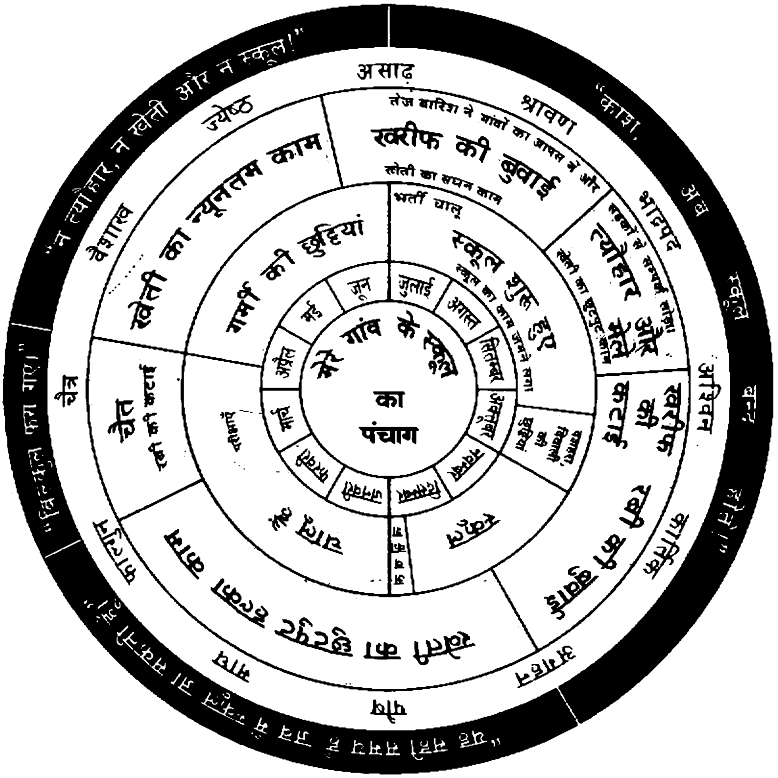

खूलिया में कार्यरत दिल्ली विश्वविद्यालय दल के दूसरे सदस्य (प्रो. विजय वर्मा)[7] के अनुभव भी ऐसे ही थे। दल के दोनों सदस्य अक्तूबर के अंत तक दिल्ली लौट गए। वे अपने साथ ग्रामीण जीवन एवं स्कूली तंत्र के बीच के विरोधाभासों का प्रत्यक्ष अनुभव साथ ले गए। स्कूलों से अपेक्षा है कि वे नियमित काम तब भी करें जब बच्चे अपने मां-बाप की खेतों में मदद करने में व्यस्त हों।

'हम साल में केवल 70 दिन पढ़ाते हैं'

1975 में एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा प्रसारित 'स्कूल के लिए दस वर्षीय पाठ्यक्रम—एक रूपरेखा' में लिखा है, 'एक साल में न्यूनतम 240 दिन काम होना चाहिए जिसमें 220 दिन पढ़ाने के लिए हैं और 20 दिन शिविरों एवं सामुदायिक सेवाओं आदि के लिए।' राज्य के एक वरिष्ठ शिक्षा अधिकारी ने हमें निजी तौर पर बताया कि पाठ्यक्रम दरअसल में मात्र 150-160 दिन के लिए तैयार किया गया है। होशंगाबाद जिले के एक बेहतर प्रबंध वाले स्कूल के प्रधान पाठक ने हमारे सामने निम्नलिखित अनुमान प्रस्तुत किया :

	दिन	कुल
साल में कुल दिनों की संख्या		365
गरमी की छुट्टियां	75	
दशहरा-दीवाली छुट्टियां + शीतकालीन अवकाश	30	
अधिकृत छुट्टियां	18	
रविवार	37	
सरकारी तौर पर कुल दिन जब काम नहीं होता		160
सरकारी तौर पर कार्य दिवस		205
हाट के दिन	18	
बारिश के कारण स्कूल पहुंचने की दिक्कत वाले दिन	25	
भरती के दिन	7	
त्योहार एवं मेले	15	
ग्रामीण सामाजिक प्रसंग*	10	
कृषि कार्य	10	
परीक्षा की तैयारी, निरीक्षण एवं मूल्यांकन की जिम्मेदारी	30	
शिक्षकों के आकस्मिक अवकाश	13	
वेतन दिन	8	
मनमौजी छुट्टियां	5	
गैरसरकारी तौर पर वे दिन जब पढ़ाई नहीं होती		141
वे दिन जब हम पढ़ाते हैं		64

* पटेल एवं गांव के अन्य प्रभावशाली परिवारों द्वारा आयोजित शादी एवं मौत के न्योते तथा कथाएं, जब वहां हाजिरी लगाना अनिवार्य माना जाता है।

स्कूल के विशेषज्ञ, ग्रामीण जीवन में बुवाई और कटाई जैसे काम के दबावों से पूर्णतः अनभिज्ञ दिखते हैं। वार्षिक परीक्षाओं का समय ठीक तभी होता है जब रबी की कटाई

क्रमशः

> चल रही होती है। साप्ताहिक हाट के दिन की उपेक्षा की जाती है जबकि वह एक प्रमुख सामाजिक-आर्थिक दिन होता है। लेकिन ब्रिटिश राज के जमाने से रविवार की छुट्टी की विरासत चली आ रही है। गरमी के महीनों में जब बच्चों के पास अपेक्षाकृत खाली समय होता है तब छुट्टियों के कारण स्कूल बंद होते हैं। देश के शिक्षा तंत्र में ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं मिलता जो यह समझाने को तैयार हो कि करोड़ों ग्रामीण बच्चों के जीवन को प्रभावित करने वाले इस प्रमुख विरोधाभास के पीछे क्या कारण हैं।

हमारा यह दावा है कि कोई भी सही ढंग की कार्यपुस्तक या किट तभी विकसित हो सकती है जब उसे स्कूली हालात में शिक्षकों तथा बच्चों के साथ प्रत्यक्ष अंतःक्रिया द्वारा तैयार किया जाए। हमारे पास ऐसे अनगिनत उदाहरण हैं जब इस प्रकार के प्रत्यक्ष अनुभव के बाद हमें सामग्री में महत्वपूर्ण परिवर्तन करने पड़े जो वैसे कभी हमें सूझते भी नहीं (देखिए पृष्ठ 32-33 और 38 पर दिए गए बॉक्स)। वर्तमान में उपयोग में लाई जा रही अधिकतर पाठ्यपुस्तकें इस अनुभव के बगैर तैयार की गई हैं। दरअसल, फीडबैक इकट्ठा करने और उसका लाभ उठाने के लिए जो तंत्र खड़े किए गए हैं उनका या तो इस्तेमाल ही नहीं होता या फिर वे अविकसित ही रह जाते हैं। इस प्रत्यक्ष अनुभव की कमी का असर स्पष्ट रूप से प्राथमिक शाला की उन कई पाठ्यपुस्तकों में दिखता है जिनमें विज्ञान को प्रयोग-आधारित बनाने का दावा किया गया है। गृहकार्य के नाम पर बच्चों को रॉकेट एंव उपग्रहों के चित्र, अखबारों और पत्रिकाओं से इकट्ठा करने को कहा जाता है। लेकिन इस प्रकार की छपी हुई सामग्री गांव के संपन्न परिवारों में भी शायद ही कभी मिल पाती हो। गरीब परिवारों में तो 'रफ' काम के लिए भी रद्दी कागज के टुकड़े तक नहीं मिल पाते। एक प्रयोग में बर्फ लाने और एक अन्य प्रयोग में ग्लोब की मांग इसी प्रकार के अन्य उदाहरण हैं। संभवतः सबसे अधिक विडंबनापूर्ण उदाहरण मध्य प्रदेश के बच्चों की पुस्तक में लिखा गया यह वाक्य होगा, 'समुद्र के किनारे रहने वाले तुम्हारे मित्र ज्वारभाटा से परिचित होंगे।'

हमारी कार्यपुस्तिका विगत पांच वर्षों में मैदानी परिस्थितियों में निरंतर जांच-पड़ताल की प्रक्रिया के जरिए विकसित हुई है। इसके बावजूद जो पूर्ण रूप से संशोधित सामग्री कार्यक्रम में इस्तेमाल हो रही है उसको भी मात्र कामचलाऊ ही माना जा रहा है। यह तय है कि इस सामग्री को भी आगे कई परिवर्तनों में से गुजरना होगा ताकि इसमें जीवन की वास्तविकता सही ढंग से प्रतिबिंबित हो सके। इस बीच मध्य प्रदेश शासन द्वारा स्वीकृत कार्यपुस्तक का वर्तमान प्रारूप मध्य प्रदेश पाठ्यपुस्तक निगम द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है।

कांटे और परखनलियां : विज्ञान किट

'हम एक गरीब देश के निवासी हैं; प्रयोगों के लिए किट नहीं दे सकते। 'खोजी पद्धति' एक ऐसी विलासिता है जो केवल संपन्न देशों के लिए ही संभव है।' इस प्रकार के बहाने

हम सबने कितनी ही बार सुने होंगे। इन बहानों के पीछे जो मिथक है उसके अनुसार विज्ञान के प्रयोग केवल कांच के बने हुए जटिल उपकरणों, महंगे रसायनों एवं अतिपरिष्कृत भौतिकीय यंत्रों के जरिए ही किए जा सकते हैं। हमारा अनुभव इससे ठीक उलटा है। इस प्रकार के अतिपरिष्कृत यंत्रों का उपयोग न केवल गैरजरूरी है बल्कि कई बार अवांछनीय भी है। इसके कारण विज्ञान रहस्यमयी बनता है और जीवन के दैनिक यथार्थ से और भी अधिक कटता जाता है।

हमने जो किट विकसित की वह कार्यपुस्तक के अनुरूप थी, प्रदर्शन किट नहीं थी। तीन कक्षाओं में बंटे हुए 120 विद्यार्थियों वाले एक औसत स्कूल के लिए इस किट की मूल कीमत 1,000 रुपए से थोड़ी ही ज्यादा थी। अपने वर्तमान स्वरूप में इसकी कीमत लगभग 800 रुपए रह गई है। इस्तेमाल कर ली गई तथा टूटने-फूटने वाली सामग्री की क्षतिपूर्ति कीमत प्रति स्कूल, प्रति वर्ष लगभग 150 रुपए है यानी औसतन प्रति विद्यार्थी प्रति वर्ष 1.25 रुपए की जरूरत होगी।[8] किट की मूल कीमत कम करने के लिए कुछ सामग्री को एक से अधिक प्रयोगों के अनुकूल बनाया गया और महंगी सामग्री की जगह स्थानीय स्तर पर उपलब्ध सस्ती वस्तुओं का उपयोग किया गया है (देखिए पृष्ठ 38 पर दिया गया बाक्स)। उदाहरण के लिए, जीवविज्ञान में चीरफाड़ करने वाली सुइयां (डिसेक्शन नीडल) किट से निकाल ली गईं और उनकी जगह शून्य-कीमत का 'बबूल का कांटा' जोड़ा गया है। अम्ल-क्षार के टाइट्रेशन को करने के लिए कांच या प्लास्टिक के बने ड्रापर उपयुक्त पाए गए हैं जिनके जरिए उदासीनीकरण की अवधारणा को बच्चे पर्याप्त विशुद्धता के साथ आत्मसात कर लेते हैं।

विषयवस्तु का विकास

एक उन्मुखीकरण शिविर में किसी शिक्षक ने सवाल पूछा, 'क्या जीवित वस्तुओं में विविधता होती है?' इसके जवाब में वहां मौजूद एक जीवविज्ञानी (स्रोत व्यक्ति) ने शिक्षकों को चुनौती दी कि वे कोई भी दो हूबहू एक समान पत्तियां तोड़कर लाएं। एक बहुत ही मजेदार लेकिन हतोत्साहित करने वाली खोज शुरू हुई। कई बार शिक्षकों को लगा कि उन्हें हूबहू एक समान पत्तियां मिल गई हैं किंतु शीघ्र ही सूक्ष्म अवलोकन के बाद उन्हें पता चला कि उनमें छोटे-छोटे अंतर हैं। उनकी अपनी उंगलियों की तुलना करने से प्रमाणित हो गया कि विविधता से बचा नहीं जा सकता। इससे स्रोत व्यक्ति बहुत ही उत्साहित हुए। इस अनुभव में एक नए पाठ की सामग्री निहित थी जिसका नामकरण शिक्षकों ने तुरंत ही कर दिया—जीवजगत में विविधता।

शिक्षकों के चिंतन में आमतौर पर नियति के प्रति विश्वास दिखता था। इसके कारण तार्किक विश्लेषण में बाधा आती थी और बच्चों के ऊपर अप्रत्यक्ष रूप से इसका असर पड़ता था। एक बार जब उनके सामने दो ऐसे खेतों का मामला पेश किया गया जो दिखने

में तो एक जैसे थे लेकिन उनके उत्पादन में काफी फर्क था। उन्होंने तुरंत ही इस अंतर का कारण खेत के मालिकों की नियति बताया। मिट्टी के प्रकार, बीज बोने की दर, रासायनिक खादों का इस्तेमाल आदि कारकों की पूर्णतः उपेक्षा की गई। तार्किकता की यह कमी उनकी चर्चा को आगे बढ़ाने की क्षमता को गंभीर रूप से प्रभावित करती थी। अतः एक भौतिकशास्त्री ने संयोग और संभावना के विषय पर अपने आप में एक निराला पाठ विकसित किया। सिक्कों, पांसों एवं कंचों की मदद से विद्यार्थियों को रेंडम अंकों, वितरण और संभाविता के नियमों से परिचित करवाया गया। इसी के साथ-साथ उन्होंने तालिकाओं, स्तंभालेखों, ग्राफ और औसत मानों के रूप में भारी-भरकम आंकड़ों से जूझना भी सीखा।

सचेत निर्णय लिया गया कि जीवविज्ञानी वर्गीकरण की लातिनी शब्दावली के बोझ से बचा जाएगा। बच्चों को प्रोत्साहित किया जाता था कि वे वर्गीकरण की अपनी प्रणालियां बनाएं और ऐसा करते हुए उनके पीछे निहित सिद्धांतों की खोज करें। उदाहरण के लिए, बच्चे स्वाभाविक रूप से जानवरों को निम्न प्रकार के समूहों में वर्गीकृत करना पसंद करते हैं—'वे जानवर जो जमीन पर रहते हैं', 'वे जानवर जो पानी में रहते हैं' और 'वे जानवर जो उड़ते हैं', न कि 'मेरुदंडधारी' और 'मेरुदंडविहीन' के समूहों में।

अधिकांश शिक्षकों की अपेक्षाकृत अभिजात्य मूल्य प्रणाली के कारण सीखने की प्रक्रिया में गंभीर बाधाएं पैदा होती हैं। यह भी एक कारण है कि हम कृषि के इर्द-गिर्द लोगों का जुड़ाव बनाकर उसे शिक्षण का आधार नहीं बना पाए। स्कूल के बाहर औपचारिकेतर कार्यक्रम से जुड़े हुए भूमिहीन तथा सीमांत किसानों के बच्चों के मामले में इस प्रकार के अवरोध नहीं थे। अवरोधक कारकों में सामाजिक और सांस्कृतिक कारक भी शामिल हैं। आंतरिक रचना और भ्रूण के विकास का अध्ययन करने के लिए शिक्षक क्रमशः मेंढक और मुर्गी के अंडे की चीरफाड़ करने को तैयार नहीं थे। इस प्रकार की गतिविधियों को करने के लिए बच्चों को अकेले छोड़ दिया जाए क्योंकि उनमें मुक्त अनुक्रिया और स्वाभाविक जिज्ञासा होती है।

पाठ्यक्रम के विकास में शिक्षकों और बच्चों द्वारा निभाई गई महत्वपूर्ण भूमिका अब हमारे लिए एक स्वीकार्य मूल्य बन चुका है। स्कूल में सीखने का समय सीमित है। सामाजिक-आर्थिक विरोधाभास और ग्रामीण समुदाय की आवश्यकताओं के कारण शैक्षिक प्राथमिकताएं अवश्य प्रभावित होंगी। किसी भी विषयवस्तु को महत्व देना है या नहीं, यह तय करने के लिए ऐसे कारक बुनियाद माने गए हैं। इन सीमाओं के बावजूद हम दैनिक जीवन की कई दिलचस्प घटनाओं का अध्ययन कर पाए। 'आकाश की ओर' के अध्याय में आकाश का अध्ययन किया गया, 'मिट्टी' के अध्याय में मिट्टी का, 'हमारी फसलें और समूहीकरण' के अध्याय में फसलों का, 'फसलों के दुश्मन' में फसलों की बीमारियों एवं कीड़ों का, 'मिट्टी, पत्थर और चट्टानें' में स्थानीय भूगर्भशास्त्र का एवं स्थानीय पौधों एवं जंतुओं का अध्ययन पाठों की एक पूरी शृंखला में किया गया है जिसमें 'जड़ और पत्ती', 'फूल और फल', 'कीड़ों की दुनिया' और 'जंतुओं का समूहीकरण' नामक अध्याय शामिल हैं।

होविशिका में गतिविधि के जरिए सीखने के प्रति कटिबद्धता के कारण बच्चों को ऐसी विकसित वैज्ञानिक अवधारणाएं सीखने में दिक्कत आती है जिन्हें वैज्ञानिकों ने दीर्घकालीन परिश्रम और जटिल शोध के द्वारा समझा है। हम, बच्चों को मानव शरीर की आंतरिक रचना की बारीकियों, अमूर्त रासायनिक संकेतों एवं परमाणु और अणु संरचना से सीधे परिचित नहीं करवा पाए। उदाहरण के लिए, अणु की अवधारणा को समझाने के लिए निम्नांकित दो प्रकार के प्रयोगों को करना पड़ेगा—(क) रासायनिक क्रियाओं के नियम और (ख) गति (मोशन) संबंधी ब्राउनियन के नियम या तेल की परत को महीन बनाने की सीमाएं। इनमें से पहला प्रयोग एक इकाई के अस्तित्व की अनिवार्यता को स्थापित करता है जबकि अगला इस इकाई के एक निश्चित आकार का प्रमाण देता है। कई पाठ्यपुस्तकें पानी में चीनी के घुलने की क्रिया या तापमान बढ़ाने पर इसके साथ घुलनशीलता के बढ़ जाने को आणविक सिद्धांत का आधार बताती हैं। लेकिन गतिशील आणविक सिद्धांत से इसका कोई लेना-देना नहीं है। न्यूटन से लेकर डाल्टन तक के सभी महान वैज्ञानिकों ने पानी में चीनी घुलते हुए देखी थी लेकिन इसके सहारे अणुओं के संबंध में वे कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सके। इस अवधारणा को विकसित करने के लिए रासायनिक प्रयोगों का प्रमाण आवश्यक था। हमारा मानना है कि ऐसी अवधारणाओं को तब तक न बताया जाए जब तक कि बच्चों में प्रायोगिक कौशल एवं तार्किक निष्कर्ष निकालने की क्षमता इतनी विकसित न हो जाए कि वे अन्य लोगों द्वारा किए गए प्रयोगों को समझ सकें (हमारा सुझाव है कि ऐसी स्थिति में सही ढंग की पूरक पाठ्यसामग्री का उपयोग किया जाए। ऐसी सामग्री को विकसित करना आज की तात्कालिक आवश्यकता है)।

'खोजी' परीक्षाएं

कुछ वर्ष पूर्व वैज्ञानिकों के एक स्वैच्छिक समूह ने चंद शहरी स्कूलों में 'खोजी पद्धति' की शुरुआत करवाई थी। लगभग ढाई वर्षों तक शिक्षकों तथा बच्चों ने पूरे जोश-खरोश के साथ प्रयोग किए। विज्ञान को रटने के दिन टल गए। लेकिन जैसे-जैसे बोर्ड परीक्षाएं करीब आने लगीं वैसे-वैसे एक सवाल शिक्षकों को परेशान करने लगा—'बच्चों को किस प्रकार की परीक्षा से गुजरना पड़ेगा?' संबंधित अधिकारियों ने लेशमात्र भी परिवर्तन करने से इनकार कर दिया और यह आदेश दिया कि ये स्कूल भी पारंपरिक स्कूल बोर्ड परीक्षाओं में से गुजरें। शिक्षकों ने तुरंत पीछे को दौड़ लगाई और अगले कुछ महीनों में परीक्षा में अपेक्षित सवालों के पूर्व निर्धारित उत्तर बच्चों के गले उतार दिए।

हमने शुरू से ही इस बात की पुरजोर मांग रखी थी कि हमें अपनी परीक्षा प्रणाली विकसित करने की पूरी छूट दी जाए। मध्य प्रदेश शासन ने दूरदृष्टि दिखाते हुए हमें सोलह स्कूलों में विज्ञान विषय में स्वतंत्र परीक्षा निकाय के रूप में मान्यता दे दी।[9] स्वतंत्र अवलोकन, आंकड़ों के संकलन, मुक्त चिंतन एवं तार्किक प्रक्रिया के गुणों के परीक्षण की विधियां

विकसित की गईं। हम इस बात का भी परीक्षण करते हैं कि बच्चे की किस हद तक तैयारी है कि वह किसी नई समस्या का समाधान करने के लिए अपने हाथों से प्रयोग करके कोई नवाचार कर सके। यह सब करने के लिए आंशिक रूप से 'खुली पुस्तक' (ओपन बुक) वाली लिखित परीक्षा और एक प्रायोगिक परीक्षा का सहारा लिया जाता है। याद करके उत्तर देने की क्षमता को सीमित महत्व दिया जाता है।

इन्हीं मूल्यांकन लक्ष्यों को लेकर ऐसी कटिबद्धता सरकारी परीक्षा निकायों द्वारा अभिव्यक्त की जाती है। यह दावा किया जाता है कि नए वस्तुनिष्ठ प्रश्न ('आब्जेक्टिव' सवाल) इन लक्ष्यों की पूर्ति करते हैं। सरकारी परीक्षा से लिया गया निम्नांकित उदाहरण दिखाता है कि ये तथाकथित वस्तुनिष्ठ प्रश्न मात्र स्मरण शक्ति का ही परीक्षण करते हैं।

सही उत्तर चुनो और उन्हें अपनी उत्तर पुस्तिकाओं में लिखो :

1. निम्नलिखित में से किन इकाइयों का उपयोग विद्युतीय परिवर्तन की मात्रा को दिखाने के लिए किया जाता है?
   (क) कूलोंब (ख) एंपीयर (ग) वोल्ड (घ) ओह्म।
2. पेप्सीन नामक एंजाइम
   (क) छोटी आंत के पाचक रस (ख) रक्त (ग) आमाशय के पाचक रस (घ) पित्त (बाइल) रस में पाया जाता है।

नीचे दिए गए प्रश्नों के कुछ नमूनों के जरिए हमने यह दिखाने का प्रयास किया है कि 'खोजी पद्धति' के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए हम किस प्रकार का मूल्यांकन करते हैं :

कक्षा 6

1. एक वैज्ञानिक ने दो अलग-अलग प्रजातियों के कुछ कीड़ों को एक लंबी कांच नली के मध्य में रख दिया। उसने नली के दोनों सिरों को सील बंद करके उसे इस प्रकार रखा कि उसका एक सिरा सूरज की रोशनी में रहे और दूसरा छांव में। एक घंटे बाद उसने देखा कि वे दोनों प्रजातियों के कीड़े अलग-अलग हो गए हैं—एक प्रजाति सूरज की रोशनी वाले सिरे पर इकट्ठी हो गई और दूसरी छांव वाले सीरे पर।

इस प्रयोग से तुम क्या निष्कर्ष निकालोगे?

कक्षा 7

2. 'क' और 'ख' दो परखनलियों में एक गैस इकट्ठी की गई। 'क' परखनली में नीले थोथे (कापर सल्फेट) का घोल डालने पर काला रंग पैदा हुआ। 'ख' परखनली को थोड़ी देर के लिए उलटा करके पकड़ा गया। जब इस परखनली में नीले थोथे का घोल डाला गया तो कोई भी रंग नहीं बना।

इन आलोकनों के आधार पर उक्त गैस के कौन से गुणधर्म पहचाने जा सकते हैं?

कक्षा 8

3. तुम्हें लकड़ी की एक पट्टी, थोड़ा सा धागा और पत्ते के बने दो दोने दिए गए हैं। इनका उपयोग करते हुए एक विश्वसनीय तराजू बनाओ।

इन खोजी परीक्षाओं के प्रति बच्चों की प्रवृत्ति में उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ है। उन्हें अब यह नहीं लगता कि आखिरी मिनट तक परीक्षा की तैयारी करने की जरूरत है (इस प्रकार की परीक्षा के लिए यदि कोई चाहे भी तो कोई तैयारी नहीं की जा सकती)। हमारे पास आज खुली पुस्तक वाली लिखित परीक्षा की 3,500 से अधिक तथा मौखिक प्रायोगिक परीक्षा से प्राप्त 3,000 उत्तर पुस्तिकाएं हैं जो कि विगत पांच वर्षों में किए गए मूल्यांकन से मिली हैं। इनमें से प्रत्येक से हमें 'खोजी पद्धति' के प्रति बच्चों की प्रतिक्रिया के संबंध में अमूल्य जानकारी मिलती है जिसके विश्लेषण से हम अपने कार्यक्रम की प्रभावशीलता एवं प्रासंगिकता का निरंतर मूल्यांकन कर पाते हैं और समय-समय पर महत्वपूर्ण परिवर्तन करना संभव हुआ है।

बौद्धिक निधि

वार्षिक मूल्यांकन एवं उन्मुखीकरण शिविरों के दौरान हम लोगों के बीच एक मजाक चलता रहता है—किसी भी दिशा में एक पत्थर फेंको तो वह या तो किसी पी-एच.डी. प्राप्त व्यक्ति को लगेगा या फिर किसी पी-एच.डी. करने वाले को। ये वे मौके होते हैं जब अखिल भारतीय विज्ञान शिक्षक संघ, दिल्ली विश्वविद्यालय, टाटा आधारभूत शोध संस्थान, भारतीय तकनीक संस्थान, मध्य प्रदेश के स्नातकोत्तर कालेज एवं अन्य जगहों से स्रोत दल के सदस्य रसूलिया या बनखेड़ी में इकट्ठे होते हैं। देर रात तक गहन चर्चाएं चलती हैं जो अकसर दिल्ली विश्वविद्यालय के कॉफी हाउस या टाटा आधारभूत शोध संस्थान (मुंबई) की पश्चिम कैंटीन तक पहुंच जाती हैं जहां डोलरिया, जुहैटा, चारगांव तथा निंसाड़िया जैसे दूरस्थ गांवों की सच्ची तसवीर उभर आती है।

1973 में दिल्ली विश्वविद्यालय समूह की इस कार्यक्रम में सहभागिता को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग एवं विश्वविद्यालय का औपचारिक समर्थन प्राप्त हुआ। देश में यह पहली बार हुआ था कि कोई विश्वविद्यालय समूह स्कूली शिक्षा को सुधारने के लिए औपचारिक रूप से जुड़ा हो। विश्वविद्यालय के शिक्षकों ने एक-एक करके मैदानी स्तर पर एक-एक सत्र लगाया। इस सघन भागीदारी के फलस्वरूप विश्वविद्यालय समूह की जमीनी विरोधाभासों एवं हालात के बारे में चेतना जागी है। मध्य प्रदेश के स्नातकोत्तर कालेज के एक शिक्षक जल्द ही विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की शिक्षावृत्ति लेकर हमारे साथ तीन साल के लिए

काम करने लगेंगे। उच्च शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य के बारे में देश भर में चल रही बहस में ये महत्वपूर्ण मील के पत्थर हैं। विश्वविद्यालय स्तर पर भी शिक्षा में व्यापक परिवर्तनों की जरूरत है। लेकिन ऐसे परिवर्तन स्कूल स्तर के सुधारों से पहले और किसी भी हालत में उनसे कटकर तो हो ही नहीं सकते। दरअसल, स्कूली स्तर पर कोई भी सार्थक सुधार अंततः विश्वविद्यालय को सुधार के लिए बाध्य करेगा। लेकिन जब तक औपचारिक रूप से पदोन्नति (प्रमोशन) एवं अतिरिक्त सुविधाओं से संबंधित मूल्यों को पुनर्परिभाषित नहीं किया जाएगा तब तक देश के विश्वविद्यालयों की व्यापक संभावना का शैक्षिक परिवर्तन के लिए उपयोग नहीं हो पाएगा।

यहां से अब हम आगे किधर जाएं? मध्य प्रदेश शासन को हमने एक ठोस प्रस्ताव दिया है कि वह इस कार्यक्रम का नेतृत्व अपने हाथ में ले और इसका परीक्षण तहसील या जिला स्तर पर करे। यदि शैक्षिक नवाचार केवल एक मॉडल के रूप में रखा जाएगा तो उसका मूल्य सीमित होगा। उसके प्रभावशाली और सामाजिक रूप से सार्थक होने के लिए आवश्यक है कि नवाचार व्यापक शिक्षा तंत्र का हिस्सा बन जाए। अन्यथा, यह तीर्थयात्रा हेतु महज एक टापू बन कर रह जाएगा।

अध्यापक शिक्षण के जरिए कार्यक्रम को फैलाने की संभावना दो अलग-अलग मौकों पर जांची जा चुकी है। मई 1975 में कार्यक्रम से जुड़े हुए कुछ शिक्षकों ने भोपाल स्थित क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय (एन.सी.ई.आर.टी.) में मध्य प्रदेश के बुनियादी शिक्षा संस्थानों से आए हुए व्याख्याताओं के समूह के सामने 'खोजी पद्धति' का प्रदर्शन किया। पांच महीने बाद उन्होंने नवनियुक्त शिक्षकों के एक समूह को सफलतापूर्वक प्रशिक्षित किया। अतः होशंगाबाद समूह इस प्रकार शासकीय शिक्षा विभाग में एक स्रोत समूह खड़ा करने में मदद दे सकता है। साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि एन.सी.ई.आर.टी., राज्य शिक्षा संस्थान तथा अध्यापक शिक्षण संस्थान जैसी सरकारी एजेंसियां अपनी पारंपरिक भूमिका के बारे में सवाल उठाएं और उसे पुनर्भाषित करें।

हमारा विश्वास है कि होशंगाबाद प्रयोग के कारण यह संभव हुआ है कि परिवेश-आधारित 'खोजी पद्धति' के जरिए सीखने की अवधारणा को परिसंवाद कक्षों से बाहर निकालकर ग्रामीण स्कूलों के यथार्थ के धरातल पर टिकाया जा सका। इस प्रयास की भावी सफलता सरकार की राजनीतिक इच्छाशक्ति तथा अकादमिक समुदाय की भारत के ग्रामीण स्कूलों में बेहतर शिक्षा के प्रति कटिबद्धता पर निर्भर करेगी।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. होविशिका के इस प्रथम शिविर के स्रोत दल के सदस्य : श्री भास्कर पित्रे एवं श्री चंद्रकांत दीक्षित (दोनों ही अखिल भारतीय विज्ञान शिक्षण संघ एवं दून स्कूल से), प्रो. यशपाल एवं डॉ. वी.जी. कुलकर्णी (दोनों ही टाटा आधारभूत शोध संस्थान, मुंबई से), श्री सुदर्शन कपूर (मित्र मंडल केंद्र, रसूलिया) एवं डॉ. अनिल सद्गोपाल (किशोर भारती, बनखेड़ी).

2. होविशिका के आरंभिक चरण में इसका शिक्षाशास्त्रीय सिद्धांत 'खोजी पद्धति' (डिस्कवरी अप्रोच) के नाम से प्रचलित हुआ. लेकिन कालांतर में हमें समझ में आया कि यह नाम शिक्षाशास्त्र की दृष्टि से सही नहीं है चूंकि बच्चे इसमें केवल स्वतंत्र 'खोज' के जरिए नहीं सीखते; उनकी खोज को संभव बनाने के लिए कार्यपुस्तकों में कई प्रकार के मार्गदर्शक प्रश्न एवं संकेत मौजूद थे और साथ में एक प्रशिक्षित शिक्षक भी. 1978 के जिला-स्तरीय प्रसार के समय तक कार्यक्रम के शिक्षाशास्त्रीय सिद्धांत को 'गतिविधि-आधारित शिक्षण' या लोकप्रिय भाषा में 'खुद करके सीखो' की संज्ञा दी गई. यह नाम इसलिए भी ज्यादा सटीक था चूंकि कार्यक्रम के इस चरण तक पहुंचते-पहुंचते इसके पाठ्यक्रम में प्रयोगों के अलावा परिभ्रमण, सर्वेक्षण के जरिए आंकड़ों का संकलन, परिवेश का वर्णन, नई-नई सामग्री का सृजन करना जैसी अनेक गतिविधियां शामिल कर ली गई थीं जो बच्चों के समग्र वैज्ञानिक विकास के लिए आवश्यक थीं.
3. साठ के दशक में मध्य प्रदेश शासन ने प्राथमिक एवं उत्तर-प्राथमिक स्तर के पाठ्यक्रम में से चित्रकला (ड्राइंग और पेंटिंग) को एक विषय के रूप में निकाल दिया था. तब से आज तक मध्य प्रदेश के स्कूली बच्चे चित्रकला का काम केवल शौकिया तौर पर कभी-कभार करते हैं (उदाहरणतः, प्रतियोगिता के समय). सरकार के इस अजीबोगरीब निर्णय ने शिक्षा के बुनियादी सिद्धांतों का उल्लंघन करके कई पीढ़ियों को नुकसान पहुंचाया है.
4. सत्तर के दशक में औपचारिकेतर (नॉन-फार्मल) शिक्षा एवं प्रौढ़ साक्षरता कार्यक्रम नहीं थे, अन्यथा उनके लिए भी शिक्षकों को ले जाया जाता जैसा कि आजकल होता है.
5. वर्तमान में भौतिकी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, के प्रोफेसर राजरूप.
6. परिवार के किसी सदस्य की मौत के बाद दिया गया भोज.
7. 1973-77 के बीच दिल्ली विश्वविद्यालय के कई शिक्षकों के लिए होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में भाग लेने हेतु विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की ओर से 'टीचर फेलोशिप' का विशेष प्रावधान किया गया था और विश्वविद्यालय ने 'कर्तव्यस्थ अवकाश' की सुविधा दी थी. इसी मिसाल को लेकर 'टीचर फेलोशिप' का प्रावधान 1988-90 में राष्ट्रीय प्रौढ़ साक्षरता मिशन और 1997-99 में भारत जन विज्ञान जत्था द्वारा संचालित लोकशाला कार्यक्रम के लिए भी किया गया.
8. इसी वजह से होविशिका को मध्य प्रदेश में 'सवा रुपए में विज्ञान' के रूप में ख्याति मिली.
9. इस मान्यता के ऐतिहासिक महत्व एवं दीर्घकालीन शैक्षिक निहितार्थ पर विचार करने की जरूरत है. 1975 से रसूलिया और किशोर भारती दोनों स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा 16 स्कूलों में कक्षा आठ के विज्ञान विषय में लगभग 400 विद्यार्थियों का जो मूल्यांकन किया जाता था उसे पांच जिलों में कक्षा आठ की परीक्षा लेने वाले सरकारी 'संभागीय परीक्षा बोर्ड' की अंक-पत्रिका में शामिल कर लिया जाता था. यानी, इन संस्थाओं को प्रदेश सरकार ने परीक्षा बोर्ड के तुल्य मान लिया था. यही मान्यता 1978 में जिला-स्तरीय प्रसार के बाद 220 स्कूलों में कक्षा आठ (लगभग 7,000 विद्यार्थी) के संदर्भ में भी बरकरार रही (हालांकि तब औपचारिक तौर पर मूल्यांकन की जिम्मेदारी संभागीय शिक्षा कार्यालय में नवगठित 'विज्ञान इकाई' द्वारा उठाई जाने लगी थी). 1982-83 में जब 'एकलव्य' का गठन हुआ तो यही मान्यता इस नवनिर्मित संस्था को हस्तांतरित कर दी गई. कालांतर में जब 'एकलव्य' ने उत्तर-प्राथमिक स्तर पर सामाजिक अध्ययन में नवाचार किया तो इसी मिसाल का उपयोग करके बोर्ड परीक्षा की मान्यता का विस्तार सामाजिक अध्ययन के लिए भी कर दिया गया. यानी, 'होविशिका' के दौरान गंगाजल जैसे पवित्र औपनिवेशिक परीक्षा तंत्र को झकझोरना संभव हुआ है. इसका निहितार्थ स्पष्ट है—इस परीक्षा तंत्र को देश भर में झकझोरा जा सकता है—पूर्व शर्त यही है कि शैक्षिक हस्तक्षेप में जुटे हुए नागरिक समाज के समूहों की अपनी दृष्टि स्पष्ट हो.

2. स्कूली तंत्र में हस्तक्षेप

इतिहास के आईने में

होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम (होविशिका) का ऐतिहासिक महत्व इसलिए है कि इसके तहत शिक्षा की मुख्यधारा से बाहर कोई निराला स्कूल या केंद्र स्थापित करने का मोह कभी नहीं पाला गया। बल्कि इतिहास से यह सबक लिया कि शिक्षा की मुख्यधारा से हटकर शुरू किए गए दो महान प्रयोग—महात्मा गांधी की नई तालीम की सेवाग्राम में पहलकदमी और गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर द्वारा शांतिनिकेतन की स्थापना—अंततः अलग-थलग पड़ गए और मुख्यधारा को प्रभावित करने की जगह स्वयं शिथिलीकरण का शिकार हुए। अतः होविशिका का बुनियादी सिद्धांत था शिक्षा की मुख्यधारा को—यानी सरकारी स्कूलों को—बदलने का काम उठाना। इसके लिए शिक्षा तंत्र के भीतर जो भी नए ढांचे खड़े करने हैं और प्रक्रियाएं स्थापित करनी हैं, उनके लिए सृजनात्मक प्रयास करना। इसी तार्किक कड़ी में अंततः शिक्षा नीति में परिवर्तन के काम उठाए गए। इस पूरे शिक्षा कर्म को शैक्षिक मुख्यधारा में नागरिक समाज के समूहों द्वारा एक हस्तक्षेप के रूप में देखा गया। यह हस्तक्षेप तभी तक हस्तक्षेप है जब तक इसकी पहल, दिशा एवं कार्यशैली हस्तक्षेप करने वाले समूहों की अपनी समझ के अनुसार तय होती है और जब तक इसका एजेंडा उनके अपने हाथों में रहता है। जिस क्षण इस पहलकदमी और एजेंडे की बागडोर इन समूहों द्वारा राज्य तंत्र अथवा उत्तर-जोमतियन चरण में[1] भारत में आई विश्व बैंक, यूरोपियन समुदाय जैसी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं को सौंप दी जाती हैं, उसी क्षण हस्तक्षेप राज्य तंत्र या वैश्वीकरण में समाहित हो जाता है। इसीलिए हस्तक्षेप करने वाले समूह की विश्वदृष्टि शैक्षिक हस्तक्षेप के राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक चरित्र व दिशा को परिभाषित करेगी। निम्नलिखित आलेख इस विश्वास से प्रस्तुत किया जा रहा है कि होविशिका द्वारा किए गए हस्तक्षेप पर यह आत्मसमीक्षा हस्तक्षेप की सीमाओं और संभावनाओं को समझने का वस्तुनिष्ठ आधार देगी।

मूल स्रोत : यह आलेख किशोर भारती में अक्तूबर 1983 में होविशिका की समीक्षा हेतु आयोजित छह-दिवसीय बैठक में मेरे द्वारा प्रस्तुत वक्तव्यों पर आधारित है जिन्हें कैसेट पर दर्ज किया गया था. बाद में इस विवरण को किशोर भारती के दो सदस्यों—डॉ. सुशील जोशी एवं डॉ. साधना सक्सेना—ने कैसेट से उतारा और संपादित किया.

पूरक स्रोत : 'इवॉल्विंग सिस्टम्स फॉर दि इंट्रोडक्शन एंड डिफ्यूज़न ऑफ एजुकेशनल इन्नोवेशंस—माइक्रो-लेवल एक्सपेरिमेंट्स टु मैक्रो-लेवल एक्शन', किशोर भारती समूह के सहयोग सहित 'संस्थान' ('एकलव्य' नामकरण के पूर्व का 'संस्थान') का संस्थापक समूह, फरवरी 1982.

नवाचार का सूत्रपात

मई 1971—मित्र मंडल केंद्र रसूलिया[2] होशंगाबाद (मध्य प्रदेश) से मात्र एक किलोमीटर दूर। उस समय विख्यात गांधीवादी शिक्षाविद सुश्री मार्जरी साइक्स, रसूलिया को मार्गदर्शन दे रही थीं। कुछ समय पूर्व ही रसूलिया ने वर्षों से चला आ रहा अपना बुनियादी स्कूल बंद किया था चूंकि उसमें गांधी की बुनियादी शिक्षा के अलावा सब कुछ था। सरकारी 'बुनियादी शालाओं' की तर्ज पर ही इस स्कूल में भी बुनियादी का अर्थ केवल साइनबोर्ड पर पढ़ा जा सकता था। यानी वहां आम सरकारी पाठ्यक्रम चलता था। ऐसे स्कूल का कोई औचित्य न देखते हुए इसको बंद करवाया गया। यहीं से मार्जरी बहन ने सवाल उठाया कि शिक्षा के क्षेत्र में रसूलिया क्या कर सकता है। उन्होंने केंद्र की संचालन समिति एवं कार्यकर्ताओं के सामने दो पूर्व शर्तें रखीं। पहली, काम जो भी हो वह शिक्षा में दिशा परिवर्तन का हो, केवल यथास्थित को बनाए रखने का नहीं। दूसरी शर्त थी कि काम सरकारी स्कूली तंत्र की मुख्यधारा को बदलने का होना चाहिए, न कि उसके समानांतर एक अलग स्कूली व्यवस्था खड़ी करने का। इन दोनों पूर्व शर्तों ने रसूलिया के युवा संचालक सुदर्शन कपूर को सोचने को बाध्य किया।

एक शाम टहलते हुए मैंने सुदर्शन को अखिल भारतीय विज्ञान शिक्षक संघ के भौतिकी अध्ययन दल की कहानी सुनाई। चूंकि इस कहानी ने भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा है अतः इस कहानी को विस्तार से दोहराना आवश्यक है।

साठ के दशक के बीच में उत्तरी भारत के चंद पब्लिक (यानी प्रायवेट) स्कूलों में विज्ञान पढ़ाने वाले कुछ शिक्षकों ने मिलकर एक पहल की थी। यह पहल उनके अपने शिक्षण के अनुभवों का नतीजा थी। इन अभिजात स्कूलों में भी शिक्षा की परिपाटी बुनियादी तौर पर आम स्कूलों की परिपाटी से भिन्न नहीं थी। यहां भी मुख्य जोर जानकारी को कंठस्थ करने पर ही था। अच्छे विद्यार्थी की पहचान का मापदंड भी वही था यानी परीक्षा के समय जानकारी को उगल देने की क्षमता। विज्ञान विषय में वैज्ञानिक मानसिकता का विकास, वैज्ञानिक पद्धति और अवधारणाओं की समझ, तार्किक विश्लेषण आदि व्यवहार में शिक्षण के उद्देश्य नहीं माने जाते थे। अतः इसको बदलने के लिए दून स्कूल के भौतिकी के शिक्षक श्री भास्कर पित्रे के नेतृत्व में पांच-छह पब्लिक स्कूलों के शिक्षकों ने अपनी पहल पर भौतिकी अध्ययन के ऐसे प्रयोगों की शृंखला तैयार की जो छठी कक्षा में बच्चे स्वयं कर सकते थे।[3] स्वाभाविक था कि उनका संदर्भ पब्लिक स्कूल में उपलब्ध साधनयुक्त प्रयोगशाला का था, न कि आम सरकारी स्कूलों की सुविधाहीनता का। लेकिन तब भी जो मुद्दा उन्होंने उठाया वह पूरी भारतीय शिक्षा के लिए बुनियादी महत्व का था। उनके द्वारा प्रयोगों की शृंखला पर आधारित पुस्तक *फिजिक्स थ्रू एक्सपेरिमेंट्स* ('प्रयोगों के जरिए भौतिकी') को देखते ही इस पाठ्यक्रम में निहित निम्नलिखित मान्यताएं उभर आती थीं :

- विज्ञान शिक्षण का उद्देश्य मात्र जानकारी ठूंसना नहीं वरन अवधारणाओं को विकसित करना है।
- विज्ञान सीखने की प्रक्रिया यानी वैज्ञानिक पद्धति उतनी ही महत्वपूर्ण है जितना कि उससे मिलने वाले ज्ञान का प्रतिफल।
- मिडिल स्कूल स्तर पर बच्चे (आयु समूह 11-14 वर्ष) स्वयं प्रयोग करके, आंकड़े इकट्ठे करके और उनका विश्लेषण करके वैज्ञानिक निष्कर्ष निकाल सकते हैं।
- इस पद्धति में शिक्षक की भूमिका व्याख्यान देने की नहीं रह जाती वरन प्रयोग करने में बच्चों की मदद करने की हो जाती है। शिक्षक का मुख्य काम बच्चों द्वारा स्वयं सीखने की प्रक्रिया को सुलभ बनाना है।

साठ के दशक में जब भौतिकी अध्ययन दल का यह काम चल रहा था तब एन.सी.ई.आर.टी. की ओर से एक राष्ट्र-स्तरीय पहलकदमी हो रही थी। सभी विषयों और सभी कक्षाओं के लिए पाठ्यपुस्तकें तैयार करने हेतु उच्च-स्तरीय अध्ययन दलों का गठन किया गया था। इन दलों का नेतृत्व आमतौर पर विश्वविद्यालयों के वरिष्ठ प्राध्यापकों के हाथ में था। इनमें स्कूली शिक्षकों की भागीदारी नाममात्र की थी।

अध्ययन दलों की इस संरचना और प्रक्रिया में एन.सी.ई.आर.टी. की शैक्षिक समझ स्पष्ट रूप से उभरकर आई। इस समझ के निम्नांकित पहलुओं को रेखांकित किया जा रहा है :

- वैज्ञानिक जानकारी को ज्ञान का पर्याय मान लिया गया। ज्ञान की यह संकीर्ण परिभाषा आज तक सरकारी संस्थानों में पाठ्यक्रम नियोजन और पाठ्यपुस्तक लेखन का प्रमुख आधार बनी हुई है।
- पाठ्यपुस्तक लेखन में बच्चों द्वारा सीखने की प्रक्रिया (अधिगम) के संबंध में समझ विकसित करने का कोई महत्व नहीं माना गया। इसीलिए शिक्षण अनुभव और शिक्षकों की भागीदारी के बिना पाठ्यपुस्तकें लिखी गईं।[4]
- विज्ञान शिक्षण में शिक्षा के दर्शन, बाल मनोविज्ञान, शिक्षण पद्धति, पाठ्यक्रम निर्माण के सिद्धांत और मूल्यांकन के मापदंड जैसे मुद्दों को कोई महत्व नहीं दिया गया।
- इस प्रक्रिया में वैज्ञानिक मानसिकता और वैज्ञानिक पद्धति विकसित करने के लिए किसी भी प्रकार के प्रावधान करने की जरूरत नहीं समझी गई।
- पाठ्यपुस्तक लेखन की केंद्रीकृत प्रक्रिया का अर्थ है कि विज्ञान को परिवेश से जोड़ने की कोई जरूरत नहीं है और अलग-अलग भू-सांस्कृतिक अंचलों में एक जैसी पाठ्यपुस्तकें लागू की जाएंगी।
- जिस तरह इन पुस्तकों में जानकारी थोपने को महत्व दिया गया है उससे यह भी स्पष्ट है कि मूल्यांकन के मापदंड बदलने का कोई इरादा नहीं था। यानी परीक्षाओं में बच्चों की तार्किक क्षमता और अवलोकन करने की क्षमता, सृजनात्मकता, वैज्ञानिक

> मानसिकता आदि को परखने के लिए कोई प्रावधान नहीं रखा जाएगा। इन पुस्तकों में जानकारी देने पर जिस तरह से जोर दिया गया है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विज्ञान सीखने के लिए प्रयोग, गतिविधियां, परिभ्रमण आदि की कोई जरूरत नहीं समझी गई।

साठ के दशक में तैयार हुई एन.सी.ई.आर.टी. की इन बोझिल पुस्तकों से ही भारतीय शिक्षा में बस्ते के बोझ का मुद्दा बनने की प्रक्रिया शुरू हुई। ये पुस्तकें अधिकृत पुस्तकों के रूप में देश भर में इस्तेमाल होने लगीं। यह सच है कि एन.सी.ई.आर.टी. के पास इन पुस्तकों को विभिन्न राज्यों में लागू करने के लिए कोई वैधानिक सत्ता नहीं थी। तो फिर राज्यों ने इन पुस्तकों को स्वीकारा क्यों? यह सवाल उठना स्वाभाविक है। इस सवाल का उत्तर भारत के औपनिवेशिक मानस और केंद्रीकृत ढांचे में खोजा जा सकता है। एन.सी.ई.आर.टी. को केंद्रीय सत्ता के प्रतिनिधि के रूप में देखा गया और उसके द्वारा तैयार पुस्तकों को बिना किसी जांच-पड़ताल के मानक पाठ्यपुस्तकों का दर्जा दे दिया गया। साथ ही यह भी स्वीकारना होगा कि राज्यों के संस्थान (एस.सी.ई.आर.टी.) कभी भी इतने सक्षम बनने नहीं दिए गए कि वे अपनी स्वतंत्र प्रक्रिया स्थापित कर पाते। केंद्र अथवा एन.सी.ई.आर.टी. की ओर से भी राज्यों के संस्थानों को सक्षम बनाने का कोई कार्यक्रम नहीं था। अतः एन.सी.ई.आर.टी. पर राज्यों की निर्भरता का बने रहना इस प्रक्रिया का स्वाभाविक परिणाम था।

इस नक्कारखाने में भौतिकी अध्ययन दल की आवाज तूती की आवाज की तरह थी। अपने महत्व को स्थापित करने के लिए इस दल ने अखिल भारतीय विज्ञान शिक्षक संघ का वरदहस्त प्राप्त किया और एन.सी.ई.आर.टी. पर दबाव बनाना शुरू किया। बहुत उठापटक के बाद इस दल को भी मान्यता मिली लेकिन केवल प्रतीकात्मक स्तर पर। उसकी किताब छपवाने के लिए पांच हजार रुपए का अनुदान दिया गया। किताब छप तो गई लेकिन एन.सी.ई.आर.टी. के 'तहखाने' में दब गई।

विडंबना यह है कि इसी समय कोठारी शिक्षा आयोग की रपट 1966 में जारी हो चुकी थी और उस पर राष्ट्रीय बहस चल रही थी। 1968 में उस रपट के आधार पर भारत की पहली राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 पारित की गई थी। कोठारी आयोग ने स्पष्ट कहा था कि 'विज्ञान शिक्षण के शुरुआती चरणों से ही बुनियादी सिद्धांतों के संबंध में यथोचित समझ बनाने और वैज्ञानिक अमूर्तीकरण तथा सृजनात्मक चिंतन की प्रक्रिया पर जोर देने की जरूरत है। इसके जरिए, विद्यार्थियों को 'खोज' या 'अन्वेषण' एवं सृजनात्मकता का अहसास हो जाना चाहिए....' आयोग ने विज्ञान शिक्षण को वैज्ञानिक मानसिकता और पद्धति से जोड़ने तथा अवधारणाओं को विकसित करने की वकालत की थी। इसके बावजूद देश की शीर्षस्थ शैक्षिक संस्था—एन.सी.ई.आर.टी.—उन अध्ययन दलों की पाठ्यपुस्तकों को आगे बढ़ाती गई जो कोठारी आयोग की सिफारिशों के ठीक उलटे काम कर रहे थे। एकमात्र दल—भौतिकी अध्ययन दल—जो इन सिद्धांतों के अनुरूप काम कर रहा था, उसकी पुस्तक

को दरकिनार किया गया।

भौतिकी अध्ययन दल अपनी प्रयोगनिष्ठ पद्धति का उपयोग पब्लिक स्कूलों की अभिजात चारदीवारी के बाहर ले जाने के लिए छटपटा रहा था। यह बात 1969 की है। उस समय इसका संपर्क संयोगवश टाटा आधारभूत शोध संस्थान (टाटा इंस्टीच्यूट आफ फंडामेंटल रिसर्च), मुंबई के कुछ वैज्ञानिकों से हुआ। एक दिन टाटा इंस्टीच्यूट के कॉफी हाउस में वहां के कास्मिक किरणों पर शोध करने वाले प्रो. यशपाल ने मुझे कुछ मेहमानों से मिलने के लिए बुलाया। उन दिनों मैं संस्थान की मॉलिक्यूलर बायोलॉजी यूनिट (आणविक जीवशास्त्र इकाई) में शोधकर्ता के रूप में काम कर रहा था। प्रो. यशपाल ने मुझे श्री पित्रे और उनके सहयोगी दून स्कूल के श्री चंद्रकांत दीक्षित से मिलवाया। साथ में टाटा संस्थान के ही डॉ. बी.जी. कुलकर्णी भी बैठे थे जो सॉलिड स्टेट भौतिकी पर शोध कर रहे थे। मैंने तब वह कहानी सुनी जो ऊपर दर्ज है। उस दिन कॉफी हाउस की मेज पर ही निर्णय हुआ कि टाटा संस्थान के वैज्ञानिक, भौतिकी अध्ययन दल की प्रयोग पुस्तक और प्रयोगनिष्ठ शिक्षण पद्धति को मुंबई महानगर निगम के मिडिल स्कूलों में लागू करवाने का काम उठाएंगे।

इस निर्णय की भी पृष्ठभूमि पहले ही तैयार थी। कुछ वर्षों से टाटा संस्थान में एक सशक्त प्रक्रिया चली थी जिसके तहत यहां के वैज्ञानिक मुंबई के स्कूलों में जाकर विज्ञान के प्रयोग दिखाते और समझाते थे। स्पष्ट था कि यह काम तदर्थ था और पाठ्यक्रम को प्रभावित नहीं करता था। इसलिए भौतिकी अध्ययन दल का प्रस्ताव एकदम आकर्षक लगा चूंकि इसमें पाठ्यक्रम को प्रभावित करने की संभावना दिखी। देखते ही देखते मुंबई महानगर निगम के शिक्षा विभाग से चार बड़े मिडिल स्कूलों में काम करने की अनुमति मिल गई। 1970 की गर्मियों की छुट्टी में पित्रे और दीक्षित के नेतृत्व में टाटा संस्थान के एक लेक्चर हॉल में नगर निगम के लगभग 40 शिक्षकों का पहला उन्मुखीकरण शिविर आयोजित हुआ। मैंने इस प्रक्रिया में केवल बातचीत के स्तर पर ही हिस्सा लिया था चूंकि उस समय मैं गांवों में काम शुरू करने के लिए अपनी भूमिका तलाश रहा था। शिविर के पहले दिन मैं लेक्चर हॉल के दरवाजे पर जिज्ञासावश एक दर्शक के रूप में खड़ा रहा। उस दिन मैंने मंत्रमुग्ध होकर देखा कि किस प्रकार मेज की लंबाई नापने की गतिविधि पित्रे-दीक्षित के नेतृत्व में शिक्षकों के लिए एक जोशभरा माहौल बना देती थी। जब 40 शिक्षकों ने मेज को नापा तो हरेक के माप अलग-अलग आए। इन मापों के अंतरों की खोजबीन करने पर शिक्षकों ने पाया कि इनके अंतर का कारण वैज्ञानिक मापन क्रिया का अभिन्न हिस्सा है और सांख्यिकी के सरलतम सिद्धांतों की मदद से मेज की सही लंबाई को पहचानने (दरअसल, मात्र नजदीक आने) की कोशिश की जा सकती है। यह सब चार-पांच घंटे चला और शिक्षक पूरी तरह इसमें डूबे रहे। उस दिन इस अनुभव को मैंने अपने दिमाग में बांध लिया था।

भौतिकी अध्ययन दल का कार्यक्रम पब्लिक स्कूलों से मुंबई के नगर निगम स्कूलों में पहुंच चुका था। अंग्रेजी पुस्तक का मराठी संस्करण भी तैयार हुआ। बहुत सारे प्रयोगों

को और उनमें लगने वाली प्रयोग सामग्री ("किट") को मुंबई के हालात और निम्न मध्यम वर्गीय बच्चों के जीवन के अनुरूप ढाला गया। बच्चों में प्रयोग करने को लेकर जबरदस्त उत्साह था। शिक्षकों को लगा जैसे कि वे किसी जकड़न से छुटकारा पा गए हों। इस प्रक्रिया में टाटा संस्थान के डॉ. कुलकर्णी ने विशेष दिलचस्पी ली। मुंबई के मिडिल स्कूल पांचवीं कक्षा से शुरू होते थे। कार्यक्रम का तीसरा साल आते-आते शिक्षकों ने पूछना शुरू किया कि सातवीं की पारंपरिक वार्षिक परीक्षा क्या उन्हीं गुणों का परीक्षण करेगी जिनका विकास इस कार्यक्रम में किया गया है। कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि इन बच्चों को रटंत पद्धति पर आधारित परीक्षा में बैठना पड़े। सवालों का दबाव बढ़ता गया। शिक्षक रूढ़िगत पद्धति पर लौटने की बात करने लगे। शिक्षकों की चिंता ने कम-से-कम यह तो सिद्ध कर दिया था कि वे इन दोनों शिक्षण पद्धतियों के विरोधाभासों को भली भांति पहचानने लगे थे। बात स्कूलों से चलकर टाटा संस्थान के तत्कालीन निदेशक प्रो. एम.जी.के. मेनन और प्रो. यशपाल तक पहुंची। इन शीर्षस्थ वैज्ञानिकों ने नगर निगम की शिक्षा संचालिका डॉ. माधुरी बेन शाह से अपील की कि वे इस कार्यक्रम के शैक्षिक उद्देश्यों को मद्देनजर रखते हुए वार्षिक परीक्षा को बदलने की अनुमति दे दें। कारण चाहे कुछ भी हों, माधुरी बेन ने यह अनुमति नहीं दी। परिणाम स्पष्ट था। कार्यक्रम के तीसरे वर्ष में 'प्रयोगनिष्ठ' शिक्षण इन स्कूलों में अपने आप बंद हो गया और बच्चे विज्ञान रटने में जोत दिए गए। औपनिवेशिक विरासत में देश को मिली परीक्षा प्रणाली के रूढ़िवादी मूल्यांकन मापदंडों की क्रूर सत्ता का इससे बेहतर प्रमाण और क्या मिल सकता था। इससे यह भी सिद्ध होता है कि यथास्थिति बनाए रखने में परीक्षा कितना सक्षम हथियार है।[5]

1971 की गर्मियों की उस शाम सुदर्शन कपूर और मैं घंटों रसूलिया के इर्द-गिर्द टहलते रहे और उपरोक्त कहानी के शुरुआती अनुभवों के निहितार्थों को समझने की कोशिश करते रहे। उस रात सुदर्शन को नींद नहीं आई। अगली सुबह उसने अपना दृढ़ निश्चय मेरे सामने रखा। मार्जरी बहन की शैक्षिक काम के लिए रखी गई दोनों पूर्व शर्तें पूरी हो जाएंगी यदि भौतिकी अध्ययन दल की शिक्षण पद्धति होशंगाबाद के सरकारी स्कूलों में लागू की जाए। सुदर्शन का मानना था कि यह मात्र पद्धति परिवर्तन नहीं है बल्कि यह शिक्षा के दर्शन में बुनियादी बदलाव का मामला है और शिक्षा तंत्र के जड़त्व को चुनौती देने का औजार भी है। इसे सरकारी स्कूलों में लागू करने का मतलब होगा कि पूरी स्कूली व्यवस्था को झकझोरना।

सुदर्शन ने इस काम में मेरी मदद मांगी। लेकिन मेरी तैयारी नहीं थी चूंकि 'किशोर भारती' की शुरुआत गांधीजी के 'नई तालीम' के प्रयोग को समकालीन भारतीय संदर्भ में साकार करने के लिए की जा रही थी। सुदर्शन को मालूम था कि 'किशोर भारती' निकट भविष्य में राज्य सरकार से जिले के किसी गांव में जमीन लेकर खेती-आधारित शिक्षा का औपचारिकेतर (नॉन-फार्मल) प्रयोग शुरू करेगी। इस प्रयोग में खास तौर पर उन बच्चों को शामिल किया जाएगा जो स्कूली शिक्षा से वंचित रह गए हैं। जाहिर था कि ये बच्चे

छोटे किसानों और खेतिहर मजदूरों के घरों से आएंगे। सुदर्शन राज्य सरकार से जमीन दिलवाने में हमारी मदद कर रहे थे और उनके प्रयासों के फलस्वरूप ही हमें स्थानीय सहयोग भी मिल रहा था। अतः न चाहते हुए भी मैंने पहला कदम उठाया और देहरादून जाकर पित्रे और दीक्षित से मुलाकात की। पित्रे होशंगाबाद आए और प्रस्ताव की रूपरेखा जिला शिक्षा अधिकारी के सामने रखी। कुछ ग्रामीण स्कूल भी देखने गए तथा वहां के शिक्षकों से बातचीत की। हम तीनों ने मिलकर विज्ञान की सरकारी पाठ्यपुस्तकों का अध्ययन भी किया। पित्रे ने निम्नलिखित शर्तों पर अपने समर्थन की स्वीकृति दी :

1. कम से कम 15 सरकारी स्कूलों में प्रयोग करने की अनुमति मिलनी चाहिए ताकि शुरू से ही इस काम को तंत्रगत हस्तक्षेप के रूप में उभारा जा सके।
2. राज्य शासन द्वारा स्वीकृत एन.सी.ई.आर.टी. की तर्ज पर तैयार पाठ्यपुस्तकों की जगह भौतिकी अध्ययन दल की शैली पर लिखी गई कार्यपुस्तकें उपयोग में लाई जाएंगी।
3. शिक्षकों का उन्मुखीकरण नए सिरे से करना होगा।
4. प्रत्येक स्कूल से कम से कम दो शिक्षक लिए जाएंगे ताकि वे एक-दूसरे का साथ दें और कार्यक्रम के लिए एक समर्थक माहौल बना सकें।
5. चयनित स्कूलों के जिन शिक्षकों को प्रशिक्षण दिया जाएगा उन्हें शासन अगले तीन वर्षों तक इन 15 स्कूलों से अन्य किसी स्कूल में स्थानांतरित नहीं करेगा ताकि प्रशिक्षण का पूरा लाभ मिल सके।
6. इन स्कूलों की विज्ञान विषय की वार्षिक परीक्षा (बोर्ड परीक्षा समेत) भी कार्यक्रम के उद्देश्यों के अनुरूप ली जाएंगी।

इस बीच मैंने टाटा संस्थान जाकर रसूलिया के निर्णय की जानकारी प्रो. यशपाल, डा. कुलकर्णी आदि को भी दे दी। उन्होंने सहयोग का वादा किया। मुंबई महानगर निगम के स्कूलों में कार्यक्रम के बाद अब यह एक नया रास्ता खुल रहा था। साथ में विज्ञान को ग्रामीण परिवेश में ढालने की चुनौती भी थी। इन सब विचारों को लेकर सुदर्शन और मैंने एक लिखित प्रस्ताव तैयार किया। फरवरी 1972 में इस प्रस्ताव को लेकर हम संचालक लोक शिक्षण (मध्य प्रदेश) डा. ब्रह्मदेव शर्मा के पास पहुंचे। उनसे कोई पूर्व परिचय न था और न ही हम दोनों की शिक्षा के क्षेत्र में कोई पहचान थी। शायद यही हमारी ताकत भी थी। संचालक महोदय ने प्रस्ताव के पन्ने उलट-पलटकर देखे और एक हफ्ते बाद मिलने के लिए बुलाया।

एक हफ्ते बाद जब हम संचालक महोदय के दफ्तर पहुंचे वहां वे अकेले नहीं थे। उनके साथ शिक्षा विभाग के संयुक्त संचालक, उपसंचालक और विज्ञान परामर्शदाता भी बैठे थे। साथ में एक और सज्जन से हमारा परिचय करवाया गया जो एन.सी.ई.आर.टी. की ओर से पश्चिमी भारत (मध्य प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र और गोवा) के क्षेत्रीय परामर्शदाता थे। उनकी हस्ती एक राजदूत के समान थी। उनका काम यह सुनिश्चित करना

था कि कोई भी राज्य सरकार एन.सी.ई.आर.टी. की नीतियों का उल्लंघन न करे। उस समय शिक्षा, संविधान की राज्य सूची का विषय था (इसे 1976 में संविधान के एक संशोधन के जरिए समवर्ती सूची में लाया गया)। इसलिए केंद्रीय सरकार के पास अपनी नीतियों का पालन करवाने के लिए क्षेत्रीय परामर्शदाता एक महत्वपूर्ण साधन था। संचालक महोदय ने हमारे प्रस्ताव के संदर्भ में इन अधिकारियों से राय मांगी। सभी एकमत से नकारात्मक मुद्रा में थे। एक ने हमसे पूछा कि हमारी टीम में किसके पास एम.एड या बी.एड की डिग्री है। हमने जब 'ना' में उत्तर दिया तो उन्होंने पूछा, 'किसके पास पढ़ाने का अनुभव है?' हमने डरते-डरते पित्रे और दीक्षित का जिक्र किया तो जैसा कि अपेक्षित था, अधिकारियों ने उनके पब्लिक स्कूल की सुविधाओं का मजाक उड़ाया और कहा कि ये 'प्रयोग-वयोग' गांव के स्कूलों के कच्चे फर्श पर नहीं चलने वाले।

सबसे बड़ी आपत्ति तो क्षेत्रीय परामर्शदाता की ओर से आई। उन्होंने बताया कि इस मुद्दे पर एन.सी.ई.आर.टी. ने एक लंबा अनुभव प्राप्त करके यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रयोगनिष्ठ शिक्षण भारतीय परिस्थिति में संभव नहीं है। यह पद्धति तो केवल अमीर देशों के लिए उपयुक्त है। उनका कहना था कि हमारे शिक्षक भी इतने सक्षम नहीं हैं कि उन्हें प्रयोगनिष्ठ शिक्षण के लिए तैयार किया जा सके।[6] अंततः सबने मिलकर डा. शर्मा को राय दी कि इन नौसिखियों को मना करना ही बेहतर होगा। हम दोनों समझ गए कि काम यहां नहीं होने वाला और चलने ही वाले थे कि डा. शर्मा बोल पड़े कि हमें अनुमति दी जाती है। सभी अधिकारियों ने जब इस पर अपना संयुक्त विरोध प्रकट किया तो डा. ब्रह्मदेव शर्मा ने कहा, 'मध्य प्रदेश के स्कूलों के हालात इतने खस्ता हैं कि ये नौसिखिए उसका उससे ज्यादा और क्या बिगाड़ पाएंगे?' फिर उन्होंने अधिकारियों को सलाह दी कि वे भी उन स्कूलों में जाएं और देखें कि ये लोग क्या करते हैं। डा. शर्मा ने उस दिन हमें कुछ गुर भी सिखाए :

पहला, कार्यक्रम के लिए पैसा मत मांगना। चूंकि पैसा मांगते ही मामला उनके हाथ से निकल जाएगा और राज्य शासन के शिक्षा सचिव और वित्त सचिव के पास चला जाएगा। वहां पर यह मामला नीति[7] में परिवर्तन के रूप में देखा जाएगा चूंकि इसके पक्ष में नीति बनाए बगैर बजट में प्रावधान नहीं किया जा सकता। डा. शर्मा की इस सलाह का निहितार्थ आज समझ में आता है। स्कूलों में विज्ञान को व्याख्यान देकर जानकारी रटवाने के उद्देश्य से पढ़ाया जाए, यह शासकीय नीति थी। विज्ञान को प्रयोगनिष्ठ पद्धति से पढ़वाना 'नीतिगत परिवर्तन' का मामला बन जाता था, हालांकि सिद्धांत में यह 'कार्यक्रम की रूपरेखा' मात्र बदलने का मामला था।

डा. शर्मा की दूसरी सलाह यह थी कि भूलकर भी अभी पाठ्यक्रम बदलने की बात मत करना। पाठ्यक्रम को एन.सी.ई.आर.टी. की सलाह के बगैर बदला नहीं जा सकता। उनका सुझाव था कि अभी शासकीय पाठ्यक्रम को ही प्रयोगनिष्ठ पद्धति से पढ़ाने की बात की जाए। इसके लिए वे अनुमति दे सकेंगे। हमें पता था कि शिक्षण पद्धति में बुनियादी

परिवर्तन लाते ही सरकारी पाठ्यक्रम का कक्षा में लागू होने वाला स्वरूप बदलने लगेगा। लेकिन उनकी इस बात के विरोधाभास को समझकर भी हम रणनीति बतौर उस समय चुप ही रहे।

उनकी तीसरी सलाह थी कि परीक्षा बदलने की अनुमति मत मांगो चूंकि उसमें मिडिल स्कूल बोर्ड की नीति का सवाल उठ जाता है। इसलिए उसको न छूना ही बेहतर होगा। उस समय हम यह सोचकर मौन रहे कि मौका आने पर इस प्रश्न से जूझना बेहतर होगा। उस दिन से हमें यह समझ में आने लगा था कि जब भी सरकारी तंत्र में परिवर्तन करना हो तो धीरे-धीरे एक-एक करके अनुमति लेने की रणनीति अपनानी होगी। शुरू में कुछ काम करके अपने लिए जगह बनाना जरूरी है। फिर अनुकूल परिस्थितियों को देखकर ही अगला कदम उठाया जा सकता है।

भोपाल की उस बैठक के आठ-दस दिन के अंदर ही रसूलिया केंद्र को कार्यक्रम शुरू करने की लिखित अनुमति मिल गई। फिर हमने जिला शिक्षा अधिकारी (होशंगाबाद) से निवेदन किया कि वे स्कूलों के चयन में हमारी मदद करें। संयोगवश वे एक अच्छे इनसान निकले जो ऐसे परिवर्तनों के पक्ष में थे। सुदर्शन ने 'किशोर भारती' की दुविधा को ध्यान में रखकर जिद की कि लगभग आधे स्कूल होशंगाबाद विकास खंड में और शेष स्कूल लगभग 100 किलोमीटर दूर जिले के पूर्वी छोर पर बनखेड़ी विकास खंड में होने चाहिए जहां 'किशोर भारती' स्थापित होने वाली थी। उसे मालूम था कि एक बार 'किशोर भारती' के कार्यक्षेत्र में स्कूल चुन लिए गए तो इस कार्यक्रम में जुड़ने के अलावा हमारे पास कोई चारा नहीं रहेगा। देखते ही देखते दोनों विकास खंडों में शिक्षकों की बैठकें हो गईं और जिन-जिन स्कूलों के शिक्षकों ने कार्यक्रम में शामिल होने के लिए उत्साह दिखाया उन्हें चुन लिया गया। अंत में जिला शिक्षा अधिकारी ने सोलहवें स्कूल का प्रस्ताव अपनी ओर से रखा जो बनखेड़ी विकास खंड में महुआखेड़ा नामक एक सुदूर आदिवासी गांव में था। उनका कहना था कि इस स्कूल में कोई अधिकारी नहीं जाता है। इस कार्यक्रम के बहाने उस स्कूल में भी कुछ होने लगेगा। इस प्रकार होशंगाबाद विकास खंड के नौ स्कूल (जिसमें शहर की एक कन्या शाला भी शामिल थी) और बनखेड़ी विकास खंड के सात स्कूल कार्यक्रम में शामिल हुए।

मई 1972। विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम (विशिका) का पहला 21-दिवसीय सेवाकालीन उन्मुखीकरण शिविर। रसूलिया केंद्र के एक सभा कक्ष में 40 सरकारी शिक्षक एवं शिक्षिकाएं और साथ में विशिका की नवगठित स्रोत टीम के सदस्यगण। इन दोनों श्रेणियों के मिलन को ऐतिहासिक माना जा सकता है चूंकि भारत की सामाजिक स्थिति में सामंती क्षेत्र के सरकारी शिक्षक और महानगरीय पृष्ठभूमि के वैज्ञानिकों के बीच मिलन की संभावना लगभग नगण्य है। स्रोत टीम में टाटा संस्थान के प्रो. यशपाल और डॉ. कुलकर्णी के अलावा मॉलिक्यूलर बायोलॉजी यूनिट एवं अन्य शोध इकाइयों के शोध विद्यार्थियों का एक दल भी शामिल था। भौतिकी अध्ययन दल की ओर से पित्रे और दीक्षित दोनों मौजूद थे। उस सभा कक्ष में जो कुछ घटा उसका विवरण इसके पहले वाले आलेख में दिया जा चुका है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि शुरू से ही इस प्रकार के शिविर दो संस्कृतियों की टकराहट एवं संवाद के प्रतीक बन गए थे। एक ओर थी सरकारी शिक्षा तंत्र के पदक्रम में जकड़ी हुई कार्यशैली जिसमें हमेशा ऊपर से आदेशों का इंतजार रहता है। दूसरी ओर, हमारे स्रोत दल की उन्मुक्त कार्यशैली जिसमें हर सदस्य स्वतंत्र था एक-दूसरे पर सवाल उठाने के लिए चाहे वह दूसरा व्यक्ति प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो. यशपाल ही क्यों न हो (उस समय तक प्रो. यशपाल की छवि वैज्ञानिक मात्र की ही थी; यह कहना उचित होगा कि उनके शिक्षाविद बनने की परिपक्व शुरुआत नर्मदा के किनारे इसी शिविर से हुई)। लेकिन हम इस बात के प्रति भी सचेत थे कि इन दोनों संस्कृतियों के बीच संवाद स्थापित करना जरूरी होगा, अन्यथा विज्ञान शिक्षण का यह उन्मुखीकरण शिविर यंत्रवत हो जाएगा। किस ऐतिहासिक क्षण में ऐसा संवाद कहां तक बढ़ाया जा सकता है, उसके किस पक्ष पर जोर देना उचित होगा और संवाद कब अपच हो जाएगा, यह सब हमने आने वाले वर्षों में कई गलतियां करके और ठोकरें खाकर सीखा।

हस्तक्षेप के ढांचे, अनुभव और मुद्दे

सन् 1972 के इस पहले ग्रीष्मकालीन शिविर की एक घटना का जिक्र करना उपयोगी होगा चूंकि इससे कार्यक्रम के सामाजिक चरित्र का एक प्रमुख बिंदु स्थापित हुआ। भौतिकी अध्ययन दल के काम से हमें भौतिकी के प्रयोगों को तय करने का आधार मिला था। लेकिन जीवविज्ञान, रसायनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, खगोलिकी आदि विज्ञान की अन्य विधाओं पर काम करना बाकी था। इस पहले शिविर में भौतिकी के अलावा जीवविज्ञान पर ध्यान केंद्रित किया गया। इसमें मदद के लिए टाटा आधारभूत शोध संस्थान की आण्विक जीवविज्ञान इकाई के शोध विद्यार्थियों का एक दल लंबी तैयारी के साथ रसूलिया आया। इस दल ने लगभग छह सप्ताह के परिश्रम से जीवविज्ञान के अनेक प्रयोग तैयार किए थे और उनको विधिवत करने की विधियां लिखकर लाए थे। प्रयोग सामग्री भी आसानी से उपलब्ध वस्तुओं से बनाई गई थी। यह जीवविज्ञानी दल रसूलिया शिविर के पहले पांच दिन भौतिकी के प्रयोगों को होते हुए देखता रहा। शिक्षकों के सवाल और भौतिकी स्रोत दल के उत्तरों से उभरती बहस भी सुनता रहा। इस दौरान सरकारी स्कूलों के हालात, बच्चों का शैक्षणिक स्तर और सामाजिक मान्यताओं आदि से संबंधित अनेक तथ्य सामने आ गए। शिविर के छठे दिन जीवविज्ञान के प्रयोगों की बारी थी। उस दिन मुंबई के जीवविज्ञानी दल ने अपने द्वारा तैयार की हुई प्रयोग पुस्तिका शिक्षकों के सामने फाड़कर कचरे की टोकरी में डाल दी और बताया कि उनकी प्रयोग पुस्तिका स्थानीय परिवेश से कोई मेल नहीं खाती। दल के एक सदस्य ने कहा कि हमारी यह समझ गलत थी कि विज्ञान के प्रयोग परिवेश को समझे बिना विकसित किए जा सकते हैं। ऐसा ही अनुभव 1974 में दिल्ली विश्वविद्यालय की रसायनशास्त्र की टीम के साथ हुआ जिसने दिल्ली से लाई हुई प्रयोग पुस्तिकाओं को नाटकीय ढंग से आग

लगा दी। होविशिका में शुरू से ही यह स्थापित हो गया कि विज्ञान प्रस्तुत करने का ढंग और सीखने की प्रक्रिया में बच्चों को जोड़ने की पद्धति स्थानीय परिवेश पर आधारित रहेगी। अतः किसी भी केंद्रीकृत शैली से तैयार किया गया पाठ्यक्रम और उसकी शिक्षणपद्धति सिद्धांततः एक विकृत सोच का परिणाम है।

पहले प्रशिक्षण शिविर के तुरंत बाद और आगामी तीन-चार वर्षों में होविशिका के तहत शासकीय ढांचे के भीतर कई नए ढांचों और प्रक्रियाओं को स्थापित करने का संघर्ष चला जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

- प्रशिक्षण के बाद स्रोत दल के सदस्यों द्वारा कक्षाओं में अनुवर्तन एवं 'फीडबैक' संकलन।
- प्रशिक्षित शिक्षकों की मासिक गोष्ठियां।
- शुरू के दो वर्षों में रसूलिया एवं किशोर भारती द्वारा शिक्षकों को प्रशिक्षण तथा मासिक गोष्ठियों में भाग लेने के लिए यात्राभत्ता दिया गया था। लेकिन उसके बाद राज्य के शिक्षा संचालनालय ने अपने प्रशिक्षण मद में से इन्हें यात्राभत्ता देना शुरू किया चूंकि इसके लिए किसी नीतिगत निर्णय की जरूरत नहीं पड़ी।
- 1975 में कक्षा आठ में होविशिका के विद्यार्थियों की परीक्षा का सवाल खड़ा हुआ। उस समय कक्षा आठ की परीक्षाएं शासन द्वारा संभागीय स्तर पर (चार-पांच जिलों का एक संभाग) होती थीं। शासन ने यह स्वीकारा कि पारंपरिक परीक्षाओं में उन गुणों का मूल्यांकन नहीं होता जो होविशिका में विकसित किए जाते हैं। अतः रसूलिया एवं किशोर भारती दोनों संस्थाओं को संयुक्त रूप से विज्ञान विषय की परीक्षा लेने के लिए अधिकृत किया गया। इन संस्थाओं के द्वारा बनाई गई अंकसूची संभागीय स्तर पर तैयार की गई शासकीय अंकसूची में शामिल कर ली जाती थी।[8] भारतीय शिक्षा के इतिहास में राज्य शासन का यह ऐतिहासिक निर्णय आज तक बेमिसाल है। उल्लेखनीय है कि इस प्रावधान के अभाव में मुंबई महानगर निगम के स्कूलों में प्रयोगनिष्ठ विज्ञान नहीं चल पाया था।

कार्यक्रम की शुरुआत से ही यह सवाल उठने लगा था कि इसके लिए स्रोत दल किस प्रकार गठित होगा। सर्वश्री पित्रे और दीक्षित तो केवल सेवाकालीन प्रशिक्षणों में ही उपलब्ध हो सकते थे। यही बात प्रो. यशपाल और डॉ. कुलकर्णी पर भी लागू होती थी। होविशिका के अनुरूप सोच और दृष्टि वाले लोग मिलना आसान न था। इस प्रश्न का समाधान भी उपलब्ध ढांचों में नए प्रावधान खड़ा करके हुआ। इसकी कहानी संक्षेप में दर्ज करना उपयोगी होगा। होविशिका की खबर जल्द ही दिल्ली विश्वविद्यालय पहुंची। वहां पर भौतिकी एवं रसायनशास्त्र के विभागों के शिक्षक दो-तीन वर्षों से अपनी एक अलग खोज में लगे हुए थे। उनके सामने सवाल यह था कि जो विद्यार्थी उनके पास बी.एससी. के प्रथम वर्ष में आते थे उनकी विज्ञान की नींव काफी कमजोर होती थी। अकसर स्कूली स्तर का पाठ्यक्रम

दोहराना पड़ता था। यही हाल चुनिंदा स्कूलों से आने वाले अच्छे अंक प्राप्त विद्यार्थियों का भी था। दिल्ली विश्वविद्यालय के इन शिक्षकों का समूह समझना चाह रहा था कि स्कूली शिक्षण की इस कमजोरी के कारण क्या हैं। विश्वविद्यालयीन स्तर पर भी भौतिकी और रसायन के पाठ्यक्रम तथा शिक्षण विधियों को सुधारने की इनकी कोशिशें एक सीमा के आगे नहीं बढ़ पा रही थीं। ऐसे समय में होविशिका की खबर उनके लिए ताजी हवा की तरह थी।

सितंबर 1972 में मेरी मुलाकात इस समूह के एक सृजनात्मक शिक्षक—रसायनशास्त्र के डॉ. कृष्णा साने—के साथ दिल्ली में हुई।[9] उन्होंने मुझे इस समूह की एक औपचारिक बैठक में होविशिका की चर्चा हेतु बुलाया। अगले माह इस समूह ने होविशिका की कहानी सुनकर उत्साह के साथ जुड़ने का वादा किया। इस वादे को संभव बनाने के लिए भौतिकी विभाग के डॉ. प्रमोद श्रीवास्तव और डॉ. विजय वर्मा ने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग और दिल्ली विश्वविद्यालय के लिए अलग-अलग प्रस्ताव तैयार किए। विश्वविद्यालय से अनुमति मांगी कि शिक्षकों को होविशिका में योगदान देने हेतु दो प्रकार के अकादमिक अवकाश दिए जाएं और तदनुसार उनकी शिक्षण जिम्मेदारियों में भी परिवर्तन किए जाएं—एक प्रकार का अवकाश शिक्षकों को दो-चार दिन के लिए मासिक गोष्ठियों में हिस्सा लेने की सुविधा देगा और दूसरे प्रकार का अवकाश एक समय पर दो-दो शिक्षकों को चार-चार माह के लिए होशंगाबाद जिले में काम करने की सुविधा देगा। आयोग को दिया गया प्रस्ताव उपरोक्त अकादमिक काम के लिए विश्वविद्यालय को वित्तीय सहायता उपलब्ध कराने और दो-दो तदर्थ शिक्षकों की नियुक्ति हेतु अतिरिक्त प्रावधान करने के लिए था। जैसा कि अपेक्षित था विश्वविद्यालय की विद्वत परिषद तथा कार्यकारी परिषद दोनों में इस प्रस्ताव का जमकर विरोध हुआ। तीन प्रकार की आपत्तियां उठाई गईं। पहली, विश्वविद्यालय के शिक्षक स्कूली शिक्षा में योगदान देने हेतु सक्षम नहीं हैं। दूसरी, मध्य प्रदेश शासन के पास ऐसे काम के लिए पूरा ढांचा एवं विशेषज्ञ हैं तो फिर दिल्ली से किसी के जाने की जरूरत क्यों। तीसरी, यदि कुछ करना ही है तो दिल्ली के सरकारी स्कूलों में क्यों नहीं करते। एक लंबी बहस का सिलसिला चला। लेकिन इस बीच आयोग ने प्रस्ताव को स्वीकृति दे दी और यात्रा व्यय की सहायता के अतिरिक्त विश्वविद्यालय को हर सत्र में होशंगाबाद जाने वाले दो शिक्षकों की जगह दो तदर्थ शिक्षक नियुक्त करने की अनुमति भी दी। तब तक यह सुविधा आयोग की टीचर फेलोशिप स्कीम के तहत केवल उच्च-स्तरीय शोधकार्य के लिए दी जाती थी। यह पहली बार था कि आयोग ने इस स्कीम के दायरे में ग्रामीण स्कूलों की गुणवत्ता में सुधार का काम भी शामिल किया। आयोग के इस निर्णय के कारण विश्वविद्यालय को भी स्वीकृति देनी पड़ी।

उपरोक्त प्रावधान के तहत जनवरी 1973 से दिल्ली विश्वविद्यालय के दो-दो शिक्षक होशंगाबाद जिले में चार-चार माह के लिए उपलब्ध होने लगे।[10] मासिक गोष्ठियों में अतिरिक्त संख्या में दिल्ली से शिक्षक आते थे और साथ में उनके शोध विद्यार्थी भी। इस प्रकार दिल्ली

विश्वविद्यालय में लगभग 20-25 लोगों का 'होशंगाबाद समूह' स्थापित हुआ जिसे पाठ्यक्रम विकसित करने हेतु विश्वविद्यालय की ओर से कुछ और सुविधाएं भी दी गईं। इस संरचनात्मक प्रबंध के दीर्घकालीन निहितार्थों एवं प्रभावों पर नजर डालने की आवश्यकता है :

1. जिन शिक्षकों ने इस प्रक्रिया में हिस्सा लिया उनके अपने विश्वविद्यालयीन शिक्षण की पद्धति में तेजी के साथ परिवर्तन आने लगे।
2. इस समूह के कुछ सदस्यों ने अपने अनुभवों को राष्ट्रीय स्तर के परिसंवादों, प्रशिक्षणों, टी.वी. कार्यक्रमों आदि के जरिए देश के सामने रखा। एक सदस्य ने तो होविशिका की सस्ती किट की तर्ज पर विश्वविद्यालयीन स्तर पर रसायनशास्त्र के उपकरण स्वयं बनाने हेतु एक निर्देशिका तैयार करके देश भर में इसके लिए प्रशिक्षण आयोजित किए। इस प्रयास के कारण प्रयोगशाला के कई महंगे उपकरण एक तिहाई से एक चौथाई दामों पर उपलब्ध हो पाए।
3. अस्सी के दशक के मध्य में दिल्ली विश्वविद्यालय ने इसी समूह को चुनौती दी कि स्कूली शिक्षण में होविशिका जैसा काम करने के लिए विश्वविद्यालय की ओर से एक विशेष केंद्र स्थापित किया जाए। इस केंद्र की कल्पना को साकार करने के लिए विश्वविद्यालय के 100 से अधिक शिक्षक सक्रिय हुए। इसके फलस्वरूप विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के वित्तीय समर्थन से विज्ञान शिक्षण एवं संप्रेषण हेतु एक केंद्र स्थापित हुआ जिसके नेतृत्व की पहली जिम्मेदारी 'होशंगाबाद समूह' के प्रो. प्रमोद श्रीवास्तव ने संभाली।
4. आयोग द्वारा टीचर फेलोशिप स्कीम का दायरा बढ़ाने का लाभ होविशिका ने 1975-76 में मध्य प्रदेश के महाविद्यालयीन शिक्षकों की सेवाएं उपलब्ध कराने के लिए लिया। कालांतर में इसी मिसाल पर एकलव्य संस्था[11] की स्थापना हेतु 1982-83 में कुछ टीचर फेलोशिप एकलव्य के 'कोर समूह' के लिए उपलब्ध कराई गईं। 1989-90 में मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने होविशिका की मिसाल देकर राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के लिए 100 टीचर फेलोशिप हेतु प्रावधान खड़ा करवाया। 1997 में इसी योजना के तहत भारत जन विज्ञान जत्था[12] को उसके द्वारा प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण हेतु संचालित लोकशाला कार्यक्रम के लिए 12 फेलोशिप उपलब्ध कराई गईं।
5. दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षकों के साथ जो शोध विद्यार्थी होविशिका से जुड़े उनमें से कुछ कालांतर में एकलव्य के 'कोर समूह' में शामिल हुए।
6. आयोग की योजना से लाभान्वित कई शिक्षक आज देश के विभिन्न भागों में स्कूली शिक्षा के कार्यक्रमों में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

होविशिका के शुरुआती वर्षों में किशोर भारती समूह के अंदर कार्यक्रम के चरित्र को लेकर लगातार एक बहस चली। इस बहस को दर्ज करना इसलिए आवश्यक लग रहा है चूंकि

इससे स्कूली शिक्षा में हस्तक्षेप करने वाली स्वैच्छिक संस्थाओं के उद्देश्यों और दुविधाओं को समझने में मदद मिल सकती है। किशोर भारती समूह में यह मानकर चला गया था कि शिक्षा में परिवर्तन के जरिए सामाजिक परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त होता है। अतः होविशिका को भी इसी कसौटी पर परखा गया। इस बहस में से तीन प्रमुख सवाल उठे :

(क) मिडिल स्कूल स्तर पर अधिकांश विद्यार्थी मध्यम वर्ग या निम्न मध्यम वर्ग से आते थे। गरीब तबके के बच्चे या तो स्कूल पहुंच ही नहीं पाते थे अथवा पांचवीं कक्षा के पहले ही स्कूल छोड़ने के लिए बाध्य हो जाते थे। अतः होविशिका की पहुंच गांव के सबसे गरीब बच्चों तक नहीं थी। सवाल यह था कि होविशिका में इतनी अधिक ऊर्जा क्यों लगाई जा रही है जबकि सामाजिक परिवर्तन में गरीब तबके की भूमिका को प्राथमिकता देने की जरूरत है (इस सवाल को उठाने में अग्रणी भूमिका आज के जाने-माने दस्तावेजी फिल्मों के निर्माता आनंद पटवर्धन ने निभाई थी और उनका साथ रेक्स डी रोजारियो ने दिया था जो पूर्व में *साइंस टुडे* के संपादक थे)।

(ख) होविशिका केवल मिडिल स्कूल स्तर तक और उसमें भी एक ही विषय तक सीमित था। विज्ञान से नजदीकी से जुड़े हुए विषय—भाषा और गणित—पर भी कार्यक्रम ने कोई विशेष काम नहीं किया था, सिवाय दशमलव, स्थानीय मान आदि कुछ अंशों के जिनके बगैर विज्ञान का काम नहीं चल पाता था। इस सीमा के कारण विज्ञान पढ़ाते समय बच्चों में जिन गुणों का विकास करने की कोशिश होती थी, अन्य विषयों में इन्हीं गुणों को या तो नजरअंदाज किया जाता था या दबाया जाता था। शिक्षक को भी अन्य विषयों को पारंपरिक शैली में पढ़ाते हुए कक्षा का माहौल और अपनी भूमिका बदलनी पड़ती थी।[13] बच्चों के लिए तो यह विरोधाभासी स्थिति विशेष रूप से कष्टमय सिद्ध हो रही थी चूंकि मनोवैज्ञानिक स्तर पर उनको अन्य विषयों में अपनी उन्मुख जिज्ञासु प्रवृत्ति को कुंठित करने के लिए मजबूर होना पड़ता था। जो वैज्ञानिक मानसिकता विज्ञान सीखते समय विकसित होती थी उसे अन्य विषयों को रटते समय दबाना जरूरी हो जाता था। इस यंत्रवत स्थिति में जाहिर है कि होविशिका और पारंपरिक पाठ्यक्रम के उद्देश्यों के बीच स्पष्ट विरोधाभास था। मिडिल स्कूल स्तर से जो बच्चे आगे निकलकर हाई स्कूल में जाते थे उन्हें भी अकसर अपने शिक्षकों से यह सुनना पड़ता था कि यहां न तो प्रयोग होंगे और न ही सवाल पूछने की छूट होगी चूंकि यह होविशिका की कक्षा नहीं है !

(ग) यदि शैक्षिक और सामाजिक परिवर्तन के बीच कोई संबंध है तो यह अपेक्षा स्वाभाविक है कि होविशिका के कारण समाज में वैज्ञानिक मानसिकता पनपेगी। हालांकि इस बिंदु पर कोई विश्वसनीय शोध नहीं किया गया लेकिन इस प्रकार के परिवर्तन के कोई संकेत भी नहीं मिल रहे थे। उस समय ऐसे अनेक बच्चों के उदाहरण सामने थे जो सामंती पृष्ठभूमि अथवा व्यापारी परिवारों के थे। उनके व्यवहार में वैज्ञानिक चिंतन का कोई प्रभाव न दिखने पर कई साथी कार्यक्रम की सार्थकता पर सवाल

उठाने लगे थे। अधिकांश शिक्षकों के जीवन पर भी वैज्ञानिक मानसिकता का कोई असर नहीं दिखता था हालांकि उनके शिक्षण में काफी परिवर्तन आया था। क्या होविशिका द्वारा समाज में वैज्ञानिक चिंतन पनपाने के लिए पर्याप्त आधार मिल जाता है या इसके लिए सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक स्तर पर अन्य कदम भी उठाने जरूरी होंगे?

इस बहस का उस समय कोई समाधान नहीं हो पाया जिसके कारण कार्यक्रम को लेकर दिशाभ्रम की स्थिति बनी। आज उस स्थिति पर विचार करते हुए एक विडंबना की ओर बरबस ध्यान खिंच जाता है। उपरोक्त बहस के पहले प्रश्न पर गौर करें। यदि गरीब बच्चे मिडिल स्कूल शिक्षा से वंचित रह जाते थे तो होविशिका की इस दुविधा का स्वाभाविक समाधान था कि हम प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण का काम उठाते। लेकिन किशोर भारती समूह की 'प्रखर' चेतना के बावजूद इस समाधान की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। इसी प्रकार तीसरे प्रश्न के संदर्भ में एक स्वाभाविक कदम होता कि हम होविशिका के क्रियान्वयन की प्रक्रिया में बच्चों के अभिभावकों को जोड़ते और समाज में वैज्ञानिक मानसिकता के सीधे प्रसार के कार्यक्रम उठाते। लेकिन इन दोनों में से कोई भी कदम नहीं उठाया गया।

फैलाव की पृष्ठभूमि

इन शुरुआती वर्षों में एक और उल्लेखनीय अनुभव सामने आया। सेवाकालीन प्रशिक्षणों के दौरान शिक्षकों में एक नए उत्साह का संचार होता था, वैज्ञानिक पद्धति और वैज्ञानिक मानसिकता को लेकर एक समझ भी बनती थी। बच्चों के लिए सीखने का उन्मुक्त माहौल बनाने का संकल्प भी जागता था। इस माहौल को बरकरार रखने के लिए स्कूली अनुवर्तन और मासिक गोष्ठियों की प्रक्रिया लगातार चलती रहती थी। चूंकि प्रशिक्षित शिक्षकों की संख्या उस समय मात्र 40 थी अतः प्रत्येक के साथ स्रोत दल का घनिष्ठ व्यक्तिगत रिश्ता भी था। कई शिक्षकों के साथ तो पारिवारिक संबंध भी बन गए थे और एक-दूसरे के साथ सुख-दुःख बांटना भी शुरू हो गया था। तार्किक और भावनात्मक दोनों स्तरों पर शिक्षकों को स्रोत दल से अभूतपूर्व समर्थन मिला था। साथ-साथ उनकी प्रशासनिक समस्याओं को सुलझाने हेतु भी कदम उठाए गए थे। इस सबके बावजूद 40 में से 10-12 शिक्षकों को छोड़कर शेष में वापस व्याख्यान पद्धति पर लौटने की प्रवृत्ति दिखने लगी थी (तीन-चार शिक्षक तो ऐसे थे जिन्होंने प्रयोग न करने का जैसे निर्णय ही ले लिया था)। ऐसा भी नहीं था कि इस प्रवृत्ति के शिक्षकों को वैज्ञानिक पद्धति समझ में न आई हो या उसमें वे दक्ष न हों। स्रोत दल का कोई भी सदस्य जब इनकी कक्षा में पहुंच जाता था तो ये शिक्षक दक्षतापूर्वक कार्यक्रम की अपेक्षाओं के अनुरूप बच्चों को पढ़ाकर दिखाते थे।

उन शुरुआती वर्षों में ही यह सवाल हमें कुरेदने लगा था कि व्याख्यान पद्धति पर

लौटने का मूल कारण क्या है। मोटे तौर पर उस समय भी तीन प्रमुख कारण उभरकर आने लगे थे। स्वाभाविक रूप से पहला शक हमें अपने प्रशिक्षण के स्वरूप पर होने लगा। क्या उसमें कोई बुनियादी परिवर्तन की जरूरत है? लेकिन पूरी ईमानदारी से बार-बार समीक्षा करने पर भी प्रशिक्षण में कोई बुनियादी कमी नजर नहीं आई। मामूली सुधार की गुंजाइश तो हमेशा थी और वह किया भी जाता था। 20-25 वैज्ञानिकों के स्रोत दल में मुक्त आत्मालोचना का इतना जबरदस्त माहौल था कि यदि कोई ऐसी कमी होती तो बहुत जल्द ही उजागर हो जाती। इतने वर्षों बाद आज जब लौटकर प्रशिक्षण के उस स्वरूप पर हम नजर डालते हैं तो भी अन्य सेवापूर्व (उदाहरणार्थ बी.एड, 'डाइट' का डिप्लोमा कोर्स) एवं अन्यान्य सेवाकालीन प्रशिक्षणों की तुलना में होविशिका का प्रशिक्षण आज तक अपनी एक अलग पहचान बरकरार रख पाया है। मेरी अपनी दृष्टि में होविशिका का प्रशिक्षण शिक्षकों के सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया थी और इस मायने में अधिकांश प्रशिक्षणों से एकदम भिन्न।

दूसरा कारण वह था जिसकी ओर बच्चों के अभिभावक और होशंगाबाद के आम लोग लगातार हमारा ध्यान खींचते थे। यह आम टिप्पणी थी कि कार्यक्रम बहुत ही सटीक है और बच्चों को खोजबीन करने के लिए प्रेरित करता है। कई अभिभावक तो घर पर भी बच्चों के साथ प्रयोग करने लग गए थे। लेकिन इसके साथ यह सवाल भी प्रबल रूप से उठ रहा था कि इसके बाद की कड़ी क्या होगी? आठवीं के बाद नौवीं कक्षा में फिर बच्चों को व्याख्यान पद्धति से विज्ञान पढ़ाया जाएगा। हाई स्कूल की परीक्षा में मूल्यांकन इस बात का होगा कि किसने कितनी जानकारी कंठस्थ कर ली है। तो फिर मिडिल स्तर के तीन वर्षों में होविशिका का लाभ आगे कैसे मिलेगा? इन सवालों का एक नकारात्मक असर शिक्षकों पर भी पड़ता था। वे पूछते थे कि यदि यह पद्धति इतनी उम्दा है तो मध्य प्रदेश शासन इसे राज्य के सभी मिडिल स्कूलों में और हाई स्कूल स्तर पर भी लागू क्यों नहीं कर देता।

तीसरा कारण स्कूली तंत्र के चरित्र से जुड़ा हुआ था। इस तंत्र में शिक्षक का दर्जा महज एक क्लर्क जैसा रहा है। ऊपर से मिलने वाले आदेशों का पालन करना शिक्षक की मजबूरी थी। शिक्षक और बच्चों के बीच 'विशेषज्ञों' द्वारा बनाया गया पाठ्यक्रम और परीक्षा प्रणाली में जकड़ी हुई शिक्षण पद्धति थी। इस परिस्थिति को बदलने में होविशिका ने सशक्त भूमिका निभाई। इस कार्यक्रम में शिक्षक को पाठ्यक्रम निर्माण में अपनी सही भूमिका का मौका मिलने लगा था और उसकी अंतर्निहित क्षमताओं को उजागर करने का माहौल भी बन रहा था। लेकिन तब भी शिक्षक के जीवन और काम पर अतिकेंद्रीकृत स्कूली तंत्र और उसकी नौकरशाही हावी रहती थी। कब शिक्षक को अपमानित होना पड़े, कब कोई क्लर्क उसका वेतन या अन्य कोई भत्ता रोक दे, कब उसका स्थानांतरण हो जाए और कब उसे किसी गैर-शिक्षकीय काम को निबटाने का आदेश मिल जाए, इसका अंदेशा हमेशा बना रहता था। ऐसी स्थिति में कोई अचरज नहीं कि शिक्षक अपने काम को पूरा करने का

सरलतम रास्ता खोजते रहते थे। होविशिका के अनुरूप विज्ञान पढ़ाना मेहनत का काम था जिसके लिए प्रयोग सामग्री बटोरने हेतु पूर्व तैयारी करना भी जरूरी था। कक्षा में भी आराम से कुरसी पर बैठकर काम नहीं चल पाता था—प्रयोग करते समूहों के बीच लगातार घूमते रहना और बच्चों के अनगिनत, अनपेक्षित सवालों के उत्तर देना, होविशिका की बुनियादी अपेक्षा थी। अतः सरलतम रास्ता था व्याख्यान पद्धति पर लौट जाने का।

इस प्रकार के प्रश्नों का समाधान केवल सरकारी आदेशों के सहारे नहीं हो सकता है। इसके लिए स्कूली तंत्र में संरचनात्मक परिवर्तन की जरूरत थी, विशेषकर स्कूल और समुदाय के रिश्ते में। लेकिन अन्यान्य कारणों से हम राजनेता, शैक्षिक नौकरशाह और शिक्षक के त्रिकोण के दायरे के बाहर निकल नहीं पाए। यदि हम उस समय इस त्रिकोण के बाहर निकल पाते तो हमें स्कूल-समुदाय के रिश्ते का प्रश्न उठाना पड़ता। इस प्रश्न से उभरने वाला काम दो परस्पर पूरक दिशाओं में जा सकता था—एक ओर पाठ्यक्रम को समुदाय की आवश्यकताओं के अनुरूप ढालने का काम और दूसरी और स्कूलों के प्रशासनिक विकेंद्रीकरण का ताकि स्कूल प्रबंधन में सामुदायिक भागीदारी और अंततः नियंत्रण स्थापित किया जा सके। काम की ये दोनों दिशाएं हमें प्रारंभिक शिक्षा के व्यापीकरण के सवाल पर ऊर्जा केंद्रित करने के लिए भी मजबूर करतीं। यदि ऐसा हो पाता तो होविशिका की वर्तमान सीमाएं भी इसी संरचनात्मक और प्रक्रियात्मक परिवर्तनों के जरिए टूटतीं। इस दिशा में यह भी निहित था कि होविशिका, रसूलिया-किशोर भारती का संस्थायी दायरा तोड़कर एक जन आंदोलन बन जाता। लेकिन हम तो उस त्रिकोण में ही फंसे रह गए।

इस दिशाभ्रम की स्थिति से निकलने के लिए एक ही समाधान बार-बार नजर आता था और वह था कार्यक्रम का फैलाव। यह स्पष्ट था कि कार्यक्रम के ये 16 स्कूल एक अजीबोगरीब टापू बन गए थे। विज्ञान के विषय में इन स्कूलों में जो होता था वह पूरे मध्य प्रदेश में कहीं नहीं होता था, शहरों के अभिजात स्कूलों में भी नहीं। लेकिन यही इस कार्यक्रम की कमजोरी भी थी जिसके चलते इसे लगातार संशय की निगाहों से देखा जाता था। हमने बहुत सोच-समझकर सार्वजनिक तौर पर बार-बार जोर दिया कि कार्यक्रम के शैक्षिक सिद्धांत कोई नए नहीं हैं, वरन इन्हें सार्वभौमिक स्तर पर मान्यता मिली हुई है। अतः शिक्षा के जो सर्वमान्य सिद्धांत है उसी को होविशिका में क्रियान्वित करने का प्रयास किया जा रहा है। यानी जो सब स्कूलों में होना चाहिए पर नहीं हो रहा है, वह इन 16 स्कूलों में घट रहा है। इस प्रस्तुतीकरण के बावजूद लोगों के सवाल बने रहे और संशय की निगाहें हमें घूरती रहीं। अतः कार्यक्रम का फैलाव एकमात्र रास्ता बचा था। फैलाव भी तीन प्रकार का संभव था :

(क) इन्हीं 16 स्कूलों में सभी विषयों को गतिविधि-आधारित, बाल-केंद्रित बनाना यानी आजू-बाजू फैलाव।

(ख) इन 16 स्कूलों के बच्चे जिन हाई स्कूलों में जाते थे और जिन प्राथमिक स्कूलों से आते थे, उनमें विज्ञान की पढ़ाई को होविशिका के अनुरूप बनाना यानी ऊपर-नीचे फैलाव।

(ग) प्रदेश के सभी मिडिल स्कूलों में इस पद्धति को लागू करना, जिसके पहले चरण में पूरे होशंगाबाद जिले में कार्यक्रम का फैलाव करना यानी आंचलिक स्तर पर फैलाव।

काफी विचार-विमर्श के बाद 1977-78 में समझ में आया कि कार्यक्रम को संकट से उबारने के लिए फैलाव का तीसरा स्वरूप ही बेहतर होगा। इस रास्ते को चुनने के पीछे किशोर भारती समूह की यह भी समझ थी कि सामाजिक परिवर्तन एक जटिल प्रक्रिया है जिसके लिए किसी भी इलाके की आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थिति का ऐतिहासिक विश्लेषण करना होगा। इस विश्लेषण में व्यापक पैमाने पर मध्यम वर्ग के शिक्षित युवाओं को जोड़ने से एक जन प्रक्रिया शुरू हो सकेगी। इस दृष्टि से होविशिका का जिला-स्तरीय प्रसार एक बहुत ही सटीक आधार बन सकता था। यदि शिक्षित तबके के सामने, शिक्षा में गुणात्मक सुधार एक चुनौती के रूप में उभारा जाए तो इससे बनने वाले जुड़ाव के जरिए शिक्षित युवाओं को पूरे जिले की स्थिति के विश्लेषण की प्रक्रिया में जोड़ना संभव होगा किशोर भारती समूह की इस समझ ने कार्यक्रम के फैलाव को एक नई दृष्टि से देखने का मौका दिया।

फैलाव के सवाल के साथ-साथ यह बात भी उभरी कि 16 स्कूलों के लिए तो दोनों संस्थाओं के पास बमुश्किल 'ढाई' पूर्णकालिक कार्यकर्ता हैं तो जिले के 220 मिडिल स्कूलों के लिए स्रोत दल कहां से आएगा। यह उल्लेखनीय है कि विगत पांच वर्षों में गठित 20-25 वैज्ञानिकों का स्रोत दल 1977 तक बिखरने लगा था और उसमें नए सदस्य शामिल भी नहीं हो रहे थे। अतः इस सवाल के उत्तर दो स्तरों पर दिए गए। पहला, जब कार्यक्रम बड़े पैमाने पर फैलेगा तो उसकी नई गतिशीलता के चलते अनपेक्षित रूप से जिले के बहुत सारे लोग उसमें जुड़ेंगे और जिम्मेदारियां निभाएंगे। स्रोत दल को भी अपनी कार्यशैली को पुनर्परिभाषित करना होगा। दूसरा उत्तर था कि जिला-स्तर पर कार्यक्रम को रसूलिया-किशोर भारती के नियंत्रण में चलाना न तो संभव होगा और न ही वांछनीय। हमें शासकीय और गैर-शासकीय दोनों स्तरों पर कार्यक्रम के नए समर्थक ढांचे खड़े करने होंगे और संस्थायी भूमिका को मात्र मार्गदर्शन, उत्प्रेरण एवं नीति निर्धारण तक सीमित करना होगा। इस सोच के अनुसार दोनों संस्थाओं ने 1978 की शुरुआत में होविशिका के जिलास्तरीय प्रसार हेतु एक प्रस्ताव राज्य शासन एवं एन.सी.ई.आर.टी. और उसके भोपाल स्थित क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय के सामने प्रस्तुत किया।

जिलास्तरीय प्रसार : संभावनाएं और सीमाएं

जिलास्तरीय प्रसार का प्रस्ताव इस मान्यता पर टिका हुआ था कि विज्ञान शिक्षण का गतिविधि-आधारित, बाल-केंद्रित एवं परिवेश से जुड़ा हुआ स्वरूप शुरू के छह वर्षों में विकसित हो चुका था। इस स्वरूप को सरकारी स्कूली तंत्र की धरातल पर परखा भी जा चुका था। इसके समर्थन में स्रोत दल निर्माण, अनुवर्तन, मासिक गोष्ठियों, फीडबैक संकलन,

मूल्यांकन के नए मापदंडों पर आधारित परीक्षा प्रणाली आदि ढांचों और प्रक्रियाओं के आरंभिक अनुभव भी प्राप्त किए जा चुके थे। अतः जिलास्तरीय प्रसार में प्रमुख मुद्दा यह था कि छोटे पैमाने पर विकसित किए गए नवाचार को बड़े पैमाने तक फैलाने में क्या-क्या नए कदम उठाने होंगे। प्रस्ताव में सुझाए गए एवं शासन के साथ चर्चा में विकसित नए ढांचों तथा प्रक्रियाओं का सार नीचे प्रस्तुत है :

1. एन.सी.ई.आर.टी. से संबंधित भोपाल स्थित क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय इस कार्यक्रम में बढ़ते हुए क्रम में अकादमिक भूमिका निभाए। इसके लिए एन.सी.ई.आर.टी. मुख्यालय ने क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय को औपचारिक रूप से जुड़ने और बजट में विशेष प्रावधान करने की अनुमति दे दी थी। विगत लगभग तीन वर्षों से होविशिका समूह एवं इस महाविद्यालय के शिक्षकों के बीच आदान-प्रदान चल रहा था। महाविद्यालय के कुछ सेवाकालीन प्रशिक्षणों में कार्यक्रम के स्कूली शिक्षक स्रोत व्यक्ति बनकर प्रयोगनिष्ठ विज्ञान शिक्षण का प्रदर्शन भी कर चुके थे। अतः महाविद्यालय को अकादमिक भूमिका देने का प्रस्ताव एक चलती हुई प्रक्रिया का परिणाम था।
2. पूरे जिले को 11 संगम केंद्रों में बांटा गया जिसमें हर केंद्र के शीर्ष पर एक विकसित और साधनयुक्त सरकारी हायर सेकेंडरी स्कूल था। इन संगम केंद्रों की कल्पना एक विकेंद्रित ढांचे में स्वायत्त इकाइयों के रूप में की गई। प्रत्येक संगम केंद्र अपने विकास खंड के शिक्षकों के अनुवर्तन, मासिक गोष्ठियों और किट वितरण आदि के लिए जिम्मेदार रहेगा।
3. संभागीय शिक्षा अधीक्षक कार्यालय में कार्यक्रम की देखरेख एवं प्रबंधन हेतु एक विज्ञान इकाई की स्थापना होगी जिसका नेतृत्व उपसंभागीय अधीक्षक के हाथों में होगा। यह विज्ञान इकाई बढ़ते क्रम में रसूलिया-किशोर भारती द्वारा वर्तमान में निभाई जा रही जिम्मेदारियों को अपने हाथ में ले लेगी।
4. 'बाल वैज्ञानिक' कार्यपुस्तकों का लेखन तो पूर्ववत स्रोत दल द्वारा किया जाएगा लेकिन उसके प्रकाशन की जिम्मेदारी राज्य के पाठ्यपुस्तक निगम के पास होगी। अतः निगम के विधेयक के अनुसार राज्य की पाठ्यपुस्तक समिति द्वारा 'बाल वैज्ञानिक' को औपचारिक स्वीकृति मिली ताकि उसका प्रकाशन निगम द्वारा किया जा सके। परीक्षा प्रणाली में दोनों संस्थाओं को औपचारिक स्थान देने के समान ही 'बाल वैज्ञानिक' का निगम द्वारा प्रकाशन भी एक ऐतिहासिक निर्णय था (इसी मिसाल पर कालांतर में 'एकलव्य' ने भी सामाजिक अध्ययन और अन्य विषयों की पाठ्यपुस्तकों को निगम द्वारा प्रकाशित करवाया)। स्पष्ट है कि 'बाल वैज्ञानिक' के निगम द्वारा प्रकाशन के बाद यह पुस्तक भी जिले के अधिकृत पुस्तक विक्रेताओं के जरिए बच्चों तक पहुंचेगी।
5. विज्ञान विषय में वार्षिक परीक्षा हेतु प्रशिक्षित शिक्षकों का एक परीक्षक दल खड़ा किया जाएगा जिसमें प्रत्येक संगम केंद्र के क्षेत्र से शिक्षक लिए जाएंगे। इस दल

द्वारा तैयार किए गए प्रश्नपत्र (लिखित एवं प्रायोगिक) और अंकसूची को वही मान्यता मिलती रहेगी जैसा कि पूर्व में रसूलिया-किशोर भारती के संदर्भ में मिलती थी।

6. स्कूली अनुवर्तन के लिए एक विशेष अनुवर्तन दल खड़ा किया जाएगा जिसमें हायर सेकेंडरी स्तर पर कार्यरत विज्ञान शिक्षक शामिल होंगे। इस सुझाव से यह भी उम्मीद थी कि जिले के हायर सेकेंडरी स्कूलों में होविशिका के पक्ष में समझ विकसित होने लगेगी।
7. सहायक जिला शाला निरीक्षक (स्कूल इंस्पेक्टर) की भूमिका भी कार्यक्रम में बदलनी होगी। अतः जिले के सभी निरीक्षकों का उन्मुखीकरण किया जाएगा।
8. प्रशिक्षित शिक्षकों में से ही लगभग एक सौ शिक्षक चुने जाएंगे जो अवधारणा, पद्धति एवं कौशलों के स्तर पर स्रोत व्यक्तियों की भूमिका निभा सकेंगे। इनको विशेष प्रशिक्षण देकर कार्यक्रम के स्रोत दल में शामिल किया जाएगा।
9. कार्यक्रम के नीति निर्धारण, अकादमिक मार्गदर्शन, प्रबंधन एवं मानिटरिंग जैसे पक्षों पर निर्णय लेने के लिए एक संचालन समिति गठित की जाएगी जिसकी अध्यक्षता संचालक लोक शिक्षण स्वयं करेंगे और उसके सदस्य-सचिव संभागीय शिक्षा अधीक्षक रहेंगे।

जून 1978 में जिले के 220 मिडिल स्कूलों में कार्यरत लगभग 500 शिक्षकों, 60 निरीक्षकों एवं 100 से अधिक हायर सेकेंडरी शिक्षकों का एक विशाल प्रशिक्षण नर्मदा महाविद्यालय (होशंगाबाद, मध्य प्रदेश) में आयोजित हुआ। इस खबर से पुराने स्रोत दल में नया जोश पैदा हुआ। यह हवा भी बनी कि छह वर्ष के संघर्ष के बाद अंततः शासन ने इस कार्यक्रम को अपना लिया है यानी कार्यक्रम के सिद्धांत मुख्यधारा का हिस्सा बनने लगे हैं। 16 स्कूलों के 40 शिक्षकों को ऐसे लगा जैसे कि उनको नई सामाजिक प्रतिष्ठा मिल गई है। इस समूह में से जो शिक्षक शिथिल पड़ चुके थे वे भी नए संकल्प के साथ स्रोत व्यक्तियों जैसी भूमिका निभाने लगे। एन.सी.ई.आर.टी. के जुड़ने से अपेक्षित संकेत मिला—इस केंद्रीकृत संस्थान की पाठ्यपुस्तकें भी अब होविशिका की शैली में लिखी जा सकती हैं। हमने भी पहली बार समुदाय को जोड़ने के नाम पर जिले के सभी सरपंचों को प्रशिक्षण देखने के लिए आमंत्रित किया। प्रदेश के हिंदी प्रेस ने खुलकर इस पहलकदमी को समर्थन दिया। उस समय कार्यक्रम को 'सवा रुपए में विज्ञान' का नया नाम दिया गया चूंकि प्रयोग के लिए दी गई किट के वार्षिक रखरखाव एवं क्षतिपूर्ति का प्रति विद्यार्थी खर्च मात्र सवा रुपया था।

प्रशिक्षण के बाद जब इस जोशीले माहौल में हर माह मासिक गोष्ठियां होती थीं तो जिले के पश्चिमी छोर के खिड़कियां संगम केंद्र से लेकर पूर्वी छोर के बनखेड़ी संगम केंद्र तक की लगभग 200 किलोमीटर की लंबाई ग्यारह केंद्रों में बंटकर छोटी हो जाती थी। अलग-अलग संगम केंद्रों पर दर्जनों अनुवर्तन रपटें इकट्ठी होने लगीं। ढेर सारे सृजनात्मक सुझाव कार्यपुस्तकों को सुधारने, किट सामग्री को सस्ती बनाने एवं परिवेश से नवीनतम उदाहरणों को प्रयोगों में शामिल करने हेतु इकट्ठे होने लगे। कम से कम एक अपेक्षा तो

सही निकली। अनेक शिक्षित युवा कार्यक्रम के नजदीक कौतूहलवश आने लगे। प्रदेश भर के शिक्षा महाविद्यालयों (जहां बी.एड. की डिग्री दी जाती थी) एवं बुनियादी प्रशिक्षण संस्थानों (वर्तमान की 'डाइट' जहां प्राथमिक स्तर के शिक्षकों को प्रशिक्षण दिया जाता था) में बहस छिड़ गई कि यह गैर-शासकीय हस्तक्षेप क्यों हो रहा है और इससे किस प्रकार के परिवर्तनों की संभावना है। उन्हीं दिनों प्रदेश के शिक्षा सचिव के पद पर श्री शरदचंद्र बेहार नियुक्त हुए थे जिनकी अपनी मानसिकता ऐसे परिवर्तनों के पक्ष में थी। इत्तफाक से उस समय लोक शिक्षण संचालक के पद पर श्री अशोक वाजपेयी मौजूद थे जो हर प्रकार के सृजनात्मक कार्यों को समर्थन देते थे। इन दोनों अधिकारियों के उत्साह भरे समर्थन से जिलास्तरीय प्रसार सहज हो गया। पहले प्रशिक्षण में ही श्री वाजपेयी दो दिनों तक शिक्षकों के साथ स्वयं प्रशिक्षण लेते रहे। कुछ समय के लिए यह अहसास बन रहा था कि प्रदेश की नौकरशाही संस्कृति की मानो जंजीरें टूट रही हों। जिला और संभागीय स्तर के अधिकारी भी पदक्रम के दुराग्रह को छोड़कर शिक्षकों के साथ मिलने-जुलने लगे।

शिक्षा सचिव की पहलकदमी पर बुनियादी प्रशिक्षण संस्थाओं में प्रदेश के विशेषज्ञों के साथ होविशिका स्रोत दल के कई आदान-प्रदान शुरू हुए जिनमें पाठ्यक्रम निर्माण, विषयवस्तु चयन, परिवेश के मायने, मूल्यांकन मापदंड, प्रशिक्षण के स्वरूप जैसे अनेक बुनियादी मुद्दों पर जमकर बहसें हुईं। इन सभी प्रक्रियाओं में क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय के वरिष्ठ शिक्षकों ने एन.सी.ई.आर.टी. के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व किया। बिलासपुर (पूर्वी मध्य प्रदेश) के शिक्षा महाविद्यालय में श्री बेहार ने होविशिका पर एक प्रदेशस्तरीय 'शास्त्रार्थ' करवाया जिसमें प्रदेश के 11 शिक्षा महाविद्यालयों, 45 बुनियादी प्रशिक्षण संस्थाओं एवं अन्य सभी राज्यस्तरीय शैक्षिक संस्थानों के लोग शामिल हुए। इनके सैकड़ों प्रश्नों और आपत्तियों के सटीक उत्तर जिले के 10 प्रतिशत शिक्षकों ने बखूबी दिए। जाहिर था कि अपेक्षानुसार कार्यक्रम के स्रोत दल में नए लोग जुड़ते जा रहे थे। अब यह कार्यक्रम 16 ग्रामीण स्कूलों में खोई हुई कोई प्रक्रिया नहीं थी वरन प्रदेश के पूरे शिक्षा तंत्र को एक चुनौती थी। शैक्षिक हस्तक्षेप की प्रक्रिया में एक न्यूनतम आकार की अनिवार्यता अब रसूलिया-किशोर भारती की आंतरिक बहसों का मुद्दा नहीं रह गया था। इसकी सार्थकता एक जीता-जागता सार्वजनिक अहसास बन गई थी।

लेकिन दो वर्ष बीतते-बीतते कई प्रकार की समस्याएं उभरकर सामने आईं जिनका संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार है :

(क) क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय एवं एन.सी.ई.आर.टी. के कुछ विशेषज्ञों को प्रशिक्षण शिविरों का उन्मुक्त एवं समतामूलक माहौल आत्मसात करने में दिक्कत हो रही थी। यह बी.एड. के औपचारिक माहौल से मेल नहीं खाता था। उनका यह भी सवाल था कि परिवेश के आधार पर विज्ञान की विषयवस्तु को बदलने की जरूरत क्यों है, चूंकि उनके अनुसार विज्ञान तो सार्वभौमिक है। वे हमारे इस दृष्टिकोण से भी सहमत नहीं थे कि विज्ञान को संप्रेषित करने का तौर-तरीका और क्रम परिवेश के

आधार पर बदला जा सकता है। चूंकि किट वितरण की प्रमुख जिम्मेदारी महाविद्यालय की थी तो उसका प्रशासकीय दबाव भी उनके अपने शैक्षिक कामों को प्रभावित करने लगा था। अंततः महाविद्यालय ने इस कार्यक्रम में अपनी भूमिका पहले वर्ष के अंत तक घटानी शुरू की जो धीरे-धीरे लगभग समाप्त हो गई।

(ख) हायर सेकेंडरी के शिक्षकों द्वारा अनुवर्तन दो प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त रहा। पहला, ये शिक्षक बी.एससी., एम.एससी. थे और साथ में बी.एड/एम.एड. भी। इनकी तुलना में मिडिल स्कूल के शिक्षक दसवीं-बारहवीं पास थे और उनके पास बुनियादी प्रशिक्षण संस्थाओं द्वारा दिया गया प्रमाण पत्र था। कइयों ने तो सेवापूर्व प्रशिक्षण भी प्राप्त नहीं किया था। बड़ी संख्या में ऐसे शिक्षक थे जिन्होंने विज्ञान विषय दसवीं के बाद कभी नहीं पढ़ा था। इनका वेतनमान भी हायर सेकेंडरी शिक्षकों से कम था। इन कारणों से हायर सेकेंडरी के अधिकांश शिक्षक कभी भी मिडिल स्कूल के शिक्षकों के साथ बराबरी, परस्पर सम्मान और सौहार्द का रिश्ता नहीं बना पाए। उन्हें यह भी भ्रम था कि उन्होंने 'उच्चस्तरीय' विज्ञान सीखा है और होविशिका उन्हें बच्चों का खेल-खिलवाड़ लगता था। दूसरा बड़ा कारण था कि अनुवर्तन का काम उनके अपने काम के मूल्यांकन और प्रोन्नति (प्रमोशन) का आधार नहीं माना गया। यानी हायर सेकेंडरी के शिक्षण में मिडिल स्कूल के अनुवर्तन की कोई औपचारिक जगह नहीं थी। अतः यह काम उनके लिए हाशिए पर पड़े काम के जैसा था। शीघ्र ही यह स्थिति इतनी बिगड़ी कि हर मासिक गोष्ठी में मुख्य मुद्दा होता था कि अनुवर्तन से क्या-क्या समस्याएं उठ रही हैं। मिडिल स्कूल के शिक्षकों में इस प्रक्रिया के खिलाफ असंतोष और आक्रोश बढ़ता गया जिसके चलते हायर सेकेंडरी स्कूलों की भूमिका अपने आप सिमट गई। लेकिन प्रत्येक संगम केंद्र पर चंद ऐसे शिक्षक मौजूद थे जिन्होंने संगम केंद्र की न्यूनतम भूमिका बरकरार रखी।

(ग) उम्मीद थी कि संभागीय कार्यालय में स्थापित विज्ञान इकाई बढ़ते क्रम में रसूलिया-किशोर भारती की प्रशासकीय एवं प्रबंधकीय जिम्मेदारियों को निभाने लगेगी। संयोग से विज्ञान इकाई को उपसंभागीय शिक्षा अधीक्षक (श्री आर.एन. कटारे) एवं उनके दो साथी सहायक शाला निरीक्षकों की एक उत्साही टीम मिल गई थी जिसके कारण कुछ सीमा तक यह उम्मीद पूरी भी हुई। लेकिन उनका उत्साह नौकरशाही की जकड़न को न तोड़ सका और आदेशों-निर्देशों में उलझ गया। अकसर ऐसी स्थितियां बनीं कि जब तक हम लोग उनकी फाइलों को लेकर स्वयं ऊपर के अधिकारियों तक नहीं पहुंचते तब तक वे फाइलें रुकी रहतीं।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट होना चाहिए कि जबरदस्त संभावनाओं एवं उम्मीदों के बावजूद जिलास्तरीय प्रसार का प्रभाव थमने लगा था। दो वर्ष समाप्त होते-होते बड़े पैमाने पर शिक्षकों में व्याख्यान पद्धति पर लौटने की प्रवृत्ति उसी प्रकार हावी होने लगी जैसे कि 1974-75 में 16 स्कूलों के स्तर पर देखी गई थी। प्रशिक्षणों, मासिक गोष्ठियों और अनुवर्तनों का

प्रभाव उसी प्रकार घटने लगा जैसा कि हम छोटे पैमाने पर देख चुके थे। कुछ समस्याएं ज्यादा विकराल होकर उभरीं। पाठ्यपुस्तक निगम के प्रकाशन की उलझी हुई प्रक्रिया निगम के आंतरिक भ्रष्टाचार में और भी अधिक उलझ जाती थी चूंकि 'बाल वैज्ञानिक' का प्रकाशन एक विशेष आयोजन था तो कई बार प्रदेश की सामान्य पाठ्यपुस्तकों की सामान्य देरी से भी ज्यादा देर में इनका प्रकाशन होता था। 1980 में एक बार यह पुस्तक जुलाई की जगह नवंबर में उपलब्ध हुई और वह भी मुख्यमंत्री के व्यक्तिगत निर्देशों पर जबकि 1978 में क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय (अब क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान) ने बड़े परिश्रम और व्यवस्था के साथ जुलाई माह में ही हर स्कूल को किट पहुंचा दी थी। लेकिन आगामी वर्षों में इसकी क्षतिपूर्ति के लिए राज्य शासन के बजट में कोई प्रावधान नहीं बन पाया। हालांकि इसकी जरूरत शासन को शुरू में ही प्रस्तुत प्रस्ताव में इंगित थी। क्षतिपूर्ति का अभाव जल्द ही शिक्षकों की शिकायतों में और शिकायतें प्रयोग न करने के बहानों में बदलने लगीं। परेशान शिक्षकों ने कार्यक्रम को 'किट-किट कार्यक्रम' का नाम दिया। तीसरे वर्ष में जब क्षतिपूर्ति हुई तब भी यह लेबल नहीं उतर पाया। कार्यक्रम के लिए खड़े किए गए कई ढांचों के चरमरा जाने से स्रोत दल की भूमिका पूर्ववत अपरिहार्य बन गई और यह उम्मीद धराशायी हो गई कि शासकीय ढांचों के द्वारा कार्यक्रम का नेतृत्व और प्रबंधन संभव हो पाएगा।

कार्यक्रम के बारे में उठाए गए वे सब पुराने सवाल एक बार फिर तरोताजा हो गए जिनका सार नीचे प्रस्तुत है :

- *ऊपर-नीचे की कड़ी का न होना :* यानी प्राथमिक और हायर सेकेंडरी दोनों स्तरों पर इस प्रकार के गतिविधि-आधारित, बाल-केंद्रित और परिवेश से जुड़े हुए विज्ञान शिक्षण का अभाव।

- *आजू-बाजू की कड़ी का न होना :* विज्ञान के अलावा अन्य सभी विषयों का शिक्षण व्याख्यान पद्धति से चलता था। इससे यह भ्रमात्मक संकेत भी निकला कि होविशिका के सिद्धांत अन्य विषयों पर लागू नहीं होते। बच्चों की मनोवैज्ञानिक कुंठा का जिक्र पहले भी हो चुका है।

- *शासकीय नीति का यथावत बने रहना :* इतने बड़े हस्तक्षेप के बावजूद न राज्यस्तर पर और न ही केंद्रस्तर पर विज्ञान शिक्षण की नीति (जिसे 'कार्यक्रम की रूपरेखा' पढ़ा जाए; देखिए इसी अध्याय के अंत में नीति-संबंधी टिप्पणी क्र. 7) में कोई परिवर्तन किया गया। इसकी स्पष्ट झलक प्रदेश शासन के कार्यक्रमों में थी—होशंगाबाद जिले को छोड़कर अन्य किसी भी जिले में राज्य सरकार द्वारा 'होशंगाबाद विज्ञान' को फैलाने की पहल नहीं की गई। इससे स्पष्ट संकेत मिला कि जो इस जिले में हो रहा है वह प्रदेश की मुख्यधारा के उपयुक्त नहीं है। राज्य शिक्षा संस्थान (भोपाल), राज्य विज्ञान शिक्षा संस्थान (जबलपुर), ग्यारह शिक्षा महाविद्यालय और 45 बुनियादी प्रशिक्षण संस्थाओं के सभी कार्यक्रम पूर्ववत रूढ़िवादी सिद्धांतों पर चलते रहे।

जिलास्तरीय प्रसार के बावजूद होविशिका एक बार फिर विशाल मरुस्थल में अलग-थलग पड़ा हुआ टापू बन गया, इस बार 16 स्कूलों की जगह 220 स्कूलों का।

इस टापू की बची-खुची हरियाली पर राष्ट्रीय पुरस्कार मिलते रहे, स्रोत दल के सदस्य प्रदेश एवं केंद्र की शिक्षा समितियों में शामिल होते रहे, मीडिया में रपटें छपती रहीं, पी-एच. डी. स्तर के शोध होते रहे, विधान सभा में सवाल उठते रहे, राष्ट्रीय परिसंवादों और प्रशिक्षणों में जिले के शिक्षक स्रोत व्यक्तियों के रूप में प्रस्तुत होते रहे और बढ़ते क्रम में नवाचार की मिसाल दिखाने के लिए यह जिला एक तीर्थस्थल बनता गया। 1986 में एक तीन-सदस्यीय चीनी शैक्षिक प्रतिनिधिमंडल मध्य प्रदेश आया। उसको प्रदेश के अधिकारियों ने गर्व के साथ होविशिका दिखाया और छाती फुलाकर घोषित किया कि यह शासन का एक महान शैक्षिक कदम है।

इस कार्यक्रम के प्रगतिशील शैक्षिक पहलू शासन की नीतियों के वैधानीकरण के लिए इस्तेमाल होने लगे। लेकिन शिक्षण की शासकीय नीति में रंचमात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ।

त्रिकोणीय फंसाव और नई संस्था का जन्म

सन् 1981-82 आते-आते किशोर भारती समूह में एक बार फिर प्रश्नों का वही सिलसिला चल पड़ा था जो 1974-77 के बीच होविशिका के लघु स्वरूप में आई गिरावट से उपजी चिंता को लेकर चला था। वही गिरावट जिलास्तरीय प्रसार के बाद एक बार फिर उजागर हो चुकी थी। राजनेता, क्षैक्षिक नौकरशाह एवं शिक्षक के इस त्रिकोणीय खाके से बाहर निकलने का कोई सृजनात्मक रास्ता नहीं दिख रहा था। मित्र मंडल केंद्र रसूलिया 1979-80 में ही होविशिका से अपना रिश्ता तोड़ चुका था। हालांकि इसके कारणों का विश्लेषण यहां अनावश्यक है, इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि रिश्ता तोड़ने की प्रक्रिया का प्रमुख कारण रसूलिया के संयोजक पद से श्री सुदर्शन कपूर का अलग होना था। किशोर भारती के अन्य कार्यक्रमों—मानव अधिकारों एवं जनतांत्रिक हकों के संघर्ष में हमारी प्रदेशस्तरीय भागीदारी, स्थानीय स्तर पर खेत-मजदूरों एवं छोटे किसानों के संगठन में उत्प्रेरक की भूमिका, ग्राम-आधारित जन स्वास्थ्य चेतना की पहलकदमी, रिंग के कुओं के जरिए सिंचाई के साधन मुहैया कराना, देश के नारीवादी एवं जनविज्ञान आंदोलनों में बढ़ती हुई भूमिका, स्थानीय स्तर पर पुस्तकालय, नुक्कड़ नाटक एवं व्याख्यान मालाओं के जरिए युवा चेतना जाग्रत करने के काम आदि से जुड़े कार्यकर्ता अब खुलकर अपना असंतोष जाहिर कर रहे थे। सबको अपने सवालों के उत्तर चाहिए थे। किशोर भरती में एक नई दिशा और सार्थक भूमिका की तलाश के लिए कई छोटे-छोटे काम शुरू हो रहे थे। इस माहौल में होविशिका को नेतृत्व देने की जिम्मेदारी अकेले किशोर भारती पर भारी पड़ रही थी। इसलिए होविशिका के देश भर में फैले हुए साथियों को किशोर भारती का चेतावनी भरा पत्र गया जिसमें स्पष्ट घोषणा थी कि या तो कार्यक्रम की जिम्मेदारी संभालने में भागीदार बनिए या कार्यक्रम को

समेटने की अनुमति दीजिए।

बैठकों का एक सिलसिला किशोर भारती में शुरू हुआ। देश भर से कार्यक्रम से जुड़े लोग इन बैठकों में शामिल हुए। एक बार फिर किशोर भारती की रेतीली मिट्टी में महानगरों के शिक्षाविदों और वैज्ञानिकों ने उंगलियों से आकृतियां बनानी शुरू कीं जो संवाद के आगे बढ़ने के साथ-साथ उलझती गईं। उन आकृतियों में उलझे हुए प्रश्न झलक रहे थे। राज्य शासन के शरद बेहार हर बैठक में शामिल हुए और उन्होंने अपने प्रखर विश्लेषण के जरिए संवाद को आगे बढ़ाया। उनका स्पष्ट मानना था कि शैक्षिक परिवर्तन केवल व्यापक पैमाने पर ही हो सकता है, लघुस्तरीय कामों का समय निकल चुका है। उनके इस चिंतन को लेकर होविशिका के साथियों में गंभीर मतभेद थे।

अंततः तय हुआ कि सभी साथियों को किशोर भारती के माहौल से हटकर अन्य सभी रोजाना के सरोकारों से मुक्त होकर तीन दिन तक विचार-विमर्श करना होगा। अगली बैठक विशाल गांधीसागर (जिला मंदसौर) के किनारे इस उम्मीद के साथ हुई कि गांधीसागर का 'विराट दर्शन शैक्षिक नवाचारों के विराट स्वरूप से हमारा साक्षात्कार' कराने में सफल होगा।[14] लेकिन इस कवायद के बावजूद हम उस त्रिकोणीय फंसाव से बाहर नहीं निकल सके। बार-बार हर प्रस्तावित समाधान यही सुझाता था कि किशोर भारती जैसी संस्था को अपनी पूरी ऊर्जा इस कार्यक्रम को सफल बनाने में लगानी होगी—कार्यक्रम का खाका वही रहेगा लेकिन शैक्षिक हस्तक्षेप सभी विषयों में और सभी स्तरों पर होना चाहिए। यह काम इस प्रकार आयोजित हो कि तेजी के साथ पूरे प्रदेश के शिक्षा तंत्र को प्रभावित कर सके। इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए काम के कई मॉडल बने लेकिन हर मॉडल का खाका उस त्रिकोण के दायरे के अंदर ही रहता था। स्कूल-समुदाय के रिश्ते की बात जरूर उठी और उस संदर्भ में पाठ्यक्रम के पुनर्निर्माण की भी। लेकिन यहां भी प्रस्तावित प्रक्रियाओं में समुदाय की कोई सार्थक भूमिका नहीं थी। निस्संदेह होविशिका से उपजी चेतना के फलस्वरूप हम सभी ने भौगोलिक एवं सांस्कृतिक विविधता को पाठ्यक्रम के एक आवश्यक आधार के रूप में आत्मसात कर लिया था और अगले हर काम में इसको एक मार्गदर्शक सिद्धांत माना था। लेकिन इसको कार्यरूप देने के लिए भी समुदाय की भूमिका के लिए कोई प्रावधान नहीं सूझता था। यह सारी पहलकदमी भी मध्यम वर्गीय और महानगरीय बुद्धिजीवियों की रहेगी, यह एक सर्वमान्य अघोषित धारणा थी। ये बुद्धिजीवी शिक्षकों को जरूर साथ लेंगे— शिक्षकों को शायद हमने समुदाय का पर्याय मान लिया था। ऐसा नहीं था कि यह समूह शिक्षकों की सामंती, ब्राह्मणवादी, पुरुषवादी और उच्चवर्गीय सीमाओं से परिचित नहीं था लेकिन उस त्रिकोण में फंसे रहने के कारण शिक्षक के अलावा 'जन' का कोई और स्वरूप भी सामने नहीं उभरा। गांधीसागर का 'विराट दर्शन भी शैक्षिक परिवर्तन की विराट चुनौती से हमारा साक्षात्कार' नहीं करवा पाया।

होविशिका से जुड़े हुए कई साथियों को तब लगा कि यदि वे इस काम में पूर्णकालिक रूप से जुड़ सकें और नए उत्साह तथा संकल्प के साथ अपनी सृजनात्मकता का योगदान

दे सकें तो शायद जिन सीमाओं का सामना रसूलिया-किशोर भारती ने किया था, उन्हें तोड़ा जा सके। आशा और आस्था को कौन टाल सकता है? शीघ्र ही किशोर भारती से मांग की गई कि वह होविशिका में अपने एक आखिरी योगदान के रूप में एक नई संस्था (जो बाद में 'एकलव्य' कहलाई) के निर्माण में मदद करे। इस नई संस्था का चरित्र किशोर भारती से निम्नानुसार भिन्न होगा :

(क) यह शैक्षिक परिवर्तन के मुद्दे पर ऊर्जा केंद्रित करेगी, अन्य प्रकार के सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रमों में अपनी ऊर्जा के बिखराव से यथासंभव दूर रहेगी।

(ख) इसके वेतनमानों का ढांचा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के समरूप होगा ताकि उच्चशिक्षा की संस्थाओं के लोग इससे जुड़ सकें (किशोर भारती ने अपने वेतनमानों का ढांचा स्थानीय स्कूली शिक्षक के समकक्ष या उससे भी कम स्तर का रखा था)।

(ग) इसमें यह आग्रह नहीं होगा कि संस्था की स्थापना ग्रामीण क्षेत्र में ही हो। इसके मुख्यालय प्रदेश के नगरों में रखे जाएंगे ताकि बाहर से आने वाले कार्यकर्ता और उनके परिवार एकदम से अलग-थलग न पड़ जाएं।

(घ) यह होविशिका के जिलास्तरीय स्वरूप की तमाम उलझनों को हल करने को प्राथमिकता देगी, यानी शैक्षिक मुद्दों के अलावा शिक्षकों की परेशानियों, भौतिक सुविधाओं के अभाव एवं राजनीतिक दखलंदाजी जैसी समस्याओं को भी प्राथमिकता देगी।

(च) इसका मुख्य सरोकार लघु-स्तरीय शैक्षिक नवाचारों को व्यापक पैमाने पर लागू करने के ढांचे विकसित करना होगा।

अगले कुछ महीनों में 'एकलव्य' का एक शुरुआती समूह उभरने लगा जिसमें अधिकतर वे लोग थे जो सत्तर के दशक में शोध विद्यार्थी अथवा युवा वैज्ञानिक के रूप में होविशिका में योगदान देने आते रहते थे। फरवरी 1982 में किशोर भारती के सहयोग से वहीं के खेतों की मेड़ों और रिंग के कुओं पर बैठकर 'एकलव्य' की स्थापना का प्रस्ताव तैयार हुआ जिसका शीर्षक निम्नानुसार था :

'शैक्षिक नवाचारों के सूत्रपात और प्रसार के लिए
प्रणालियों का विकास'

प्रस्ताव का उपशीर्षक इस प्रकार था :

'लघु-स्तर के प्रयोगों से व्यापक पैमाने के काम की ओर'

प्रस्ताव में लिखा गया कि मध्य प्रदेश में शैक्षिक शोध एवं नवाचारी काम के लिए एक 'स्वायत्त, विकेंद्रित, राज्यस्तरीय संस्थान' की स्थापना की जा रही है। संस्थान की दिशा का जिक्र करते हुए कहा गया कि यह ऐसा पाठ्यक्रम विकसित करेगी जो स्थानीय परिवेश, आवश्यकताओं एवं संस्कृति से जुड़ा होगा। संस्थान सभी विषयों में स्कूली तंत्र के सभी

स्तरों पर सक्रिय होगा। इसके मार्गदर्शक सिद्धांत निम्नानुसार होंगे :

- विकेंद्रीकरण,
- शिक्षकों का अधिकतम जुड़ाव,
- जनसहभागिता,
- शैक्षिक परिवर्तन में उत्प्रेरक भूमिका।

इस प्रस्ताव के सहारे किशोर भारती की पहलकदमी पर योजना आयोग के तत्कालीन सदस्य (शिक्षा) डॉ. एम.एस. स्वामीनाथन ने एक उच्चस्तरीय बैठक बुलाई जिसमें शिक्षा मंत्रालय, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग (भारत सरकार), भारतीय सामाजिक विज्ञान शोध परिषद, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग आदि के प्रतिनिधियों को शामिल किया गया। इस बैठक में प्रस्तावित 'एकलव्य' संस्था को इन विभिन्न एजेंसियों ने वित्तीय समर्थन देने का आश्वासन दिया। शुरुआती समर्थन के रूप में किशोर भारती ने सर दोराबजी टाटा ट्रस्ट, गोदरेज फाउंडेशन एवं लार्सन एंड टूब्रो लि. से 60-60 हजार रुपए का दान प्राप्त किया जो एकलव्य को ऋण के रूप में दिया गया (कालांतर में यह ऋण विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग से मिले पहले अनुदान में से वापस किया गया)।

अब सवाल था कि शासकीय अनुदान प्राप्त हुए बगैर इस अनिश्चित हालात में एकलव्य का पहला कार्यकर्ता कौन होगा। इस पहले कदम को उठाने का साहस किशोर भारती के पूर्व कार्यकर्ता एवं *साइंस टुडे* (टाइम्स ऑफ इंडिया प्रकाशन) के भूतपूर्व उपसंपादक श्री रेक्स डी रोजारियो ने किया। अगले कुछ महीनों में किशोर भारती के अनुरोध पर एक बार फिर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने एकलव्य के लिए पांच टीचर फेलोशिप दीं।

इस प्रकार 1982 के अंत तक एकलव्य संस्था की शुरुआत हुई।

उपसंहार

उपरोक्त आलेख में होविशिका की प्रक्रिया में समय-समय पर उभरे अनेक अंतर्द्वंद्वों का जिक्र हुआ है। कई सवाल भी उठे, मसलन उत्तर प्राथमिक (मिडिल) स्कूलों तक गरीब बच्चों का न पहुंच पाना, कार्यक्रम का केवल विज्ञान विषय तक सीमित हो जाना, वैज्ञानिक मानसिकता का कक्षा के बाहर समाज में पनप ना पाना आदि। एक फंसाव का बार-बार उल्लेख हुआ—त्रिकोणीय फंसाव, जिसके कारण कार्यक्रम की सारी पहलकदमी राजनेता, शैक्षिक नौकरशाह एवं शिक्षक के त्रिकोण में ही सिमट गई। निर्णय प्रक्रिया में रसूलिया और किशोर भारती संस्थाओं के कार्यकर्ता और बाहर से आए स्रोत व्यक्ति ही प्रमुख भूमिका निभाते रहे। शिक्षकों की भूमिका अनुवर्तन, मासिक गोष्ठियों और प्रशिक्षण शिविरों के दौरान पाठ्य एवं प्रयोग सामग्री विकसित करने, प्रशिक्षण सुधारने अथवा बच्चों का फीडबैक देने तक ही सीमित रही महिलाओं की भागीदारी और नारीवादी सोच सत्तर के दशक के अंत

तक किशोर भारती समूह में विकसित नहीं हो पाया था। इन सब विरोधाभासों के मूल कारण क्या हो सकते हैं? इतने लंबे अंतराल के बाद इस बिंदु पर जो भी कहा जाएगा वह हमारे वर्तमान सोच से प्रभावित हुए बगैर नहीं रह सकता। इसके बावजूद इस ओर एक कोशिश करने की सामाजिक जिम्मेदारी से हम बच नहीं सकते।

केवल होविशिका ही नहीं बल्कि रसूलिया एवं किशोर भारती द्वारा शुरू किए गए अन्यान्य कार्यक्रम बुनियादी तौर पर संस्थागत काम थे। होविशिका के अलावा किशोर भारती में जो कार्यक्रम चले उनमें रिंग के कुओं के जरिए सिंचाई के साधन उपलब्ध करवाना, गाय की नस्ल सुधारना, खेती के नए तरीके खोजना, स्वास्थ्य शिक्षण एवं जरूरी दवाई सुविधा, साक्षरता कक्षाएं, पुस्तकालय चलाना, युवा समूहों एवं मजदूर संगठन का गठन, नारीवादी गतिविधियां, सामाजिक अध्ययन आदि शामिल थे। लेकिन यह सब काम संस्था के कार्यकर्ताओं की समझ की उपज थे। ऐसा कभी नहीं हुआ कि हमने उस क्षेत्र की ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक या सांस्कृतिक परिस्थितियों का वस्तुनिष्ठ आकलन करके काम तय किए हों और अपनी प्राथमिकताएं बदली हों। यदि हमने ऐसा किया होता तो कार्यक्रमों का स्वरूप कुछ और ही होता तथा निर्णय प्रक्रिया में सक्रिय जनभागीदारी भी होती। इस कमी के चलते जिस हद तक हमारे कार्यक्रमों में निहित मान्यताएं स्थानीय जरूरतों के अनुकूल होती थीं, उस हद तक सामाजिक प्रक्रिया आगे बढ़ती थी और जिस हद तक यह नहीं होता था, वहां सामाजिक प्रक्रिया शुरू भी नहीं हो पाती थी। ऐसा नहीं था कि इस प्रश्न के प्रति हम सचेत नहीं थे। किशोर भारती समूह में ऐसे प्रश्न लगातार उठते रहे लेकिन उनके समाधान की प्रक्रिया भी संस्था के कार्यकर्ता समूह के दायरे में ही सिमटी रही।

उपरोक्त प्रक्रिया में एक और अवरोध उभरा जो किशोर भारती का सवाल उठाने की संस्कृति का प्रतिफल था। हमारा यह मानना था कि हर काम को वैज्ञानिक दृष्टि से समझना जरूरी है और जब तक वह काम तार्किक आधारों पर स्पष्ट नहीं हो जाता तब तक उस पर सवाल उठने ही चाहिए। एक ओर तो इस दृष्टि के कारण आत्मचिंतन और विश्लेषण की जबरदस्त संस्कृति बनी लेकिन दूसरी ओर इसी के कारण वे सभी लोग—चाहे संस्था के कार्यकर्ता हों, शिक्षक हों, या गांव के आम लोग हों—जो तर्क पेश करने अथवा सवाल पूछने में माहिर नहीं थे, उनकी आवाज अकसर दब जाती थी। निर्णय प्रक्रिया में वर्चस्व उन लोगों को ज्यादा रहता था जो अपनी तार्किक क्षमता एवं अध्ययन के जरिए हर प्रकार के सवाल उठा सकते थे और सवालों के उत्तर भी खोज सकते थे। अस्सी के दशक में किशोर भारती समूह में धीरे-धीरे नारीवादी सोच विकसित हुआ और इसका असर कुछ हद तक निर्णय प्रक्रिया पर भी पड़ा। कम से कम सवालों का जो जंगल खड़ा कर दिया गया था, उसके छंटने की प्रक्रिया शुरू हुई। यह समझ भी बनने लगी कि सटीक सवालों के उत्तर हमेशा केवल तार्किक प्रक्रिया से मिलें, यह जरूरी नहीं है। मानवीय संवेदना, सहयोग और कुछ हद तक असहमति के बावजूद कदम मिला कर चलने की भावात्मक तैयारी, सवालों के

उत्तर खोजने में सहायक सिद्ध हो सकती है।

अंत में किशोर भारती के मूल उद्देश्य का जिक्र करना जरूरी लगता है। शुरू से ही यह मान्यता थी कि शिक्षा के जरिए सामाजिक परिवर्तन संभव है और गांव के स्तर पर एक प्रगतिशील युवा नेतृत्व खड़ा किया जा सकता है। इसी कारण संस्था के पहले चार वर्षों में खेती एवं कुटीर उद्योग पर आधारित गांधीवादी बुनियादी शिक्षा का कार्यक्रम भी चला। इस कार्यक्रम से यह सबक मिला कि मुख्यधारा के बाहर समानांतर शिक्षा का कोई भी प्रयोग टिक नहीं सकेगा। लेकिन उस प्रयोग के जरिए शिक्षा को एक समग्र दृष्टि से देखने का मौका भी मिला। एक प्रकार से होविशिका के जरिए इसी समग्रता की ओर बढ़ने की उम्मीद थी, लेकिन स्कूल की सीमाएं हमारी भी सीमाएं बन गईं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इन सीमाओं को तोड़ने के लिए हम अपने हस्तक्षेप कर्म में 'समुदाय' की एक सशक्त तथा ठोस भूमिका का महत्व समझ नहीं पाए। शैक्षिक हस्तक्षेप की यही अगली चुनौती है।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. इसका संदर्भ नब्बे के दशक से है जिसकी शुरुआत विश्व बैंक के तत्वावधान में थाइलैंड के जोमतियन नगर में मार्च 1990 में "सबके लिए शिक्षा" शीर्षक के तहत आयोजित प्रथम विश्व शिक्षा सम्मेलन से हुई. इस सम्मेलन में विश्व बैंक ने "सबके लिए शिक्षा" की अपनी दृष्टि पर तीसरी दुनिया के लगभग सभी देशों (भारत समेत) की सरकारों की सहमति प्राप्त की. उसके बाद से इन देशों के स्कूली शिक्षा तंत्र के दरवाजे औपचारिक तौर पर विश्व बैंक और उसकी छत्रछाया में सक्रिय अन्य अंतर्राष्ट्रीय वित्तपोषक एजेंसियों के लिए खुल गए. भारतीय शिक्षा के इन दो चरणों—पूर्व-जोमतियन एवं उत्तर-जोमतियन—के बीच हुए दिशा-परिवर्तन को इस लेखक ने पहचाना और भारत की शिक्षा पर हावी हो रही वैश्वीकरण की राजनीति को नवंबर 1994 में दर्ज किया (देखिए खंड पांच, अध्याय क्र. 15).
2. अगस्त 1970 से ही मेरा रसूलिया केंद्र आना-जाना शुरू हो गया था. किशोर भारती को होशंगाबाद जिले में स्थापित करने के लिए रसूलिया केंद्र से सहयोग मांगा था. इसके बदले में रसूलिया केंद्र ने वहां अपने पुराने स्वरूप को बदलने के लिए चल रही आत्मचिंतन की प्रक्रिया में मुझे जोड़ लिया था. इसलिए रसूलिया के बारे में यहां कही गई बातें मेरे दर्शक एवं सीमित रूप से सहभागी होने के नाते प्रत्यक्ष अवलोकन और अनुभव पर आधारित हैं.
3. साठ के दशक में ही इंगलैंड की नफील्ड फाउंडेशन ने विज्ञान विषय को लेकर प्रयोगों के अधार पर एक पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकों की शृंखला तैयार की थी. यह संभव है कि भौतिकी अध्ययन दल ने नफील्ड फाउंडेशन के इस प्रयास से प्रेरणा ली हो.
4. हालांकि एन.सी.ई.आर.टी. का यह दावा है कि उनकी पाठ्यपुस्तक लेखन समितियों में हमेशा स्कूली शिक्षकों को सदस्य के रूप में रखा गया. लेकिन इस दावे को अर्धसत्य के रूप में ही स्वीकारा जा सकता है चूंकि इन समितियों की संरचना एवं प्रक्रिया इस प्रकार से पूर्व-निर्धारित की जाती रही है कि तथाकथित विशेषज्ञों का वर्चस्व सदा कायम रहता है. इस माहौल में स्कूली शिक्षक की उपस्थिति एन.सी.ई.आर.टी. के पाठ्यपुस्तक लेखन कार्यक्रम का वैधानीकरण करने के अलावा कुछ और नहीं

कर पाती. यही परिस्थिति राज्यस्तर पर राज्य शैक्षिक शोध एवं प्रशिक्षण परिषद (एस.सी.आर.टी.) के काम की है.

5. जैसा कि पिछले आलेख में बताया है कि होविशिका में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया कि पाठ्यक्रम, शिक्षण पद्धति, अध्यापक प्रशिक्षण आदि आयामों के साथ-साथ परीक्षा प्रणाली और मूल्यांकन के मापदंडों को भी बदला जाए. यह हमें शुरू से ही स्पष्ट था कि भारत का शिक्षा तंत्र तब तक नहीं बदलेगा जब तक कि मूल्यांकन के वर्तमान मापदंडों एवं मूल्यांकन प्रणाली का तालमेल अन्य परिवर्तनों के साथ नहीं बैठेगा. शायद यही कारण है कि होविशिका का हस्तक्षेप, चाहे आज कैसी भी हालत में हो, 27 साल से जीवित है, जबकि मुंबई महानगर निगम का हस्तक्षेप पहली बोर्ड परीक्षा के पूर्व ही मात्र ढाई-तीन साल में अपने-आप सिमट गया।
6. विडंबना यह है कि फरवरी 1972 में जब एन.सी.ई.आर.टी. के क्षेत्रीय परामर्शदाता प्रयोगनिष्ठ शिक्षण को भारतीय परिस्थिति के लिए अनुपयुक्त घोषित कर रहे थे, ठीक उसी समय एन.सी.ई.आर.टी. की ही ओर से मध्य प्रदेश के कुछ चुनिंदा स्कूलों में प्रयोगनिष्ठ विज्ञान शिक्षण शुरू करवाने के लिए विज्ञान किट का एक बक्सा देने की योजना बन रही थी. यह योजना होविशिका शुरू होने के साथ-साथ राज्य विज्ञान शिक्षण संस्थान (जबलपुर) के जरिए शुरू भी की गई. यह दीगर बात है कि अधकचरी दृष्टि के कारण यह योजना चल नहीं पाई. चलती भी कैसे? इसमें न तो शिक्षण पद्धति को बदलने का आग्रह था, न प्रयोगनिष्ठ शिक्षण के पक्ष में अन्य सभी प्रशासकीय-तकनीकी प्रावधान खड़े करने का, ना ही मूल्यांकन मापदंड बदलने की कोशिश थी—केवल बक्सा भर था और उसकी भी किट को नुकसान पहुंचने पर प्रभारी शिक्षक को दंडित करने के भी प्रावधान थे. इसके विपरीत होविशिका में सरकारी आदेश जारी हुआ था कि प्रयोग के दौरान किट सामग्री को हुई क्षति के लिए शिक्षक को जवाबदेह नहीं माना जाएगा. अतः वही हुआ जिसकी अपेक्षा थी—सरकारी कार्यक्रम में दिए गए किट बक्से बंद पड़े रहे, जबकि होविशिका के स्कूलों में बिना बक्सों के दी गई किट से सैकड़ों बच्चों ने प्रयोग किए. कई स्कूलों में बच्चों ने ही किट की सुरक्षा के लिए लकड़ी की सस्ती पेटियां स्वयं बनाईं.
7. यहां 'नीति' शब्द का उपयोग वास्तव में सही नहीं है. जिस मायने में इस शब्द का उपयोग यहां हुआ है उसका अर्थ नीति के उस रूप में है जो दरअसल में क्रियान्वित होता है। 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति के साथ-साथ एक और दस्तावेज जारी किया गया था जिसे 'कार्यक्रम की रूपरेखा' कहा गया था. यहां 'नीति' की जगह 'कार्यक्रम की रूपरेखा' पढ़ा जाना ज्यादा सटीक होगा. इस संदर्भ में 'नीति' और 'कार्यक्रम की रूपरेखा' के बीच भेद करना इसलिए जरूरी है चूंकि सिद्धांततः तो विज्ञान शिक्षण की नीति हमेशा प्रयोगनिष्ठ शैली में वैज्ञानिक पद्धति से शिक्षण की रही है. राधाकृष्णन आयोग, मुदालियर आयोग एवं कोठारी आयोग सभी ने ऐसे विज्ञान शिक्षण की पैरवी की है. लेकिन जो 'कार्यक्रम की रूपरेखा' देश भर में स्वीकृत होती रही है वह व्याख्यान पद्धति से शिक्षण की रही है. यानी शिक्षक और विद्यार्थी अनुपात, कक्षा के भौतिकीय हालात, समय-सारिणी, शैक्षिक साधन शिक्षक-प्रशिक्षण, मूल्यांकन मापदंड, परीक्षा प्रणाली आदि के लिए तकनीकी और बजट प्रावधान हमेशा इस दृष्टि से किए गए हैं कि कक्षा में प्रयोग न हों, केवल व्याख्यान दिए जाएं. राममूर्ति समिति (1990) के सदस्य के रूप में मैंने 'नीति' और 'कार्यक्रम की रूपरेखा' के बीच इस भेद को नीति विश्लेषण की पद्धति का एक प्रमुख आधार बनाया जिसकी स्पष्ट झलक समिति की रपट में देखी जा सकती है.
8. इस निर्णय के दोनों अनूठे पहलुओं को रेखांकित करने की जरूरत है :

   (क) बोर्ड परीक्षा के स्तर पर मूल्यांकन के औपनिवेशिक काल से ढोए जा रहे पारंपरिक मापदंडों को बदला गया—जानकारी पुनरावृत्ति की क्षमता के स्थान पर तर्क, समीक्षात्मक चिंतन, अवधारणा निर्माण, समझ, निष्कर्ष निकालने और सृजन की प्रक्रिया आदि गुणों को परखने वाले मापदंडों को मूल्यांकन

का आधार माना गया.

(ख) मूल्यांकन करने का अधिकार नागरिक समाज के दो समूहों को सौंपा गया.

9. इस मुलाकात का श्रेय रशीद शेख को जाता है. रशीद ने कुछ समय पूर्व ही आई.आई.टी., कानपुर से रसायनशास्त्र में एम.एससी. की डिग्री ली थी. अपने हाई स्कूली वर्षों में रशीद को एन.सी.ई.आर. टी. की 'विज्ञान प्रतिभा खोज छात्रवृत्ति' के जरिए दिल्ली विश्वविद्यालय के रसायनशास्त्र विभाग में काम करने का मौका मिला था. वहां रशीद को डॉ. कृष्णा साने तथा अन्य शिक्षकों के द्वारा विज्ञान को प्रयोगनिष्ठ बनाने के प्रयासों का पता चला था. कानपुर के बाद रशीद रसूलिया आए और 1972-73 में होविशिका के सर्वप्रथम पूर्णकालिक कार्यकर्ता बने.

10. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को इस प्रावधान के तहत दिल्ली विश्वविद्यालय के निम्नांकित शिक्षकों ने होशंगाबाद जिले में रहकर काम किया : प्रो. प्रमोद श्रीवास्तव, प्रो. विजय वर्मा, प्रो. राजरूप, प्रो. एन. पंचपकेषन, प्रो. जयदेव आनंद, प्रो. विष्णु भगवान भाटिया (सभी भौतिकी विभाग के); प्रो. कृष्णा साने, प्रो. वी.एम. खन्ना, प्रो. मनमोहन कपूर (सभी रसायनशास्त्र विभाग के).

11. सन् 1982-83 में किशोर भारती द्वारा एकलव्य संस्था का मध्य प्रदेश में गठन होविशिका को सुदृढ़ करने और अन्य शैक्षिक नवाचारों की शुरुआत करने हेतु किया गया.

12. 'भारत जनविज्ञान जत्था' जनविज्ञानी समूहों का एक अखिल भारतीय संजाल है. हालांकि इस अवधारणा की शुरुआत 1987 के जत्थे से हुई थी लेकिन इसके वर्तमान स्वरूप का जन्म 1991-92 में आयोजित जनविज्ञान जत्थे से हुआ. वर्तमान में इसके जरिए प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण हेतु 'लोकशाला' के नाम से एक राष्ट्रव्यापी प्रक्रिया चलाई जा रही है.

13. होविशिका की इस सीमा को लेकर शुरू से ही प्रश्न उठने लगे थे. यह प्रश्न शिक्षकों, अभिभावकों और बच्चों द्वारा भी उठाए गए. लेकिन इन प्रश्नों को स्वीकारने के बावजूद कभी कोई ठोस कदम नहीं उठाए गए. इसका प्रमुख कारण शायद यही रहा होगा कि होविशिका न तो रसूलिया के लिए और न ही किशोर भारती के लिए कभी इतनी प्राथमिकता का कार्यक्रम बना कि उस पर और अधिक ऊर्जा लगाई जाए. 1982-83 में 'एकलव्य' शुरू करने के पीछे अन्य अपेक्षाओं में यह भी एक अपेक्षा थी कि होविशिका की पद्धति उत्तर प्राथमिक चरण के सभी विषयों पर लागू की जा सकेगी. 'एकलव्य' का सामाजिक अध्ययन पाठ्यक्रम इसी दिशा में प्रयास का एक उदाहरण है.

14. यह मुहावरा होविशिका की भावी दिशा तय करने के लिए एकलव्य द्वारा किशोर भारती में मार्च 1988 में आयोजित एक बैठक के लिए श्री शरद बेहार द्वार तैयार किए गए आलेख 'विराट से साक्षात्कार और मोहभंग का समय' से लिया गया है.

3. होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के सबक

(क) नीतिगत निहितार्थ

सन् 1990 में 'एकलव्य' की ओर से मध्य प्रदेश शासन एवं मानव संसाधन विकास मंत्रालय के सामने यह प्रस्ताव रखा गया कि होविशिका के शिक्षण सिद्धांतों को प्रादेशिक या राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा नीति का हिस्सा बनाकर उसका व्यापक प्रसार किया जाए। अतः मंत्रालय के शिक्षा विभाग की ओर से तीन-सदस्यीय मूल्यांकन टीम का गठन किया गया। इस मूल्यांकन टीम के सामने मैंने फरवरी 1991 में कार्यक्रम पर अपनी एक टीप प्रस्तुत की जिसमें इस नवाचार की संभावनाओं और सीमाओं दोनों का जिक्र किया गया था। इस टीप का स्कूली शिक्षा में परिवर्तन हेतु स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा किए जाने वाले हस्तक्षेप के स्वरूप से सीधा संबंध है। अतः नीतिगत दृष्टि से इस टीप के दीर्घकालीन निहितार्थ को मद्देनजर रखते हुए इसे यहां कुछ संशोधनों के साथ पेश किया जा रहा है।

होविशिका पर कुछ छिटपुट विचार

सकारात्मक पहलू

1. मिडिल स्कूल (सरकारी अथवा निजी) स्तर पर विज्ञान शिक्षण की वर्तमान पद्धति की लीक से हटकर एक साहसिक नया कदम और साथ में कक्षा के सांस्कृतिक माहौल में महत्वपूर्ण परिवर्तन।
2. सरकार द्वारा संचालित ग्रामीण स्कूली तंत्र में काफी कम लागत पर स्थानीय संसाधनों के सहारे, सरकारी शिक्षकों और नौकरशाही के जरिए प्रयोग-आधारित पद्धति से विज्ञान सीखने का प्रदर्शन जिसने स्थापित किया कि एक निहायत जड़ और संवेदनहीन परिस्थिति में भी बदलाव लाया जा सकता है।
3. सरकारी शिक्षकों की अंतर्निहित लेकिन सुप्त क्षमताओं का उजागर होना; कम-से-कम 10 प्रतिशत शिक्षकों ने अपनी सृजनात्मक क्षमताओं और सोच में परिवर्तन का सबूत दिया एवं 15 से 20 प्रतिशत अन्य शिक्षकों ने एक नए रास्ते पर चलने की तैयारी दिखाई, चाहे कुछ यंत्रवत ही सही।

मूल स्रोत : मानव संसाधन विकास मंत्रालय (भारत सरकार) द्वारा गठित होविशिका मूल्यांकन समिति को प्रस्तुत एक टीप पर आधारित. फरवरी 1991, नई दिल्ली.

4. यह प्रदर्शन कि ग्रामीण बच्चे प्रयोग, विश्लेषण एवं नए सांस्कृतिक माहौल की चुनौती को सकारात्मक रूप से स्वीकार पाते हैं।
5. विश्वविद्यालयीन और महाविद्यालयीन शिक्षक समुदाय की स्कूली शिक्षा के सुधार एवं नवाचार में ठोस भूमिका का प्रदर्शन। इस भागीदारी के जरिए उनको स्वयं सीखने के बेहतर अवसर प्राप्त होना जिसका सकारात्मक प्रभाव उच्चशिक्षा की गुणवत्ता पर पड़ने की स्पष्ट संभावना है।
6. इस बात का प्रदर्शन कि सरकारी तंत्र को किस हद तक और किन तरीकों से बाहरी हस्तक्षेप स्वीकारने हेतु तैयार किया जा सकता है।
7. शैक्षिक परिवर्तन के लिए विकेंद्रित और स्थानीय पहलकदमी पर आधारित रणनीति का प्रदर्शन जिसमें शिक्षकों की बढ़ी हुई भागीदारी भी शामिल है।

सीमाएं और समस्याएं

1. कार्यक्रम में प्रशिक्षित शिक्षकों में से अधिकांश शिक्षक ऐसे रहे हैं जो या तो शुरू से ही गतिविधि-आधारित पद्धति के प्रति संवेदनशील नहीं रहे या फिर पुरानी व्याख्यान पद्धति की ओर वापस लौट जाने की प्रवृत्ति उन पर हावी रही है। इस अवलोकन के कई कारण हो सकते हैं जिनका विश्लेषण भी किया गया है। लेकिन यह तय है कि इस कमी का बच्चों के सीखने (अधिगम) की गुणवत्ता पर बहुत नुकसानदेह असर हुआ है।
2. उपरोक्त कमी के कारणों में जिस कारक को एक प्रमुख कारक के रूप में पहचाना जा सकता है, वह है परिवर्तन या नवाचार की प्रक्रिया में सामुदायिक भागीदारी एवं नियंत्रण का अभाव। दरअसल, कार्यक्रम की मूल संकल्पना (1972) में ही परिवर्तन की प्रक्रिया को शिक्षकों, शिक्षा अधिकारियों और अन्य नौकरशाहों एवं राजनेताओं के दायरे में सीमित करके देखा गया। परिवर्तन का यह खाका निहायत यंत्रवत है चूंकि इस संकल्पना में परिवर्तन का सारा दारोमदार उन लोगों पर डाला गया जिनका सरकारी स्कूलों की शैक्षिक गुणवत्ता में कोई निहित स्वार्थ नहीं है (इनमें से अधिकांश के बच्चे निजी स्कूलों में पढ़ते हैं)। सरकारी स्कूल तंत्र में शैक्षिक सुधार वही लाना चाहेंगे जिनके बच्चे वहां पढ़ते हैं या पढ़ना चाहते हैं लेकिन परिस्थितिवश जा नहीं पाते। यहां यह उल्लेखनीय है कि कार्यक्रम में शुरू से ही स्थानीय समुदायों और बच्चों की परिवर्तन की इस प्रक्रिया में कोई सुस्पष्ट भूमिका नहीं देखी गई। अतः यह कार्यक्रम विगत 27 वर्षों से एक अति-केंद्रीकृत सरकारी स्कूली तंत्र में जनभागीदारी का आधार खड़ा किए बगैर ही बुनियादी शैक्षिक परिवर्तन की एक ईमानदार लेकिन कुछ हद तक यंत्रवत कोशिश में लगा हुआ है।

कार्यक्रम में जनभागीदारी के अभाव के चलते सरकारी मशीनरी पर्याप्त रूप से संवेदनशील नहीं रही है और ना ही बदली है। इस कारण कई महत्वपूर्ण खामियां रह गई हैं जैसे—समय पर विज्ञान किट की आपूर्ति न होना, कार्यक्रम के लिए बजट में प्रावधान न किया जाना, सांस्कृतिक चुनौती को स्वीकारने की तैयारी न होना विशेषकर शिक्षकों और बच्चों के संबंध में। इसके फलस्वरूप, नवाचार के विस्तार के लिए विशेष रूप से खड़े किए गए ढांचे (जैसे—संगम केंद्र, विज्ञान इकाई, मासिक गोष्ठियां आदि) अपनी अपेक्षित भूमिका नहीं निभा पाए।

3. मात्र एक ही विषय की शिक्षण पद्धति में हस्तक्षेप और वह भी प्राथमिक और उच्चतर माध्यमिक चरण में बिना कोई परिवर्तन किए जाने के कारण इस नवाचार से बच्चे जो सीख पाएंगे वह अत्यधिक सीमित हो गया है और शायद नकारात्मक रूप से प्रभावित भी हुआ हो (देखिए, पृ. 66)। कई शिक्षक, शिक्षक-प्रशिक्षक, मां-बाप और प्रशासक यह दावा करते हैं (यद्यपि बिना प्रमाण के) कि बच्चे रूढ़िगत पद्धति से जो कुछ सीख सकते थे, इस कार्यक्रम ने उसे भी नुकसान पहुंचाया है। यदि शिक्षक रूढ़िगत पद्धति में ठीक ढंग से नहीं पढ़ाता था तो भी बच्चे कम से कम किताबों की मदद से उसे रटकर याद तो कर ही सकते थे। लेकिन होविशिका में जब शिक्षक पढ़ाते नहीं हैं तो बच्चों के पास विज्ञान सीखने का और कोई विकल्प नहीं बचता (निजी ट्यूशन के द्वारा भी नहीं)।
4. कार्यक्रम पर इस बात का भी नकारात्मक असर पड़ता है कि इसमें प्रमाणीकरण के प्रमुखतम आधार के रूप में वार्षिक परीक्षाओं के लिए प्रावधान करना पड़ा है। इस समझौते के चलते जहां एक ओर बड़े पैमाने पर नकल, प्रायोगिक कौशलों के परीक्षण की मात्र खानापूर्ति, 'गाइड बुक' और कुंजियों आदि पर निर्भरता बढ़ी है वहीं दूसरी ओर आधारभूत अवधारणाओं और वैज्ञानिक पद्धति की उपेक्षा भी हुई है। अतः होविशिका अपने बुनियादी उद्देश्यों की पूर्ति में पिछड़ा है, उदाहरणतः वैज्ञानिक मानसिकता विकसित करने में, वैज्ञानिक पद्धति के प्रशिक्षण में, अवधारणा निर्माण और कक्षा में सीखने की नई संस्कृति स्थापित करने में।
5. पथप्रदर्शक शिक्षक-प्रशिक्षक और अन्य स्रोत व्यक्तियों हेतु विश्वविद्यालयों या महाविद्यालयों के बाहरी समर्थन पर निरंतर निर्भरता का बने रहना।
6. उच्चतर माध्यमिक शालाओं के शिक्षकों की सहायता से अनुवर्तन, फीडबैक और शैक्षिक योगदान हेतु एक विश्वसनीय समर्थक ढांचा (यानी अनुवर्तन दल) खड़ा करने में असफलता।
7. तंत्र के अंदर पुनर्निर्माण की क्षमता सुनिश्चित करने के लिए शिक्षा महाविद्यालयों, जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान (डाइट) और क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान का संजाल खड़ा करने और उनके प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों (सेवापूर्व तथा सेवाकालीन) में परिवर्तन लाने में असफलता।

8. होविशिका की आवश्यकताओं और अपेक्षाओं के अनुरूप तंत्रगत परिवर्तन करने की दृष्टि से एक सुस्पष्ट सरकारी नीति और इच्छाशक्ति की कमी जिसके चलते होविशिका और स्कूली तंत्र की मुख्यधारा के बीच द्वंद्व बरकरार रहे। इस द्वंद्व के कारण बच्चों के सीखने (अधिगम) की गुणवत्ता, उनके मां-बाप का समर्थन और शिक्षकों के नैतिक बल पर गंभीर नकारात्मक असर पड़ा है। इसके फलस्वरूप जनसाधारण द्वारा 'होशंगाबाद विज्ञान' और 'सरकारी विज्ञान' की तुलना चलती रहती है।
9. मेडिकल, इंजीनियरिंग या अन्य प्रतिस्पर्धात्मक व्यवसायों की प्रवेश परीक्षाओं के मापदंडों में होविशिका की अपेक्षाओं के अनुरूप परिवर्तन का अभाव।
10. राज्य शैक्षिक शोध एवं प्रशिक्षण परिषद (एस.सी.ई.आर.टी.), म.प्र. राज्य माध्यमिक शिक्षा मंडल, राष्ट्रीय शैक्षिक शोध एवं प्रशिक्षण परिषद (एन.सी.ई.आर.टी.) और केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा मंडल (सी.बी.एस.ई.) की नीतियों और कार्यपद्धति में आवश्यक परिवर्तन का अभाव।

(ख) लेबल का प्रसार या...

सन् 1992 में 'एकलव्य' की ओर से भोपाल के उत्तर में स्थित सांची स्तूप के परिसर में एक समीक्षा बैठक रखी गई थी। इसमें समीक्षा के साथ-साथ होविशिका की भावी दिशा का सवाल भी उठा। एक सवाल यह भी था कि क्या कार्यक्रम को पूरे मध्य प्रदेश में फैलाने की पहल की जाए। होविशिका के कई वरिष्ठ साथियों ने अपना-अपना नजरिया पेश किया। इस बैठक के आयोजन के कुछ वर्ष पहले से ही मैंने 'होविशिका' में काम करना बंद कर दिया था चूंकि भोपाल गैसकांड के संघर्ष में अपनी भागीदारी के कारण शैक्षिक परिवर्तन के बारे में मेरी समझ बदलनी शुरू हो गई थी। इस अंतराल में मुझे 'होविशिका' को एक अलग परिप्रेक्ष्य में निष्पक्ष दृष्टि से देखने का मौका भी मिला था। अतः बैठक में मैंने कुछ प्रश्न उठाए जो इस लेख में प्रस्तुत हैं और बैठक के सहभागियों के बीच वितरित पाठ्य सामग्री में शामिल थे।

मेरी तीव्र इच्छा है कि हम सब मिलकर होविशिका के लंबे समृद्ध अनुभवों की गहराई से समीक्षा करें और उस विश्लेषण के आधार पर भावी रणनीति तय करें। आप सब भली भांति जानते हैं कि होविशिका के साथ मेरा इसकी शुरुआत से ही जुड़ाव रहा है और इसको मैंने पूर्व में स्कूली शिक्षा में परिवर्तन के एक महत्वपूर्ण औजार के रूप में देखा है। मैं यह भी उम्मीद करता हूं कि आप में से जो पुराने सदस्य हैं वे यह भी जानते होंगे कि एकलव्य

मूल स्रोत : 'एकलव्य' भोपाल द्वारा 10-12 जनवरी 1992 को सांची में आयोजित समीक्षा बैठक में प्रस्तुत परचा.

के जन्म से पहले इस कार्यक्रम के भविष्य को लेकर मेरा मूल्यांकन क्या था जिसके कारण मैंने अपने को इससे धीरे-धीरे अलग किया। इन प्रश्नों को लेकर मेरा मत आज भी बदला नहीं है। इस कार्यक्रम के सकारात्मक पक्षों एवं सीमाओं और समस्याओं से वे सभी लोग परिचित हैं जिन्होंने एकलव्य के गठन की प्रक्रियां में और उसके बाद एकलव्य के संचालन में हिस्सेदारी की है। इस प्रक्रिया को हम सबका समर्थन इस उम्मीद पर टिका हुआ था कि जिन सीमाओं को मित्र मंडल केंद्र रसूलिया एवं किशोर भारती जैसी लघु आकार की और कई दिशाओं में बिखरी हुई ग्राम-आधारित संस्थाएं नहीं तोड़ सकीं, उन्हें एकलव्य जैसी व्यापक, शिक्षा पर फोकस करने वाली एवं केंद्रीय सरकार द्वारा समर्थित अवधारणा के तहत तोड़ना संभव होगा। परंतु विगत आठ-नौ वर्षों का अनुभव यह बताता है कि ऐसा नहीं हो पाया जबकि एकलव्य की ओर से इस हेतु भरसक कोशिश की गई। इसका कारण भी स्पष्ट है। होविशिका की सीमाएं और समस्याएं, उसकी पहल करने वाली संस्थाओं के आकार और चरित्र का प्रतिफल नहीं थीं, वरन इनका संबंध शासकीय तंत्र और नीतियों तथा सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों से था। यह बात पिछले वर्ष और भी अधिक स्पष्ट हुई जब मुझे आचार्य राममूर्ति समिति की रपट पर काम करने का मौका मिला। इस रपट में इन ढांचागत तथा नीतिगत समस्याओं का बारीकी से उल्लेख किया गया है। होविशिका के प्रदेशस्तरीय प्रसार को संभव बनाने की दृष्टि से रपट में की गई सिफारिशों, विशेषकर, स्कूली तंत्र को सच्चे मायनों में विकेंद्रित करने एवं समुदाय-आधारित बनाने के प्रस्ताव पर विचार करना लाभप्रद होगा।

मुझे इस बात की खुशी है कि मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा गठित तीन-सदस्यीय केंद्रीय मूल्यांकन समिति सीमित समय के बावजूद होविशिका की कई बुनियादी सीमाओं और समस्याओं को पहचान पाई है। इसी कारण मूल्यांकन समिति ने यह सिफारिश की है कि राज्यस्तरीय प्रसार के पूर्व कार्यक्रम का एक व्यापक मूल्यांकन करवाया जाए जिसमें पता किया जाए कि इसका :

- वर्तमान और पुराने विद्यार्थियों पर क्या प्रभाव पड़ा है?
- अन्य विषयों में सीखने की प्रक्रिया पर क्या प्रभाव पड़ा है?
- समाज पर क्या प्रभाव पड़ा है?

उपरोक्त मूल्यांकन के परिणामों के आधार पर समिति ने वर्तमान पाठ्यक्रम को संशोधित करने एवं फिर उसका मूल्यांकन करने की स्पष्ट और ईमानदार सलाह दी है (प्रस्तावित मूल्यांकन के बगैर पाठ्यक्रम या पाठ्य सामग्री के संशोधन का इस बैठक में प्रश्न भी उठाना उचित प्रतीत नहीं होता)।

उपरोक्त सिफारिश करते हुए मूल्यांकन समिति ने बिना किसी शक-शुबहा के होविशिका के मूल शैक्षिक सिद्धांतों का समर्थन किया है और सिफारिश की है कि स्कूली शिक्षा के हर स्तर पर इन सिद्धांतों को लागू करने की जरूरत है।

मूल्यांकन रपट में यह भी स्पष्ट किया गया है कि होविशिका का वर्तमान 'कोर ग्रुप' राज्यस्तरीय प्रसार हेतु यथेष्ट नहीं है और उसको कारगर बनाने के उपाय खोजने होंगे। इसके अलावा वर्तमान शासकीय ढांचों (उदाहरणतः, संगम केंद्र एवं डाइट) की प्रभावशीलता, विश्वविद्यालयों, शोध संस्थाओं एवं रीजनल कालेज की हिस्सेदारी (जो कि आज लगभग समाप्त हो चुकी है), शासन की इस परिवर्तन में दिलचस्पी (जो कि विवादास्पद है), सक्षम अनुवर्तन एवं स्रोत दल खड़ा करने के तौर-तरीके, शासनेतर (स्वैच्छिक) हस्तक्षेप का चरित्र एवं प्रक्रिया, जनसमर्थन आदि महत्वपूर्ण प्रश्नों की ओर भी मूल्यांकन समिति ने ध्यान आकर्षित किया है। यहां यह उल्लेखनीय है कि इन सभी मुद्दों पर होविशिका दल 1972 से लेकर आज तक कोई भी संतोषजनक समाधान नहीं सोच पाया है। हम कब तक मात्र रोमांटिक अहसासों पर गाड़ी धकियाएंगे? मूल्यांकन समिति ने भौतिक साधनों की कमियों के कारण कार्यक्रम की गुणवत्ता पर पड़ने वाले प्रभावों का भी सटीक विवरण पेश किया है। यह बात दीगर है कि शासकीय अधिकारियों ने बिना किसी आधार और संकोच के समिति को आश्वासन दे दिया कि भौतिक साधनों की कमी को दूर किया जा सकेगा। समिति ने प्रशिक्षण को कार्यक्रम का एक बुनियादी पक्ष बताते हुए यह प्रश्न उठाया है कि प्रशिक्षण के बुनियादी तत्वों—वैज्ञानिक मानसिकता, परिवेश से जुड़ाव, बाल-केंद्रित शिक्षण, अनौपचारिक माहौल आदि—को कैसे बरकरार रखा जा सकेगा।

जिन मुद्दों/प्रश्नों की ओर मैं आपका ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करना चाहता हूं, वे इस प्रकार हैं :

1. केंद्रीय मूल्यांकन समिति ने इस बात के प्रति चिंता प्रकट की है कि जनमानस में एक 'होशंगाबाद विज्ञान' है तो दूसरा 'सरकारी विज्ञान', जैसे कि विज्ञान ही दो तरह के हों। हमें यह समझना होगा कि ये हालात कैसे बने और इसमें हमारी अपनी क्या भूमिका रही है। यह भी आम धारणा है कि होशंगाबाद विज्ञान थोपा हुआ है और मुख्य धारा (हाई स्कूल, पी.एम.टी.) आदि से कटा हुआ है। जब तक इन प्रश्नों को हम हल नहीं करेंगे तब तक होशंगाबाद विज्ञान से जनमानस जुड़ नहीं पाएगा। हमारी बहुत सी समस्याओं का कारण कार्यक्रम और जनता के बीच की इस खाई में छिपा हुआ है।

2. मुझे पता चला है कि विगत माह की गोष्ठी के अंतिम सत्र में यह स्वीकारा गया था कि शासन से बातचीत करते हुए हमारा एक न्यूनतम गैर-समझौतावादी (मिनिमम नॉन-निगोशिएबिल) पैकेज होगा। इस 'पैकेज' में वे सभी ढेर सारे बिंदु (शैक्षिक, भौतिकीय, प्रशासकीय एवं सामाजिक) शामिल किए जाएंगे जिनके बगैर होविशिका की केंद्रीय भावना को प्रदेशस्तरीय प्रसार के दौरान बरकरार रखना संभव न होगा। इस प्रस्ताव को मैं समझ नहीं पाया हूं। कारण यह है कि हम इस न्यूनतम पैकेज को लेकर किससे भाव-तोल करेंगे? शासन से? या अपने-आप से? होविशिका की पहल हमारी है, शासन की नहीं। हम यह भी जानते हैं कि एकलव्य के पहले जिलास्तरीय प्रसार और बाद में एकलव्य द्वारा 13 अन्य जिलों में संकुलस्तरीय प्रसार के दौरान न्यूनतम पैकेज अपने न्यूनतम स्वीकार्य स्तर पर टिक

नहीं पाया है (यदि हमारे बीच में इस न्यूनतम स्वीकार्य स्तर की पहचान ही अलग-अलग है तो बात दूसरी है)। अतः हमें 'न्यूनतम पैकेज' को लेकर पहले अपने आपसे भाव-तोल करना है, न कि शासन से। क्या इस न्यूनतम पैकेज को लेकर हम सबकी सर्वमान्य समझ है?

आज इस न्यूनतम पैकेज के टिक न पाने के कारणों का हमारा सामूहिक विश्लेषण क्या है? फिर सामूहिक विश्लेषण पर पहुंचने के बाद हमें उस पर आधारित वह कारगर रणनीति तय करनी होगी जिससे न्यूनतम पैकेज को पहले वर्तमान कार्यक्रम में और फिर प्रस्तावित प्रदेशस्तरीय प्रसार के दौरान बरकरार रखा जा सके। अतः हमें शासन के साथ न्यूनतम पैकेज को लेकर नहीं, वरन न्यूनतम पैकेज को बरकरार रखने के लिए आवश्यक न्यूनतम रणनीति को लेकर भाव-तोल करना है (शासन के पास न तो ऐसी कोई रणनीति है और न ही इसको विकसित करने में दिलचस्पी)। आपको याद होगा कि 1978 में जिलास्तरीय प्रसार को लेकर शासन से जो बातचीत हुई उसमें अंततः यह आश्वासन हमें मिल गया था कि न्यूनतम पैकेज को बरकरार रखा जाएगा। समय-समय पर शासकीय अधिकारी (शिक्षा सचिव स्तर तक के) इस आश्वासन को दोहराते गए और जब कार्यक्रम अन्य 13 जिलों की ओर गया तो यह आश्वासन फिर मिला। यह हमारी भूल ही होगी यदि ऐसे आश्वासनों को हम अभयदान मान बैठें और प्रदेशस्तरीय प्रसार हेतु इस अभयदान को प्राप्त करना ही अपनी प्रमुख रणनीति बना लें। मैं यह दावे के साथ कह सकता हूं कि यह अभयदान आपको मिल जाएगा, चूंकि अब शासन को मनवाने के लिए केंद्रीय सरकार द्वारा मिलने वाले भीमकाय अनुदान की लालसा भी जुड़ गई है। क्या हम ऐसे अभयदान को पाकर संतुष्ट हो जाएंगे? या न्यूनतम रणनीति पर शासन को साथ लेने के अन्य विश्वसनीय तौर-तरीके खोजेंगे?

3. होविशिका में विकेंद्रित पहलकदमी को भी शुरू से ही न्यूनतम पैकेज का अंग माना गया है। मेरी समझ से हमने इस सिद्धांत को बार-बार दरकिनार किया है। होशंगाबाद विज्ञान को मालवा और निमाड़ अंचलों के जिलों में बिना स्थानीय नवाचार प्रक्रिया स्थापित किए लागू करना केंद्रीकृत प्रवृत्ति का एक उदाहरण है।[1] दुःख तो इस बात का है कि इस सिद्धांत को लेकर अब कोई जीवंत सरोकार भी नहीं दिखता। प्रदेशस्तरीय प्रसार के आपके लिखित प्रस्ताव में एकलव्य की 'मिनी-एन.सी.ई.आई.टी.' बन जाने की चाह स्पष्ट झलक रही है।

4. केंद्रीय मूल्यांकन समिति द्वारा प्रस्तुत प्रक्रिया (प्रोसेस) बनाम उत्पाद (प्रोडक्ट) के प्रश्न पर गहराई से विचार करने की जरूरत है, न कि घबराकर और प्रसार की छटपटाहट में समझौता कर लेने की। अभी मैं समिति की इस टिप्पणी की एक और व्याख्या करना चाहता हूं। जिन कक्षाओं में होशंगाबाद विज्ञान पढ़ाया जाता है (यानी जहां बच्चे प्रयोग करते हैं, परिभ्रमण पर जाते हैं) उनमें से कितनी कक्षाओं में प्रयोग के अवलोकन और आंकड़ों को लेकर आगे कोई प्रक्रिया चलती है और विद्यार्थियों को निष्कर्ष निकालने तथा अवधारणा विकसित करने के चरण तक पहुंचाया जाता है? या हाथों से कुछ कर लेने या

बाहर से प्राकृतिक सामग्री बटोर लेने (यानी मात्र प्रक्रियात्मक पहलू) से होशंगाबाद विज्ञान की इतिश्री मान ली जाती है? कितने शिक्षक (स्रोत शिक्षक तथा अनुवर्तनकर्ताओं समेत) प्रयोगों से निष्कर्षों और अवधारणाओं तक पहुंचने की प्रक्रिया में सक्षम हैं? इन प्रश्नों के उत्तरों में कार्यक्रम की बुनियादी सीमाओं के संकेत ढूंढ़े जा सकते हैं।

5. एकलव्य के जन्म से पहले, यानी रसूलिया और किशोर भारती के जमाने में, 'कोर ग्रुप' ढाई लोगों का हुआ करता था और अब शायद साढ़े तीन लोगों का है। इसके प्रति पूर्णकालिक सरोकार हममें से कितनों का रहा है या रह पाएगा? समिति की रपट भी यही पूछ रही है? भई, प्रशासकीय और राजनीतिक निष्ठा की बात तो बाद में उठेगी, पहले तो हमें अपनी निष्ठा का प्रश्न उठाना होगा। ठीक है न ?

6. होविशिका को सफल बनाने के लिए प्रशासकीय और राजनीतिक निष्ठा की मांग अब तकियाकलाम बन चुकी है। प्रशासन और राजनीति हमारी इस मांग को पूरा करने की स्थिति में नहीं दिखते। इसके बावजूद हम इस बात पर डटे हैं कि प्रदेशस्तरीय प्रसार हो। आखिर इस विडंबना पर हमें कुछ ठोस बात कहनी होगी। तकियाकलाम दोहरा देने से कागज पर हम चाहे अपनी जिम्मेदारी पूरी कर लेने का अहसास कर लें लेकिन जमीन पर इसका क्या हश्र होगा, यह हमें पता है। अतः जरूरत इस बात की है कि होविशिका प्रशासकीय और राजनीतिक निष्ठा की कमी के बावजूद किस प्रकार न्यूनतम पैकेज को बरकरार रखते हुए आगे बढ़े, इसकी हम एक व्यावहारिक रणनीति पेश करें। ऐसी विश्वसनीय रणनीति और उस पर टिकी हुई क्रियान्वयन योजना तभी गढ़ी जा सकेगी जब हमारे पास कार्यक्रम की वर्तमान शोचनीय हालात के कारणों का ईमानदार विश्लेषण होगा।

एक विश्वसनीय रणनीति गढ़ने के लिए मैं चार बिंदु विचारार्थ प्रस्तावित करना चाहूंगा जो इसकी आधारशिला होने चाहिए (इसके अलावा और भी बिंदु हमें ढूंढ़ने होंगे) :

(क) स्कूली तंत्र का कम से कम विकासखंड-स्तर तक ईमानदार विकेंद्रीकरण किया जाए जिसमें परिवर्तन (नवाचार) की प्रक्रिया का विकेंद्रीकरण भी शामिल है। प्रत्येक स्कूल की स्वायत्तता को मजबूत करने का प्रश्न भी इस प्रस्तावित विकेंद्रीकरण से जुड़ा है (यहां आचार्य राममूर्ति समिति रपट का संदर्भ लाभप्रद होगा)।

(ख) होविशिका की पहल करने वाला मंच किसी संस्था विशेष का न होकर एक व्यापक जनमंच (नागरिक समाज का प्रतिनिधित्व करने वाला) हो जिसकी प्रदेशस्तर से लेकर विकासखंड-स्तर तक की कारगर इकाइयां खड़ी करने के तौर-तरीके खोजे जाएं।

(ग) होविशिका के शैक्षिक सिद्धांत केवल विज्ञान तक सीमित न रहें बल्कि सभी विषयों को प्रभावित करने का चरणबद्ध प्रस्ताव ही एक कारगर प्रस्ताव हो सकेगा। यही बात प्राथमिक एवं हाई स्कूलों के स्तरों के साथ होविशिका की कड़ी जोड़ने के लिए भी लागू होती है। प्रसार के प्रस्तावों में पी.ई.टी./पी.एम.टी. परीक्षाओं और विश्वविद्यालयीन शिक्षा को भी संशोधित करने के उपायों को शामिल किया जाए।

(घ) वार्षिक परीक्षा की, विशेषकर बोर्ड परीक्षा की, अवधारणा की जगह बहुआयामी सतत

मूल्यांकन प्रणाली स्थापित करने की रणनीति विकसित की जाए। इस कदम से, चाहे वह कितना ही मुश्किल क्यों न हो, अंततः, होविशिका को बल मिलेगा। यह कदम राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) के अनुसार होगा। आचार्य राममूर्ति समिति ने भी इस ओर बढ़ने की जोरदार वकालत की है—प्राथमिक स्तर से विश्वविद्यालय स्तर तक।

अब दो ठोस कदम उठाने की अपील आप सबसे करना चाहता हूं :

पहला, होविशिका के वर्तमान शोचनीय हालात और न्यूनतम पैकेज बरकरार न रहने के कारणों के सामूहिक विश्लेषण की प्रक्रिया शुरू की जाए।
दूसरा, केंद्रीय मूल्यांकन समिति द्वारा प्रस्तावित मूल्यांकन एक विश्वसनीय ढांचे में और वस्तुनिष्ठ पद्धति से शीघ्र पूरा हो, इसके लिए राज्य शासन पर दबाव डाला जाए।

अंतिम बात, होविशिका का प्रभाव तभी तक बना रह सकेगा जब तक कि इसके सिद्धांत और इसका जमीनी क्रियान्वयन वर्तमान में प्रचलित बाल-विरोधी एवं गैर-वैज्ञानिक पाठ्यक्रम से इसकी एक अलग पहचान स्थापित कर पाते हैं। जिस दिन यह अंतर ही समाप्त हो जाएगा तो फिर आप प्रसार किस चीज का करेंगे? केवल होविशिका के लेबल का? प्रसार होगा कि नहीं, यह मूलतः इस बात से जुड़ा है कि आज दोनों पाठ्यक्रमों—होविशिका और प्रचलित—के बीच कितना अंतर बचा है और भविष्य में हम इस अंतर के आधार पर (अंतर मिटाकर नहीं)[2] परिवर्तन की कैसी व्यावहारिक रणनीति गढ़ पाते हैं।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. एकलव्य बनने के एक वर्ष के अंदर ही होविशिका का मालवा और निमाड़ के अंचलों में प्रसार का फैसला लिया गया. लेकिन प्रसार की प्रक्रिया वह नहीं थी जिस प्रक्रिया से स्थानीय एवं विकेंद्रित पहलकदमी के जरिए 1972-73 में कार्यक्रम की नींव होशंगाबाद जिले में डाली गई थी. 1983-84 में 'होशंगाबाद विज्ञान' की बनी-बनाई कार्य पुस्तक और कार्यक्रम के सभी अन्य आयाम सरकारी समर्थन से मालवा-निमाड़ अंचलों में लागू करवा दिए गए. स्थानीय परिवेश से जुड़ाव एवं स्थानीय शिक्षकों की भागीदारी के मसलों का क्या हुआ? इस प्रक्रिया और एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा अपनाने वाली प्रक्रिया में क्या अंतर बचा?
2. 'अंतर मिटाने' का सवाल यूं उठा कि होविशिका की तत्कालीन टीम के चंद सदस्य कार्यक्रम के प्रति आम लोगों में व्याप्त सवालों, संशय एवं नकारात्मक भाव से घबराकर दोनों पाठ्यक्रमों के बीच अंतर घटाने की वकालत करने लगे थे. यह परिस्थिति की अधकचरी समझ का परिणाम था. आम जनता की नकारात्मक प्रतिक्रिया होविशिका के शैक्षिक सिद्धांतों को लेकर नहीं थी, वरन इस तथ्य को लेकर थी कि होविशिका पूरे स्कूली तंत्र की नीति नहीं बन पाई थी. इतने वर्षों बाद भी होविशिका का 400 स्कूलों में सीमित रह जाना और इसकी प्राथमिक तथा हाई स्कूल स्तर एवं प्रतिस्पर्धात्मक परीक्षाओं से कड़ी न बैठना, चिंता का स्रोत था. 1992 में सांची बैठक के समय होविशिका पूरे स्कूली तंत्र में एक विसंगति के रूप में खड़ा हुआ था, चाहे वह कितनी ही प्रशंसनीय विसंगति क्यों नहीं हो. *सवाल 'अंतर मिटाने' का नहीं, वरन इस विसंगति को देश की नीति बनाने का है.*

खंड दो

नीति में साक्षरता का भटकाव

4. साक्षरता : राष्ट्रीय ध्येय या शैक्षिक मापदंड

सर्वविदित है कि 1988 में प्रौढ़ साक्षरता के नाम पर राष्ट्रीय साक्षरता मिशन का गठन हुआ। मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने अनेक स्वैच्छिक संस्थाओं को इसमें सहभागी बनाने की कोशिश की। मैंने तब भी साक्षरता मिशन के उद्देश्यों का विरोध किया था और उसे राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) की एक विकृति के रूप में प्रस्तुत करते हुए राष्ट्रीय प्रारंभिक शिक्षा मिशन के गठन की आवश्यकता पर जोर दिया था। सन् 1990 में राष्ट्रीय शिक्षा नीति की समीक्षा समिति (आचार्य राममूर्ति समिति) के एक सदस्य के रूप में मैंने यह प्रश्न विधिवत ढंग से और दस्तावेजी प्रमाणों सहित मिशन के अधिकारियों व मंत्रालय के सचिव के सामने भी उठाया। लेकिन वह पूरा दौर प्रौढ़ साक्षरता के बहाव में बह रहा था—मीडिया, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री, विख्यात स्वैच्छिक संस्थाएं एवं तमाम राजनेतागण—सभी यह सिद्ध करने में लगे थे कि मिशन के जरिए भारत की निरक्षरता का कलंक मिट ही जाएगा। सारी तथ्यात्मक टिप्पणियां, झूठे आंकड़ों तथा अधकचरे तर्कों के अंबार में दबा दी गईं। सातवीं पंचवर्षीय योजना में मिशन के लिए आठ सौ करोड़ और आठवीं पंचवर्षीय योजना में चौदह सौ करोड़ रुपयों का प्रावधान रखा गया। इस माहौल के बावजूद मैं प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण को प्राथमिकता देने की बात उठाता रहा हूं। प्रस्तुत लेख में भी यही सवाल उठाए गए हैं।

लगभग तीन सप्ताह पहले राजीव गांधी फाउंडेशन ने दिल्ली में देश भर के शिक्षाविदों की एक महत्वपूर्ण बैठक का आयोजन किया था जिसका विषय था—'साक्षर बच्चे : एक वादा पूरा करने की ओर'। कुछ विद्वानों ने बैठक के विषय को लेकर सैद्धांतिक आपत्ति की। इनका कहना था कि राष्ट्रीय वादा तो साक्षर बच्चे का नहीं वरन 'शिक्षित बच्चे' का रहा है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 45 में राज्य को निर्देशित किया गया है कि 1960 तक चौदह वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा (न कि मात्र साक्षरता) दे दी जाए।[1,2]

लेकिन सच तो यह है कि तमाम सरकारी आंकड़ों और घोषणाओं के बावजूद देश के आधे से अधिक बच्चे और दो-तिहाई से अधिक लड़कियां प्राथमिक शिक्षा से वंचित हैं। यह हालत 1960 के लक्ष्य वर्ष के चौंतीस साल बाद की है। विगत दो-तीन वर्षों में अनेक राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय दबावों के चलते भारत सरकार अपनी कुंभकर्णी नींद से जागने लगी है। चाहे धीरे-धीरे ही सही, लेकिन प्राथमिक शिक्षा को सब बच्चों तक ले जाने की सुगबुगाहट शुरू भर हो पाई है। ऐसी स्थिति में 'साक्षर बच्चे' का संदर्भ देखकर वादे को

मूल स्रोत : राष्ट्रीय सहारा, दिल्ली; 4 दिसंबर 1994.

पूरा करने के बजाए वादे से फिसलने का अहसास होना स्वाभाविक ही था। बैठक में उक्त शीर्षक के पक्षधरों ने 'साक्षर बच्चे' के लक्ष्य के बचाव में जो तर्क पेश किए उन पर गौर करना बहुत ही दिलचस्प होगा :

- सभी बच्चों को हम आज तक इसलिए शिक्षा नहीं दे पाए चूंकि शिक्षा जैसे व्यापक उद्देश्य की पूर्ति करना हमारी स्थितियों में संभव ही नहीं है। अतः इतने बड़े उद्देश्य के चक्कर में न फंसकर, बच्चों को केवल साक्षर बनाने की बात की जा रही है। यदि इतना भी कर लिया जाए तो बहुत होगा।
- गरीब समाज के बच्चों को 'शिक्षित' करने की बात करना उनकी तौहीन करने के बराबर है चूंकि वे अपने जीवन के अनुभवों से ही समृद्ध रूप से शिक्षित हो जाते हैं। अतः यदि हम उन्हें लिखने-पढ़ने का हुनर भर दे दें तो यह पर्याप्त होगा।

बैठक में पहले तर्क के प्रत्युत्तर में स्पष्ट किया गया कि प्रारंभिक शिक्षा (कक्षा एक से आठ तक) का लोकव्यापीकरण (सार्वजनीकरण) न कर पाने के कारण यह नहीं है कि शिक्षा का लक्ष्य व्यापक है। दरअसल, प्रारंभिक शिक्षा को राज्य की योजनाओं में वह प्राथमिकता ही कभी नहीं दी गई जिसकी अपेक्षा भारतीय संविधान में की गई थी। इसीलिए शिक्षा से साक्षरता पर उतर आना इस बात का सबूत है कि आज भी हम गरीब बच्चों को स्कूली शिक्षा के दायरे में लाने के लिए कटिबद्ध नहीं हैं। इस तर्क में सरकारी पक्ष (बैठक को मानव संसाधन विकास मंत्रालय के वरिष्ठतम अधिकारियों का समर्थन प्राप्त था) की स्वीकारोक्ति स्पष्ट रूप से झलक रही है कि संविधान के निर्देश को कम से कम इस सदी में तो पूरा करने का इरादा छोड़ा ही जा चुका है और साक्षरता के नाम पर जनता को लॉलीपॉप दिखाया जा रहा है।

दूसरे तर्क के बचकानेपन के बारे में जितना कम कहा जाए उतना ही बेहतर है। बैठक में ही यह बात कहने वाले एक सुप्रसिद्ध स्वैच्छिक संस्थान के इस प्रतिनिधि को उस वक्त बगलें झांकनी पड़ गईं जब यह बताया गया कि यदि इस कुतर्क को आगे बढ़ा दिया जाए तो हमें शायद वर्तमान स्कूल भी बंद करने पड़ जाएंगे।

राजीव गांधी फाउंडेशन वास्तव में धन्यवाद का पात्र है चूंकि इस बैठक के एक हफ्ते बाद (14 नवंबर) को जब प्रधानमंत्री द्वारा फाउंडेशन के इस अभियान का उद्घाटन किया गया तो समारोह का शीर्षक बदलकर 'शिक्षित बच्चे : एक वादा पूरा करने की ओर' किया जा चुका था। एक गैर-सरकारी मंच पर लाया गया यह छोटा-सा वैचारिक परिवर्तन एक लंबे समय से चलती हुई उस लड़ाई की ओर संकेत करता है जिसे गरीब तबके को अपने बुनियादी हकों की रक्षा के परिप्रेक्ष्य में लड़ना होगा। इस लड़ाई में मध्यम वर्ग के प्रगतिशील तत्वों की हालत बहुत ही अजीबोगरीब हो गई है। चूंकि प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण की संभावना दूर-दूर तक नहीं दिख पा रही है अतः अनेक प्रगतिशील तत्वों ने प्रौढ़ साक्षरता ही नहीं बल्कि अब बच्चों की साक्षरता को भी स्कूली शिक्षा के विकल्प के रूप में स्वीकारना

शुरू कर दिया है। शैक्षिक विमर्श में साक्षरता और शिक्षा जिस प्रकार से हाल के वर्षों में एक-दूसरे के पर्याय बन चुके हैं, उससे मध्यम वर्ग की अवसरवादिता का संकेत मिलता है। यदि स्कूली शिक्षा की जगह साक्षरता से ही काम चल जाए तो राष्ट्रीय आर्थिक प्राथमिकताओं को बदले बिना और मध्यम वर्ग के सुख और विलासिता के साधनों में कोई कमी किए बगैर इस देश के कर्णधारों एवं उनके समर्थक मध्यम वर्ग को अपने अपराध बोध से निजात तो मिल ही सकती है। इस अभिजात मनोवृत्ति के संदर्भ में राष्ट्रीय स्तर पर आए प्रौढ़ साक्षरता के बुखार को समझने की जरूरत है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) में आजादी के बाद के भारत में पहली बार आठ वर्षों की स्कूली शिक्षा यानी प्रारंभिक शिक्षा (कक्षा एक से आठ तक) के राष्ट्रीय ध्येय को दो चरणों में बांटा गया था। पहले चरण का उद्देश्य 1990 तक सभी बच्चों को प्राथमिक शिक्षा (पांचवीं कक्षा तक) देने का रखा गया और दूसरे चरण में 1995 तक मिडिल स्तर (छठी से आठवीं कक्षा तक) की शिक्षा देने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। शिक्षा नीति के इस दस्तावेज में पहली बार सरकार ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया कि प्राथमिक (प्राइमरी) स्तर तक शिक्षा देने में भी देश की स्कूल प्रणाली सक्षम नहीं हो पाएगी। इसीलिए स्कूली शिक्षा के लोकव्यापीकरण की जगह गरीब बच्चों (विशेषकर बाल श्रमिकों) के लिए एक समानांतर प्रणाली के रूप में औपचारिकेतर (नॉन-फार्मल) शिक्षा का प्रस्ताव पेश किया गया। स्पष्ट है कि संविधान के इस महत्वपूर्ण निर्देश को लेकर शिक्षा नीति पर अनिश्चितता और अस्पष्टता के बादल छाए हुए थे। ऐसी संकटकालीन स्थिति में उम्मीद तो यह थी कि सरकार स्कूली शिक्षा को, चाहे देर से ही सही, अब सर्वोच्च प्राथमिकता देगी। लेकिन आने वाले वर्षों में जो हुआ वह ठीक इसके विपरीत था।

सन् 1988 में सरकार ने 'राष्ट्रीय साक्षरता मिशन' के गठन की घोषणा की जबकि गठन होना चाहिए था, 'राष्ट्रीय प्रारंभिक शिक्षा मिशन' का। देखते ही देखते शिक्षा के क्षेत्र में देश का लगभग सारा सरोकार प्रारंभिक शिक्षा से हटकर प्रौढ़ साक्षरता पर केंद्रित हो गया। बात चाहे अखबारों की हो, टेलीविजन की हो या प्रधानमंत्री और मुख्यमंत्रियों द्वारा सुशोभित समारोहों की—हर जगह यह अहसास दिलाने की कोशिश की गई जैसे कि प्रौढ़ साक्षरता से भारत की हरेक समस्या का समाधान हो जाएगा। केवल अग्रणी संपादकियों में ही नहीं, वरन शैक्षिक सम्मेलनों और शोधपत्रों में भी साक्षरता और स्कूली शिक्षा एक-दूसरे के पर्याय बन गए। प्राथमिक स्कूलों के विकास के नाम पर जो सबसे बड़ा सरकारी कार्यक्रम हाथ में लिया गया, वह था ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड। इस बहुचर्चित स्कूली कार्यक्रम के लिए सातवीं पंचवर्षीय योजना में केंद्र सरकार ने बमुश्किल सवा तीन सौ करोड़ रुपए का प्रावधान रखा जो कि खुद सरकार के अनुसार ही एक-तिहाई स्कूलों के लिए भी पर्याप्त नहीं था। संसाधनों के इस संकट के बावजूद राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के लिए ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड की तुलना में दो गुने से भी अधिक धन का प्रावधान किया गया।

आठवीं पंचवर्षीय योजना में तो साक्षरता के नाम पर केंद्र सरकार चौदह सौ करोड़

खर्च करने का इरादा रखती है। इस भारी-भरकम राशि को यदि स्कूली शिक्षा के लिए खर्च किया जाता तो क्या स्थिति बनती? साक्षरता मिशन के लिए देश के 130 जिले पहचाने गए हैं जो शैक्षिक दृष्टि से सबसे पिछड़ी श्रेणी में हैं। यदि प्रौढ़ साक्षरता की राशि को इन सर्वाधिक पिछड़े 130 जिलों के प्राथमिक स्कूलों पर खर्च किया जाता तो प्रत्येक स्कूल को लगभग नब्बे हजार रुपए दिए जा सकते थे। यह राशि स्कूलों के लिए कितनी मूल्यवान है इसका अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि स्कूली शिक्षा विभाग के खर्च का 98 प्रतिशत से भी अधिक अंश वेतन, रखरखाव और मरम्मत पर लगता है और नाममात्र की राशि ही शिक्षा के गुणात्मक विकास के लिए मिल पाती है। मध्य प्रदेश के सरकारी स्कूलों में शैक्षिक काम के लिए साल भर में पांच-दस रुपए से अधिक का आबंटन नहीं हो पाता। सरकारी आंकड़ों के अुनसार दो-तिहाई प्राथमिक स्कूलों में पांच कक्षाओं को पढ़ाने के लिए दो या उससे भी कम शिक्षक उपलब्ध कराए जाते हैं।[3] आचार्य राममूर्ति समिति (1990) के अनुसार 1965 से 1986 के बीच प्रत्येक दस हजार आबादी के लिए उपलब्ध स्कूलों और शिक्षकों की संख्या लगातार घटती रही है। इसी प्रकार शिक्षक और बच्चों का अनुपात भी इस बीच बढ़ा है, घटा नहीं। एक-चौथाई से भी अधिक स्कूलों के पास अपना भवन नहीं है और लगभग 40 प्रतिशत स्कूल केवल एक कमरे में लगते हैं, यानी पांच कक्षाएं एक कमरे में चलती हैं। आधे से अधिक स्कूलों के पास पीने के पानी की सुविधा नहीं है और लगभग 85 प्रतिशत स्कूल बिना पेशाबघर के हैं। दो-तिहाई स्कूलों के पास खेल के मैदान नहीं हैं (ओलंपिक खेलों में भारत की दुर्दशा की शुरुआत यहीं से होती है)। इन आंकड़ों के पीछे छिपी हुई है शिक्षा की बदहाली।

देश के आधे से कम बच्चे जो बमुश्किल पांचवीं कक्षा तक पढ़ पाते हैं, उनमें से अधिकांश शायद ही अपनी भाषा में चार सही वाक्य भी लिख पाते हों। कई अध्ययनों से पता चल रहा है कि पांच साल स्कूल में रहने के बावजूद बच्चे जोड़ना-घटाना और गुणा-भाग कर पाने में सक्षम नहीं हो पाते हैं। देश के भूगोल और इतिहास का बोध, राष्ट्रीय संस्कृति की समृद्धता और विविधता की पहचान तथा पर्यावरण की वैज्ञानिक समझ जैसे अनेक शैक्षिक लक्ष्य केवल पाठ्यपुस्तकों के पन्ने भरने को ही हैं। इस पृष्ठभूमि में प्रौढ़ साक्षरता पर इतना ध्यान, संसाधनों का आबंटन, जिला प्रशासनों की प्राथमिकताओं में साक्षरता का केंद्र बिंदु बन जाना आदि अनेक मुद्दे हैं जो यह प्रश्न उठाते हैं कि आखिर ऐसा क्यों और कैसे हो गया। यहां साक्षरता कार्यक्रमों के बहुचर्चित फर्जी आंकड़ों, संपूर्ण साक्षरता के दावों और पैसों के दुरुपयोग आदि मुद्दों को उठाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि प्रश्न महज क्रियान्वयन का नहीं है, वरन नीति पक्ष का है। इसीलिए इस बहस को कतिपय स्वैच्छिक संस्थाओं के नेतृत्व में अथवा उनके सहयोग से चलाए गए अपेक्षाकृत 'सफल' साक्षरता कार्यक्रमों का उदाहरण देकर भ्रमित करना बेमानी होगा। दरअसल, स्वैच्छिक पहल की इक्की-दुक्की सफलता (हालांकि उसका भी वस्तुपरक मूल्यांकन होना बाकी है) के नाम पर राष्ट्रीय साक्षरता मिशन को न्यायोचित ठहराने की तमाम कोशिशें प्रारंभिक शिक्षा को

हाशिए पर ढकेलने की प्रक्रिया को छिपा नहीं सकी हैं।

एक उदाहरण से शायद इस मुद्दे को समझने में मदद मिले। प्रौढ़ साक्षरता की राष्ट्रीय नीति तो उस व्यक्ति की याद दिलाती है जो बड़ी मेहनत के साथ गीले फर्श को सुखाने के लिए पोंछा लगा रहा है, परंतु एक तरफ से नल खोल रखा है। आप जिंदगी पर पोंछा लगाते जाइए पर फर्श सूखेगा नहीं। वर्तमान में लगभग 8-9 करोड़ बच्चे (6-14 वर्ष आयु समूह में) स्कूल नहीं जा रहे हैं। ये बच्चे इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में प्रौढ़ निरक्षरों की कतार में शामिल हो जाएंगे। राष्ट्रीय साक्षरता मिशन का धंधा संभवतः तब भी चालू रहेगा और हमारे मीडिया के दिग्गज तब भी इस शोचनीय स्थिति पर संपादकीय टिप्पणी करते रहेंगे। शिक्षाविदों के सम्मेलनों में भी धुआंधार बहसें चलेंगी और अंतर्राष्ट्रीय मंचों से सन् 2010 में भी हमारे प्रधानमंत्री संविधान के शैक्षिक निर्देशों को पूरा करने के लिए नई तारीख की घोषणा करते रहेंगे।

इस भ्रमित सोच का ही परिणाम है कि 1990 के विख्यात 'एर्नाकुलम प्रयोग' के सबसे महत्वपूर्ण सबक का आज तक जिक्र भी नहीं हुआ है, जबकि उससे गलत सबक निकालकर देश भर में भ्रम फैलाया गया है। सन् 1989-90 में जब केरल के एर्नाकुलम जिले में साक्षरता कार्यक्रम शुरू किया गया था तब वहां लगभग 92 प्रतिशत साक्षरता थी। एक साल के अभियान के बाद साक्षरता दर बढ़कर 97 प्रतिशत हो गई। इस पांच प्रतिशत की वृद्धि के बारे में भी जिला कलक्टर की रपट में चिंता जाहिर की गई कि यदि तुरंत उत्तर-साक्षरता कार्यक्रम नहीं चलाए गए तो यह वृद्धि शून्य हो सकती है। इसके बावजूद देश भर में यह प्रचारित हुआ कि 'एर्नाकुलम प्रयोग' दिखाता है कि साक्षरता अभियान से देश की तकदीर बदली जा सकती है। कहीं से दबी हुई आवाज भी नहीं निकली कि 'एर्नाकुलम प्रयोग' का सबसे महत्वपूर्ण सबक कुछ और ही था। अभियान के पूर्व 92 प्रतिशत साक्षरता का स्तर यह बताता है कि केवल इस जिले में ही नहीं, वरन पूरे केरल में प्राथमिक शिक्षा के प्रसार का समृद्ध इतिहास है जिसमें अनेक सामाजिक धाराओं का उल्लेखनीय योगदान है।

यदि देश को 'एर्नाकुलम प्रयोग' से कुछ सीखना है तो वह है सामाजिक विकास में प्रारंभिक शिक्षा के बुनियादी महत्व की बात। इस शैक्षिक इतिहास और सबक को नजरअंदाज करके देश को साक्षरता की भूल-भुलैया में उलझाने की इस कोशिश के पीछे जरूर सामाजिक और राजनीतिक कारण रहे होंगे। उदाहरण के लिए राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) की समीक्षा के लिए गठित आचार्य राममूर्ति समिति की रपट को लें। यह रपट 1990 के अंत में तैयार हुई। इसमें प्रारंभिक शिक्षा पर राष्ट्रीय सरोकार को केंद्रित करने की जोरदार पैरवी की गई है। रपट में अनेक व्यावहारिक सुझाव भी मौजूद हैं जिन पर अमल करके देश के सभी बच्चों को प्रारंभिक शिक्षा सुलभ कराई जा सकती है। यह रपट एक और मायने में भी सरकारी दस्तावेजों का अपवाद है। यह अकेला ऐसा सरकारी दस्तावेज है जिसमें 'एर्नाकुलम प्रयोग' के ऐतिहासिक सबक पर जोर दिया गया है और उसके सहारे प्रारंभिक शिक्षा को एक बार फिर राष्ट्रीय एजेंडा का केंद्र बिंदु बनाने की बात कही गई है। यही नहीं, संविधान

के शैक्षिक निर्देश को संपूर्ण मायने देते हुए इस रपट ने पहली बार कहा है कि अनुच्छेद 45 राज्य की जिम्मेदारी को कक्षा एक से आठ तक सीमित करने का निर्देश कहीं भी नहीं देता है। यह तो आजादी के बाद के राष्ट्रीय नेतृत्व की महज व्याख्या थी कि 14 वर्ष की आयु तक शिक्षा देने को कक्षा एक से आठ तक की शिक्षा के तुल्य मान लिया गया। अतः आचार्य राममूर्ति रपट में वकालत की गई है कि 'निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा' के दायरे में 0-6 वर्ष तक की आयु के बच्चों की शिक्षा, विशेषकर पूर्व-प्राथमिक शिक्षा, भी शामिल की जाए। उल्लेखनीय है कि सरकार ने आज तक अनुच्छेद 45 के इस व्यापक अर्थ को स्वीकारने तक का साहस नहीं किया है।

बजाए इसके कि 1986 की नीति और उसकी 1990 में उक्त समीक्षा के बाद सरकार प्रारंभिक शिक्षा को राष्ट्रीय एजेंडा में प्रमुख स्थान देती, जो हुआ वह ठीक उलटा ही था। यहां यह प्रश्न उठाना उपयोगी होगा कि आखिर वे कौन सी नीतियां हैं जो राज्य द्वारा स्वीकारी जाती हैं और कौन सी कचरे की पेटी में डाल दी जाती हैं? क्या इस प्रक्रिया के पीछे कोई नियम काम करते हैं? पिछले 45 वर्षों के दौरान विभिन्न शिक्षा आयोगों और समितियों की रपटों का यदि अध्ययन किया जाए तो स्पष्ट होगा कि वे सारी सिफारिशें उपेक्षित रही हैं जिनको लागू करने के लिए सामाजिक संरचना में बुनियादी परिवर्तन करने पड़ते। इसलिए सिर्फ वही सिफारिशें लागू की गईं जिन पर अमल करने के लिए न तो सामाजिक संरचना को बदलना पड़ा और न ही राष्ट्रीय प्राथमिकताओं को, यानी यथास्थिति बरकरार रही। कोठारी शिक्षा आयोग (1964-66) की 'समान स्कूल प्रणाली' (कॉमन स्कूल सिस्टम) लागू करने वाली सिफारिश आज तक ठंडे बस्ते में पड़ी हुई है, जबकि 1986 की नीति ने इसके प्रति अपनी कटिबद्धता दोहराई थी। बजाए इसके, सरकार ने साठ के दशक में प्रचलित दोहरी शिक्षा प्रणाली पर अलग-अलग सामाजिक तबकों को संतुष्ट करने के लिए परतें चढ़ाने का काम किया। सरकारी अधिकारियों के बच्चों के लिए केंद्रीय विद्यालय या फौजी परिवारों के बच्चों के लिए सैनिक विद्यालय तो अब पुरानी बातें हो चुकी हैं। हरित क्रांति से पनपे ग्रामीण नवधनाढ्य एवं मध्यम वर्ग की आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए 1986 की शिक्षा नीति ने नवोदय विद्यालय की एक और परत चढ़ाई एवं देश के आधे से अधिक बच्चों के लिए सड़ी-गली सरकारी स्कूल प्रणाली से भी गई बीती औपचारिकेतर (नॉन-फार्मल) शिक्षा प्रणाली का लॉलीपॉप फेंका गया। स्कूली शिक्षा की यह सबसे निचली परत मुख्यतः दलित और आदिवासी बच्चों के लिए खड़ी की गई—उनमें भी विशेषकर लड़कियों के लिए, चूंकि स्कूली शिक्षा से वंचित बच्चों का प्रमुख प्रतिशत लड़कियों का है। कोठारी आयोग की उक्त सिफारिश को लागू करने का मतलब होता समाज में आमूल-चूल परिवर्तन।

इसी प्रकार तमाम सिफारिशों के बावजूद प्राथमिक कक्षाओं में शिक्षण की शुरुआत के लिए मातृभाषा के उपयोग का सिद्धांत लगातार नकारा गया। एक ओर तो अभिजात तबके के प्राइवेट स्कूलों में मातृभाषा की जगह अंग्रेजी का उपयोग पूर्व-प्राथमिक स्तर से चलता रहा और दूसरी ओर लाखों प्राथमिक स्कूलों में बच्चों की मातृभाषा की जगह केवल

प्रादेशिक भाषाओं को ही स्थान मिला। स्वाधीनता संग्राम से विरासत में मिली बुनियादी शिक्षा प्रणाली के साथ भी ऐसा ही व्यवहार हुआ। गांधी जी द्वारा दिए गए उत्पादक श्रम को अध्ययन-अध्यापन की विभिन्न विधाओं से जोड़ने का सिद्धांत या तो उपेक्षित रहा या सत्तर के दशक में 'कार्यानुभव' (वर्क एक्सपीरिएंस) जैसी टालू अवधारणा के रूप में पाठ्यक्रम के हाशिए में डाला गया। कोठारी आयोग ने 1986 तक शिक्षा के क्षेत्र में सकल राष्ट्रीय उत्पाद के 6 प्रतिशत अंश (बढ़ते हुए क्रम में) के निवेश की सिफारिश की थी। जब यह नहीं हुआ तो 1986 की शिक्षा नीति ने वादा किया कि इस स्तर तक का निवेश आठवीं पंचवर्षीय योजना तक जरूर कर दिया जाएगा। 1992 में संशोधित शिक्षा नीति ने इस स्तर का निवेश आठवीं की जगह नौवीं पंचवर्षीय योजना तक करने का वादा किया। इस वादे को इतनी देर से भी पूरा करने के लिए राष्ट्रीय प्राथमिकताओं को झकझोरना जरूरी होगा (आज सकल उत्पाद का मात्र 3.9 प्रतिशत शिक्षा में निवेशित है और यह आंकड़ा विगत दस वर्षों से स्थिर है)। पिछले तीन दशकों में सकल राष्ट्रीय उत्पाद के 6 प्रतिशत तक न पहुंच पाने से जो गहरी खाई बनी है उसे पाटने के लिए तो 6 प्रतिशत का स्तर और अधिक बढ़ाना होगा—अभी तो यह प्रश्न बहस का मुद्दा भी नहीं बना है।

इस परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है कि प्रौढ़ साक्षरता और औपचारिकेतर शिक्षा जैसे प्रस्ताव क्यों आसानी से स्वीकारे जाते हैं और क्यों इनको बढ़ा-चढ़ाकर इतना अधिक राष्ट्रीय महत्व दिया जाता है। चूंकि ऐसे कार्यक्रमों को लागू करने के लिए सामाजिक संरचना में कोई परिवर्तन नहीं करना पड़ता और न ही प्राथमिकताओं को बदलना पड़ता है। गरीबी, बेरोजगारी और जनता के एक बड़े अंश की निम्न क्रय शक्ति बरकरार रहने के साथ-साथ ऐसे कार्यक्रम आसानी से चल सकते हैं। न्यूनतम मजदूरी दर से भी कम दिहाड़ी पाने वाले लोग साक्षरता कक्षाओं में जुटाए जा सकते हैं और बाल श्रमिक औपचारिकेतर शिक्षा प्रणाली से जुड़ सकते हैं। इन कार्यक्रमों को राष्ट्रीय एजेंडा में डालकर सरकार ने बाल श्रमिक प्रथा खत्म करने और न्यूनतम मजदूरी देने के पुराने संवैधानिक वादों को भी राष्ट्रीय एजेंडा के हाशिए पर ढकेलने का रास्ता निकाल लिया है। यहीं नहीं, औपचारिकेतर शिक्षा भी देश के लगभग पांच करोड़ बाल श्रमिकों तक पहुंचाने का मात्र दस साल पुराना वादा भी सरकार के लिए अभी से भारी पड़ने लग गया है। इसलिए दिसंबर 1993 में आयोजित 'सब के लिए शिक्षा' नामक जनसंख्या-बहुल नौ राष्ट्रों के अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भारत सरकार ने इस वादे से भी निजात पाने की राह निकाल ली। इस सम्मेलन के दस्तावेज में भारत सरकार ने घोषित किया कि 9 से 14 वर्ष आयु समूह के बच्चों (यानी बाल श्रमिकों) को साक्षरता मिशन के दायरे में ले लिया जाएगा। दूसरे शब्दों में, अब पांच करोड़ बाल श्रमिक बंधुआ मजदूरी करते रहेंगे और उन तक न तो स्कूल पहुंचेगा और न ही औपचारिकेतर शिक्षा। साक्षरता मिशन द्वारा इस आयु समूह के बच्चों को अपने दायरे में लेना एक प्रकार से सरकारी घोषणा है कि बाल श्रमिक प्रथा का कलंक लेकर भारत इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करेगा।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) ने प्रारंभिक शिक्षा के संकल्प को प्राथमिक और मिडिल के दो चरणों में तोड़कर जिस प्रक्रिया की शुरुआत की वह निरंतर उसी दिशा में बढ़ रही है। सन् 1988 में साक्षरता मिशन के गठन ने इस प्रक्रिया को बल दिया है। इन्हीं वर्षों में थाइलैंड (जोमतियन) में होने वाले विश्वस्तरीय 'सब के लिए शिक्षा' सम्मेलन की तैयारियां जोरों पर थीं। तीसरी दुनिया के देश इन तैयारियों में शामिल थे, भारत भी इससे अछूता नहीं था। भारतीय अर्थव्यवस्था के वैश्वीकरण और नई आर्थिक नीति के बीज भी इन्हीं वर्षों में बोए जा रहे थे। भारतीय शिक्षा का एजेंडा 1990 में जोमतियन सम्मेलन के बाद तेजी से बदला। इस सम्मेलन में, गरीबी को हटाए बिना जीवन स्तर के गुणात्मक सुधार लाने के लिए प्रौढ़ साक्षरता को एक शक्तिशाली औजार के रूप में पेश किया गया। आंकड़ों और तर्कों को गड्डमड्ड करके निष्कर्ष निकाला गया कि यदि साक्षरता दर बढ़ाई जाएगी तो जीवन स्तर भी सुधरेगा।[4]

विडंबना यह है कि जोमतियन सम्मेलन तक साक्षरता दर शैक्षिक स्तर को नापने का एक मापदंड भर थी।[5] इस सम्मेलन के बाद यह भारतीय शिक्षा का ध्येय बनने लगी। 'मापदंड' को 'ध्येय' बनाने की इस प्रक्रिया के दौरान समाजशास्त्रीय सिद्धांतों को भी गड्डमड्ड किया गया। पूर्व में साक्षरता दर, बाल-मृत्यु दर, जन्म दर, दंपति-सुरक्षा (परिवार नियोजन) दर आदि अनेक मापदंड गरीबी के स्तर से जोड़कर देखे जाते थे। आमतौर पर यह माना जाता था कि गरीबी दूर होने के साथ-साथ जीवन के इन गुणात्मक मापदंडों में भी सुधार होता है। लेकिन सम्मेलन के बाद तेजी के साथ सरकारी और गैर-सरकारी दस्तावेजों में यह बताने की कोशिश की गई है कि साक्षरता दर (विशेषकर महिला साक्षरता दर) को बढ़ा देने भर से ही बाल-मृत्यु दर, जन्म दर आदि आंकड़ों में सुधार हो जाएगा। यानी न तो गरीबी दूर करने की जरूरत है, न बेरोजगारी हटाने की और न ही लिंग विषमता व बाल श्रमिक प्रथा मिटाने की। यानी शोषण की तमाम प्रक्रियाएं जारी रहें, केवल *महिला साक्षरता दर बढ़ा दो और पिछड़ेपन से मुक्ति पा लो*—इस प्रकार का यंत्रीकृत नारा जोमतियन सम्मेलन की प्रमुख देन है और इसके आधार पर हमारी सरकार देश के एजेंडा को नया रूप दे रही है। पूर्व-प्राथमिक शिक्षा को स्कूली शिक्षा से जोड़ने की बात दूर की कौड़ी हो गई है। अब तो आठ साल की शिक्षा के संकल्प की जगह पांच साल की प्राथमिक शिक्षा और वह भी औपचारिकेतर प्रणाली के द्वारा देने की योजना बन चुकी है। अगर हाल के दस्तावेजों द्वारा दिए गए संकेतों को समझ लिया जाए तो संविधान के अनुच्छेद 45 की पूर्ति, पहले तीन साल की प्राथमिक शिक्षा को औपचारिकेतर प्रणाली द्वारा पूरी करके और उसके बाद 9-14 वर्ष के बच्चों को साक्षरता मिशन की प्रौढ़ साक्षरता कक्षाओं में शामिल करके मान ली जाएगी।

राष्ट्रीय संकल्प को इस तरह बदहाल करने के साथ-साथ हर सरकार को कई भ्रम भी पैदा करने पड़े हैं। मिसाल के तौर पर दावा किया गया है कि हाल के साक्षरता अभियानों से जनता में बच्चों को स्कूल भेजने की इच्छा जागी है। यह दावा वह मानव संसाधन विकास मंत्रालय करता है जो यह भी कहता है कि 1990 तक इस आयु समूह के 100 प्रतिशत

बच्चे स्कूलों में दर्ज हो चुके थे। यदि दर्ज संख्या का दावा सच है तो साक्षरता अभियान ने किन बच्चों में स्कूल जाने की इच्छा जगाई है? इसी तर्ज पर आंध्र प्रदेश के नेल्लोर जिले का उदाहरण भी दिया जाता है, जहां की महिलाओं ने साक्षरता अभियान के द्वारा शराबबंदी आंदोलन शुरू किया। निस्संदेह यह घटना हर प्रकार से सराहनीय है लेकिन इस आंदोलन का रिश्ता साक्षरता से उतना नहीं है जितना कि महिलाओं की सक्रियता बढ़ने से है। देश के कई हिस्सों में जन आंदोलनों में निरक्षर महिलाएं ही नेतृत्व की अगली कतार पर खड़ी हुई हैं और शराबबंदी, जंगल की सुरक्षा एवं जनहित वाले विकास कार्यक्रमों के पक्ष में चेतना जगा रही हैं। महिलाओं की सक्रियता और उनके सशक्तीकरण को सिर्फ साक्षरता तक सीमित कर देना जोमितियन सम्मेलन के परिप्रेक्ष्य में ही संभव हुआ है। यहां यह भी याद रखना होगा कि मध्यम वर्ग की शिक्षित महिलाएं भी पितृसत्तात्मक समाज की यंत्रणा में जकड़ी हुई हैं, जबकि इसके विपरीत जन आंदोलनों में भाग ले रही निरक्षर महिलाओं ने पुराने ढांचों को चुनौती देकर अपनी मुक्ति का रास्ता प्रशस्त किया है और फिर पढ़ना-लिखना भी शुरू किया है।

सवाल साक्षरता दर बढ़ाने का नहीं है, न ही महिला साक्षरता दर का है। सवाल गरीबी और शोषण के ढांचों से मुक्ति पाने और राष्ट्रीय प्राथमिकताओं को गरीब जनता के पक्ष में बदलने का है। ऐसे संरचनात्मक परिवर्तन के बगैर साक्षरता दर की बात करना अंतर्राष्ट्रीय नारा भले ही बन जाए लेकिन भारत जैसे गरीब देशों की बहुसंख्यक जनता के हितों की पूर्ति का साधन नहीं बन सकता। हमें जोमतियन सम्मेलन की प्रक्रिया को पलटकर एक बार फिर साक्षरतां दर और अन्य ऐसी दरों को उनके पूर्व मूल्य यानी समाजशास्त्रीय मापदंडों में बदलना होगा और समाज को बदलने वाली शिक्षा को राष्ट्रीय एजेंडा का केंद्र बिंदु बनाना होगा।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. **प्राथमिक बनाम प्रारंभिक शिक्षा :** भारतीय संविधान के अनुच्छेद 45 में 'चौदह वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों' के लिए 'निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा' सुनिश्चित करने के निर्देश दिए गए हैं. इस संवैधानिक जवाबदेही का निहितार्थ कक्षा एक से आठ तक की शिक्षा से है जिसे 'प्रारंभिक शिक्षा' (अंग्रेजी में 'एलिमेंट्री एजुकेशन') की संज्ञा दी गई है. प्रारंभिक शिक्षा की व्यवस्था दो चरणों में की जाती है—कक्षा एक से पांच तक की 'प्राथमिक' (प्राइमरी) शिक्षा और कक्षा छह से आठ तक की 'मिडिल' या 'उत्तर प्राथमिक' (अपर-प्राइमरी) शिक्षा. विगत कुछ वर्षों में विश्व बैंक के दबाव में सरकार प्रारंभिक शिक्षा की जगह मात्र प्राथमिक शिक्षा की बात करने लगी है ताकि अपनी संवैधानिक जवाबदेही से बच सके.
2. आठ साल की शिक्षा के अलावा अनुच्छेद 45 की जवाबदेही में 0-6 वर्ष के आयु समूह के बच्चों की देखभाल, पालन-पोषण एवं पूर्व-स्कूल शिक्षा का मसला भी शामिल है. इसे नीति में 'शिशु देखभाल एवं शिक्षा' के नाम से जाना जाता है. हर सरकार इस संवैधानिक जवाबदेही को कागजी तौर पर

भी स्वीकारने से कतराती रही है जबकि इनसान के मस्तिष्क का 80 प्रतिशत विकास इसी उम्र में होता है.

3. यह तो राष्ट्रीय स्तर का औसतमान है. सन् 1997 के एक सर्वेक्षण में टिमरनी विकास खंड (जिला होशंगाबाद, मध्य प्रदेश) के ग्रामीण क्षेत्र में 80 प्रतिशत से भी अधिक प्राथमिक स्कूल ऐसे पाए गए जहां दो या दो से कम शिक्षक थे (संदर्भ : 'शाला से लोकशाला की ओर', भारत जन विज्ञान जत्था, 1997).

4. 'रिसर्च बेस्ड इंटरवेंशंस इन प्रायमरी एजुकेशन-दी डी.पी.ई.पी. स्ट्रेटजी', राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (एन.सी.ई.आर.टी.), नई दिल्ली, 1994.

5. हालांकि जोमतियन सम्मेलन के पहले भी साक्षरता दर को शैक्षिक स्तर नापने के एकमात्र मापदंड या प्रमुखतम मापदंड के रूप में इस्तेमाल करने की प्रवृत्ति भ्रमात्मक थी. शैक्षिक स्तर एक बहु-आयामी अवधारणा है और इसको साक्षरता दर का पर्याय बनाने के प्रयास को, शिक्षा को विकृत करने के अंतर्राष्ट्रीय षड्यंत्र के हिस्से के रूप में देखने की जरूरत है.

5. साक्षरता का शिकंजा

साक्षरता की सशक्त लाबी और उसका प्रचार-प्रसार तंत्र आज देश के शैक्षिक मानस पर हावी है। इस लाबी में सरकारी और गैर-सरकारी संगठन, तथाकथित बुद्धिजीवी और शिक्षाविद्, नौकरशाह, राजनेतागण आदि श्रेणियों के लोग शामिल हैं। इनका दबाव इतना अधिक है कि जब आचार्य राममूर्ति समिति ने अपनी रपट में राष्ट्रीय साक्षरता मिशन की नीतिगत तर्कहीनता और प्रारंभिक शिक्षा के साथ उसके विरोधाभास का उल्लेख किया तो उसे दरकिनार करने के लिए जनार्दन रेड्डी समिति (1992) को साक्षरता मिशन के पक्ष में बिना किसी प्रमाण एवं बगैर किसी तार्किक आधार के तारीफ के पुल बांधने पड़े। सन् 1995 में मंत्रालय द्वारा गठित अरुण घोष समिति[1] ने अपनी रपट में मिशन के झूठे आंकड़ों और निराधार दावों का जिक्र किया लेकिन वह रपट हाशिए पर पड़ी रही। इसी तरह काम्पट्रालर एंड आडिटर जनरल की तीखी आलोचना से भरी रपट भी कूड़ेदान में फेंक दी गई।

इस स्थिति के बावजूद साक्षरता मिशन ने योजना आयोग के सामने नौवीं पंचवर्षीय योजना हेतु दो हजार करोड़ रुपयों की मांग पेश की। विडंबना यह है कि यही मंत्रालय पैसे की कमी का तकाजा देते हुए प्राथमिक शिक्षा के लिए विश्व बैंक से ढाई हजार करोड़ रुपए के कर्ज के लिए समझौते पर दस्तखत करता है। साथ में मंत्रालय यह भी कहता जा रहा है कि प्रारंभिक शिक्षा को बुनियादी अधिकार का दर्जा देने के लिए भी सरकार के पास पैसा नहीं है। सन् 1997-98 के वार्षिक बजट में विश्व बैंक से कर्ज के रूप में जितना पैसा प्राथमिक शिक्षा के नाम पर लिया था उससे कहीं अधिक धन साक्षरता मिशन, औपचारिकेतर शिक्षा एवं इसी प्रकार के अन्य निरर्थक मदों पर खर्च करने का प्रावधान रखा गया। इस पृष्ठभूमि में समझा जा सकता है कि सरकार की आर्थिक प्राथमिकताओं में ऐसी विकृतियों को बरकरार रखने के लिए क्यों हर नए प्रधानमंत्री पर दबाव बनाए रखना जरूरी हो जाता है। तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री इंद्रकुमार गुजराल पर भी ऐसा ही दबाव बनाने के लिए साक्षरता मिशन की ओर से अगस्त 1997 में एक गोष्ठी का आयोजन किया गया।

उक्त संदर्भ में यह लेख लिखा गया था।

आजादी की पचासवीं सालगिरह के मौके पर प्रधानमंत्री इंद्रकुमार गुजराल ने लाल किले की प्राचीर से देश के प्रति अपने संबोधन की शुरुआत में शिक्षा के बारे में जो सटीक बातें कहीं, उसके लिए वे सचमुच बधाई के पात्र हैं। बिना किसी दुविधा के उन्होंने एलान किया कि चौदह वर्ष तक की उम्र के सभी बच्चों को, विशेषकर लड़कियों को, स्कूल में

मूल स्रोत : नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली; 11 सितंबर 1997.

पहुंचाने का संवैधानिक निर्देश जल्द ही पूरा किया जाएगा। प्रधानमंत्री को उस वक्त यह अवश्य याद रहा होगा कि शिक्षा का यह लक्ष्य संविधान के अनुसार 1960 तक पूरा किया जाना था। हमें यह भी विश्वास करना चाहिए कि सकल दर्ज अनुपात[2] के तमाम सरकारी झूठे आंकड़ों से भ्रमित हुए बिना प्रधानमंत्री यह सचाई जानते होंगे कि देश के लगभग आधे बच्चे आज भी स्कूल के दायरे से बाहर हैं और दो-तिहाई लड़कियां स्कूल नहीं जातीं। विडंबना यह है कि सरकारी दावे के अनुसार 105 प्रतिशत बच्चे स्कूल में दर्ज हैं। इसीलिए प्रधानमंत्री का यह एलान विशेष रूप से स्वागत-योग्य है कि संसद के मानसून सत्र में ही प्रारंभिक शिक्षा (कक्षा एक से आठ तक) को बुनियादी अधिकार बनाने का बिल पेश किया जाएगा।[3]

इसके बाद प्रधानमंत्री ने एक ऐसी बात कही जो लाल किले की प्राचीर से किसी प्रधानमंत्री ने शायद ही पहले कभी कही हो। उन्होंने बच्चों की शिक्षा कैसी हो, इस पर भी अपने विचार व्यक्त किए। उनके अनुसार शिक्षा ऐसी हो कि उसके जरिए बच्चों और युवाओं में वैज्ञानिक सोच पैदा किया जा सके। बच्चों में सवाल पूछने की प्रवृत्ति का निर्माण हो, ऐसा उनका आग्रह था। उन्होंने गौतम बुद्ध का जिक्र किया जिन्होंने कहा था कि जब तक प्रमाण न मिले, तब तक किसी की बात पर विश्वास मत करो। 'क्या, क्यों और कैसे' के सवाल स्कूली शिक्षा का हिस्सा बनने चाहिए। शायद प्रधानमंत्री को मानव संसाधन विकास मंत्रालय के वरिष्ठ नौकरशाहों ने यह नहीं बताया होगा कि विगत पांच दशकों से नीति निर्धारकों और सरकारी शिक्षाविदों ने उनके इन शैक्षिक विचारों को मानने से इनकार किया है। सरकारी विशेषज्ञ यह भली भांति जानते हैं कि यदि बच्चों में वैज्ञानिक सोच और सवाल पूछने की प्रवृत्ति का निर्माण हुआ तो फिर वे देश की आज जो दुर्गति हो रही है, उसके बारे में भी सवाल पूछेंगे।

इतनी साफ-सुथरी बातें कहकर प्रधानमंत्री ने अपने संबोधन के अंतिम दौर में शिक्षा के बारे में जो कहा उसने बुनियादी भ्रम पैदा किया। निरक्षरता की समस्या का जिक्र करते हुए प्रधानमंत्री ने साक्षरता को आंदोलन बनाने का आह्वान दिया। इस संदर्भ में उन्होंने 'हरेक, एक और को साक्षर बनाए' वाले घिसे-पिटे पुराने नारे को इस प्रकार याद किया जैसे कि पहले कभी किसी ने इसकी जांच-पड़ताल तक न की हो। यदि इस बयान के पहले वे इतिहास की ओर एक नजर डाल लेते और उपलब्ध अध्ययनों को देख लेते तो उन्हें पता चल जाता कि यह नारा सुनने में चाहे कितना भी भला क्यों न लगे, यथार्थ में इसे जब-जब आजमाया गया तब-तब यह नासूर बना है। चाहे यह अनुभव पचास के दशक का हो (जब यही काम हमने भी अपने स्कूल में किया था) और चाहे यह अस्सी के दशक में अनेक हाई स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों द्वारा किए गए असफल प्रयोगों की कहानी हो।

प्रधानमंत्री का भ्रम केवल यहीं खत्म नहीं हुआ। उन्होंने केरल और मिजोरम जैसे प्रदेशों की उच्च साक्षरता दरों का जिक्र करते हुए पूरे देश को उनकी मिसाल से सीखने की सलाह दी। ऐसा लगता है कि प्रधानमंत्री साक्षरता दर के आंकड़ों में उलझकर रह गए हैं—केरल और मिजोरम में साक्षरता दर 80 से 90 प्रतिशत है, जबकि पूरे भारत की औसत साक्षरता

दर मात्र 52.2 प्रतिशत और उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान की 40 प्रतिशत से भी कम है। शायद सरकारी शिक्षाविदों ने प्रधानमंत्री को यह नहीं बताया होगा कि केरल और मिजोरम की उच्च साक्षरता दर स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में कई दशकों के *सफल प्रयासों का परिणाम है, न कि प्रौढ़ साक्षरता अभियान का*।

विगत दस वर्षों से, जब से राष्ट्रीय साक्षरता मिशन का गठन हुआ है, तब से व्यवस्थित रूप से सरकारी मंचों से यह भ्रम फैलाया गया है कि इन प्रदेशों की ऊंची साक्षरता दरें प्रौढ़ साक्षरता अभियानों की उपलब्धि है। इस भ्रम की शुरुआत 1989-90 में एर्नाकुलम जिले की प्रख्यात कहानी को गलत ढंग से प्रस्तुत करके की गई। 1989 में एर्नाकुलम जिले की साक्षरता दर लगभग 92 प्रतिशत थी। उसी वर्ष वहां साक्षरता मिशन की ओर से पहला प्रौढ़ साक्षरता अभियान चलाया गया। एक वर्ष के बाद जिले के कलक्टर ने अपनी रपट में लिखा कि अभियान के फलस्वरूप साक्षरता दर चार से पांच प्रतिशत बढ़ गई है लेकिन यह टिक पाएगी या नहीं, इसको लेकर कुछ नहीं कहा जा सकता। हाल की मैदानी रपटों ने जिला कलक्टर के इस शक की पुष्टि करते हुए संकेत दिए हैं कि एर्नाकुलम साक्षरता अभियान की उपलब्धि अंततः टिक नहीं पाई। लेकिन एर्नाकुलम का असली सबक साक्षरता अभियान का यह अनुभव नहीं है, वरन यह है कि 1989 में जिले की 92 प्रतिशत साक्षरता दर उसके पूर्व के दशकों में स्कूली शिक्षा की सफलता की उपलब्धि थी और यह उपलब्धि आज भी टिकाऊ है।

मिशन की ओर से इस मामले में बार-बार भ्रामक और अस्पष्ट बयान देकर मीडिया को भी भ्रमित किया गया है। इसलिए इस बात को एक बार फिर स्पष्ट करना उचित लगता है। सन् 1991 की जनगणना से पता चला कि 1981 की साक्षरता दर की तुलना में दस वर्षों में साक्षरता दर लगभग 10-12 प्रतिशत बढ़ी थी। यह बढ़ोत्तरी तब हुई थी जब मिशन का गठन तक नहीं हुआ था। जाहिर है कि 1981-91 के बीच हुई यह बढ़ोत्तरी स्कूली शिक्षा के प्रसार की उपलब्धि थी। यदि प्रौढ़ साक्षरता अभियानों का कोई प्रभाव देखना है तो वह केवल 1991 के बाद के वर्षों में ही देखा जा सकता है। इस प्रभाव की प्रमाणिक रपट का आज भी इंतजार है।

20 अगस्त 1997 को प्रधानमंत्री ने राष्ट्रीय साक्षरता मिशन की एक समीक्षा करवाई थी। इस बैठक में मिशन से अनुदान-प्राप्त कुछ चुनिंदा गैर-सरकारी एजेंसियों* को प्रधानमंत्री के सामने पेश किया गया। इनके द्वारा मिशन की सफलता के लंबे-चौड़े दावे किए गए। अपने दावों में इन गैर-सरकारी एजेंसियों ने केरल, कर्नाटक, तमिलनाडु, गोवा, पांडिचेरी एवं पश्चिम बंगाल में अभियानों की 'अभूतपूर्व सफलता' का जिक्र किया। लेकिन विडंबना यह है कि न तो मिशन के अधिकारियों की ओर से और न ही गैर-सरकारी एजेंसियों की ओर से एक भी ऐसी मैदानी रपट पेश की गई जिससे इस 'सफलता' का वैज्ञानिक एवं वस्तुनिष्ठ प्रमाण मिले। क्या प्रधानमंत्री मिशन से पता लगाएंगे कि बिना किसी वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन के इन दावों को पेश करने के पीछे उसकी क्या मंशा है?

यदि मिशन की कोई उपलब्धि है तो वह केवल यह है कि उसने करोड़ों रुपए की लागत से अपने व्यापक प्रचार-प्रसार के जरिए साक्षरता का एक ऐसा शिकंजा कसा है कि उसमें हर नया प्रधानमंत्री और देश के कई बुद्धिजीवी, विपक्षी दलों के नेतागण, सांसद, संपादक और यहां तक कि कुछेक शिक्षाविद भी फंस चुके हैं। एक विशेष 'उपलब्धि' यह भी रही है कि विगत दस वर्षों में बढ़ते क्रम में *शिक्षा* को *साक्षरता* का पर्याय मान लिया गया है और इनके बीच का अंतर नीति निर्धारकों के मानस में लगभग मिट चुका है। आज आप प्राथमिक अथवा उत्तर-प्राथमिक (मिडिल) शिक्षा की बात कीजिए तो लोगों को सुनाई पड़ता है 'साक्षरता'। साक्षरता मिशन के गठन के पूर्व देश में किसी को यह समझाना नहीं पड़ता था कि संविधान के अनुच्छेद 45 का उद्देश्य बच्चों को *शिक्षित* करना है, *मात्र साक्षर बनाना नहीं*। साक्षरता मिशन के इस सोच को विश्व बैंक और उसके द्वारा समर्थित अंतर्राष्ट्रीय वित्तपोषक एजेंसियों ने जमकर समर्थन दिया है। विश्व बैंक के जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डी.पी.ई.पी.) ने बड़े पैमाने पर साक्षरता को (शिक्षा को नहीं) अपने प्रमुख उद्देश्य के रूप में पेश किया है। इसको न्यायोचित ठहराने के लिए कई प्रकार के तर्क दिए जाते हैं। सबसे बड़ा तर्क तो यह है कि साक्षरता लाने से जनसंख्या पर नियंत्रण हो जाएगा। इसकी पुष्टि के लिए केरल जैसे प्रदेशों में साक्षरता और जनसंख्या नियंत्रण में मिली उपलब्धि के आंकड़े प्रस्तुत किए गए हैं। लेकिन यह नहीं बताया जाता कि अनेक ऐसे जिलों और प्रदेशों में भी जनसंख्या नियंत्रण में सफलता मिली है जहां की साक्षरता दरें काफी कम थीं। यह भी नहीं बताया जाता कि जनसंख्या नियंत्रण की सफलता का आधार बनाने में साक्षरता अनेक कारकों में से केवल एक है। कई अध्ययनों से यह पता चला है कि जहां-जहां गरीबी और विषमता कम हुई है और जनहित की सुविधाएं (उदा. स्वास्थ्य की) सुधरी हैं, वहां के लोग स्वयं छोटे परिवारों की ओर आकर्षित हुए हैं। केरल को भी इसी दृष्टि से देखने की जरूरत है। क्या प्रधानमंत्री यह पता लगाएंगे कि मानव संसाधन विकास मंत्रालय एवं मिशन की ओर से बार-बार देश को भ्रमित क्यों किया जा रहा है और इस प्रक्रिया में विश्व बैंक की क्या भूमिका है?

इस संदर्भ में एक बात और। साक्षरता किसी भी भौगोलिक क्षेत्र में शिक्षा के फैलाव को नापने का एक मापदंड रहा है। मिशन और विश्व बैंक के जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम ने साक्षरता के इस मापदंड को शिक्षा का सारतत्व बनाने का दुर्भाग्यपूर्ण प्रयास किया है। इस प्रयास के जरिए महात्मा गांधी, रवींद्रनाथ ठाकुर, श्री अरविंद एवं गिजुभाई बधेका जैसे महान विचारकों द्वारा किए गए शिक्षा के समग्र दर्शन को नकारने की कोशिश हुई है। केवल यही नहीं, यह कोशिश राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) और उसके 1992 के संशोधित रूप में उल्लेखित शिक्षा के समग्र उद्देश्यों की भी उपेक्षा करती है।

समय-समय पर अपनी असफलताओं को छिपाने के लिए मिशन ने कई बार पैंतरे बदले हैं। जब उनसे साक्षरता कक्षाओं एवं उनमें भाग लेने वाले तथा सफल होने वाले लोगों की संख्याओं के आंकड़े मांगे गए तो उन्होंने 'वातावरण निर्माण' हेतु कला जत्था के गीतों,

नाटकों एवं प्रदर्शनियों का ब्योरा दिया। जब इससे भी बात नहीं बनी तो मिशन ने 9-14 वर्ष आयु समूह के उन बच्चों की संख्या बताई जो उनकी प्रौढ़ साक्षरता कक्षाओं में आते थे, जबकि मिशन का घोषित उद्देश्य 15 से 35 वर्ष की आयु समूह के प्रौढ़ को साक्षर बनाना था। इस भटकाव को न्यायोचित ठहराने के लिए मिशन ने दावा किया कि हम स्कूली शिक्षा के लिए इन बच्चों को तैयार कर रहे हैं। जब इस पर भी प्रश्न उठे तो मिशन से अनुदान प्राप्त करने वाली गैर-सरकारी एजेंसियों ने होहल्ला किया कि यह साक्षरता कार्यक्रम नहीं है कि आप हमसे आंकड़े और प्रमाण मांगें—यह तो साक्षरता का जन आंदोलन है जिसकी सफलता को नापने की कोशिश करना ही अनुचित होगा। नौवीं पंचवर्षीय योजना के लिए दो हजार करोड़ रुपए की अपनी मांग प्रस्तुत करते हुए मिशन के दस्तावेज में अब यह कहा जा रहा है कि उसके प्रौढ़ साक्षरता अभियान का उद्देश्य दरअसल में स्कूली शिक्षा के लिए वातावरण बनाना, नारी समता लाना, छोटे परिवारों के प्रति लगाव पैदा करना, समाज में व्याप्त विषमताओं को दूर करना, रोजगार हेतु कौशल निर्माण करना एवं विकास के लिए जन चेतना जगाना है। यह बहुउद्देशीय कटिबद्धता घोषित करके मिशन ने साक्षरता से लगभग अपना पल्ला ही छुड़ा लिया है। 20 अगस्त 1997 को प्रधानमंत्री के साथ हुई समीक्षा बैठक में इस तरह का शब्दजाल गढ़ा गया कि उन दो घंटों में प्रधानमंत्री को यह अहसास करा ही दिया गया होगा कि प्रौढ़ साक्षरता अभियान भारत की आजादी की दूसरी लड़ाई है और यह हो भी क्यों न—करोड़ों रुपए का अनुदान लेने वाली गैर-सरकारी एजेंसियों ने प्रधानमंत्री को यह जतला दिया कि उनके पास एक करोड़ कटिबद्ध युवाओं की विशाल फौज है जिसके जरिए लाल किले की प्राचीर से भ्रष्टाचार के खिलाफ राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह और आंदोलन करने का प्रधानमंत्री का आह्वान भी पूरा किया जा सकता है। ये सब देखते हुए प्रधानमंत्री द्वारा अपने कार्यालय में स्थापित किए जा रहे 'भ्रष्टाचार निवारण प्रकोष्ठ' जैसी प्रशासकीय हरकतों की जरूरत ही क्या रह जाएगी!

इन सब ऊंचे-ऊंचे दावों और जन आंदोलनों की बात करते हुए 20 अगस्त 1997 की समीक्षा बैठक में इस कड़वी सचाई का जिक्र ही नहीं हो पाया कि आज देश के आधे बच्चे—यानी लगभग 9 करोड़ बच्चे—स्कूल ही नहीं जा रहे । पहले तो यह कल्पना कीजिए कि यदि वे 9 करोड़ बच्चे स्कूल जाने का फैसला कर लें तो स्कूली तंत्र का क्या हश्र होगा? जाहिर है कि यह जीर्ण-शीर्ण तंत्र जो आज भी स्कूल आने वाले बच्चों को संभाल नहीं पाता, वह पूरी तरह से धराशायी हो जाएगा। यह भी कल्पना कीजिए कि यदि अगले दो-तीन साल तक ये बच्चे स्कूल के बाहर रह गए तो ये सब बाल मजदूरों की फौज में शामिल हो जाएंगे। जब यही बच्चे सन् 2005 में 15 से 35 वर्ष आयु समूह में शामिल होकर निरक्षर प्रौढ़ बन जाएंगे तो इनको साक्षर बनाने के लिए मिशन द्वारा प्रौढ़ साक्षरता अभियान चलाया जाएगा। इसलिए मिशन से अनुदान-प्राप्त एजेंसियों को घबराने की तनिक भी जरूरत नहीं है, उनका धंधा अगली सदी में भी चालू रहेगा।

दरअसल, इस विडंबनापूर्ण स्थिति के बीज राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) के दो वर्ष

बाद ही बो दिए गए थे। नीति के 'संकल्प' शीर्षक वाले खंड में घोषणा की गई थी कि प्रारंभिक (कक्षा एक से आठ तक) शिक्षा के लोकव्यापीकरण (सर्वीकरण) के उद्देश्य को 'सर्वोच्च प्राथमिकता' दी जाएगी। इसीलिए हैरत हुई जब 1988 में सरकार ने 15-35 वर्ष की आयु समूह हेतु राष्ट्रीय साक्षरता मिशन की गठन की घोषणा की। इस मिशन के लिए सातवीं पंचवर्षीय योजना में आठ सौ करोड़ रुपए का प्रावधान किया गया। इसकी तुलना में स्कूली तंत्र को समृद्ध करने वाले एकमात्र कार्यक्रम—आपरेशन ब्लैकबोर्ड— के लिए बमुश्किल चार सौ करोड़ रुपए का प्रावधान था। आठवीं पंचवर्षीय योजना में बगैर किसी प्रामाणिक मूल्यांकन के मिशन का प्रावधान बढ़ाकर चौदह सौ करोड़ रुपए कर दिया गया जबकि आपरेशन ब्लैकबोर्ड का प्रावधान केवल छह सौ करोड़ रुपए तक ही पहुंच पाया। यह अंतर सरकार की विकृत प्राथमिकता का जीता-जागता सबूत है। अब नौवीं पंचवर्षीय योजना में मिशन ने दो हजार करोड़ रुपए की मांग प्रस्तुत की है। योजना आयोग एक बार फिर बगैर किसी स्वतंत्र मूल्यांकन के ग्यारह सौ नब्बे करोड़ रुपए का प्रावधान करने को तैयार हो गया है। शेष मांग के लिए 20 अगस्त 1997 की समीक्षा बैठक में मिशन ने अपने अभियान को आजादी की दूसरी लड़ाई घोषित करके प्रधानमंत्री पर अच्छा-खासा दबाव बनाया। पते की बात बस इतनी है कि 2005 में भी ऐसी ही समीक्षा बैठक होगी और उसमें फिर नए तर्कों सहित साक्षरता का भ्रम देश में फैलाने की कोशिश होगी। यह तो ऐसा हुआ कि फर्श सुखाने के लिए पोंछा लगाया जा रहा है लेकिन नल खुला छोड़ रखा है।

लाल किले की प्राचीर से शिक्षा को बुनियादी हक बनाने और उसको गौतम बुद्ध के प्रश्न पूछने वाली वैज्ञानिक संस्कृति से जोड़ने की बात करने वाले प्रधानमंत्री से इतनी तो उम्मीद की ही जा सकती है कि वे साक्षरता के कसते हुए शिकंजे पर चंद बुनियादी सवाल उठाएंगे और उसकी सार्थकता और प्रामाणिकता के सबूत मांगेंगे। तभी तो साहस पैदा होगा, राष्ट्रीय साक्षरता मिशन की जगह 1992 की संशोधित शिक्षा नीति में प्रस्तावित 'राष्ट्रीय प्रारंभिक शिक्षा मिशन' को गठित करने का। याद रहे, शिक्षा नीति का यह प्रस्ताव संसाधनों की कमी की दुहाई देकर पिछले छह साल से अधर में लटकाया हुआ है। नौवीं पंचवर्षीय योजना में राष्ट्रीय साक्षरता मिशन को दो हजार करोड़ देने के पहले प्रधानमंत्री एक बार फिर सोच लें, संसद भी इस पर पुनर्विचार कर ले। स्पष्ट है कि मिशन का चरित्र और उसकी दिशा बदलकर ही पचास वर्ष पूर्व संविधान निर्माताओं द्वारा देश को दिए गए वादे को पूरा करने का आधार खड़ा हो पाएगा।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. 'इवैल्युएशन ऑफ लिट्रेसी कैंपेन इन इंडिया—रिपोर्ट आफ एक्सपर्ट ग्रुप', राष्ट्रीय साक्षरता मिशन, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार, 1994.

2. निश्चित भौगोलिक क्षेत्र (स्कूल के दायरे वाले) में सकल दर्ज अनुपात (प्राथमिक स्तर पर)

$$= \frac{\text{कक्षा एक से पांच तक दर्ज बच्चों की संख्या}}{\text{निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में संबंधित आयु समूह (6-11 वर्ष) में कुल बच्चों की संख्या}} \times 100$$

चूंकि प्राथमिक स्तर पर दर्ज बच्चे 6 वर्ष से कम या 11 वर्ष से अधिक उम्र के भी हो सकते हैं, अतः सरकार द्वारा प्रस्तुत सकल दर्ज अनुपात विगत कई वर्षों से 105-106 प्रतिशत घोषित किया जाता रहा है.

3. प्रारंभिक शिक्षा को बुनियादी अधिकार का दर्जा देने वाला 83वां संशोधन बिल आज तक ठंडे बस्ते में पड़ा हुआ है. जिस बिल को संसद में पेश करने से भी सरकार घबरा रही है उस बिल में भी कई प्रकार की खामियां हैं. दरअसल, सर्वोच्च न्यायालय के उन्नीकृष्णन निर्णय (1993) द्वारा प्रारंभिक शिक्षा के जो अधिकार बच्चों को दिए गए थे, वे भी इस कमजोर एवं आंतरिक विरोधाभासों से भरपूर बिल के जरिए छीनने की योजना है (संदर्भ—'एजुकेशन ऐज़ ए फंडामेंटल राइट— बैकग्राउंड पेपर्स', शिक्षा विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित सम्मेलन में प्रस्तुत पुस्तिका, दिसंबर 1997).

4. आम तौर पर 'गैर-सरकारी एजेंसी' (एन.जी.ओ.) को 'स्वैच्छिक (वाल्युंटरी) संस्था' के पर्याय के रूप में इस्तेमाल किया जाता है. लेकिन इस पुस्तक में इन दोनों पारिभाषिक शब्दों को इनके ऐतिहासिक एवं समकालीन संदर्भों के आधार पर अलग-अलग अर्थों में इस्तेमाल किया गया है. 'स्वैच्छिक संस्था' से अर्थ उस समूह से है जो अपनी आंतरिक प्रेरणा एवं समझ को लेकर स्वयं तय किए गए एजेंडा को पूरा करने के लिए काम करता है. इसके विपरीत 'गैर-सरकारी एजेंसी' का गठन किसी अन्य एजेंसी (सरकारी, विश्व बैंक, युनिसेफ, अन्य वित्तपोषक एजेंसी) द्वारा तय किए गए एजेंडे को पूरा करने के लिए किया जाता है. इस एजेंसी का अपना कोई एजेंडा नहीं होता, सिवा पैसा देने वाली एजेंसी द्वारा तय किए गए कार्यक्रमों को पूरा करने के. ऐसी एजेंसियों का जन्म विश्व बैंक की तर्ज पर अस्सी के दशक में और उसके बाद हुआ है. स्वैच्छिक संस्थाएं अस्सी के दशक के पहले भी थीं और आज भी हैं, हालांकि इनमें और गैर-सरकारी एजेंसियों में फर्क करना मुश्किल होता जा रहा है.

6. सबक सीखने से इनकार

संयुक्त मोर्चा सरकार के नवनियुक्त प्रधानमंत्री श्री इंद्रकुमार गुजराल ने देश की बागडोर संभाल ली थी। उनको प्रभावित करने के लिए साक्षरता मिशन द्वारा 20 अगस्त 1997 को विज्ञान भवन के आलीशान सभागार में एक समीक्षा बैठक बुलाई गई। मिशन ने इस बैठक में देश भर से अपनी समर्थक चुनिंदा गैर-सरकारी संस्थाओं के वरिष्ठ प्रतिनिधियों को भी आमंत्रित किया था। मिशन के लिए यह सुनहरा मौका था प्रधानमंत्री का समर्थन जीतने का ताकि नौवीं पंचवर्षीय योजना में उसे योजना आयोग से मुंहमांगी राशि (दो हजार करोड़ रुपए) मिल सके--उस समय तक ये संकेत थे कि योजना आयोग मिशन के दावों की प्रामाणिकता पर गहरे सवाल उठा रहा है। इस बैठक में प्रधानमंत्री के अलावा मानव संसाधन विकास मंत्री श्री बोम्मई भी मौजूद थे। मिशन ने इस बैठक के लिए एक विशेष रपट तैयार की थी जिसमें दावा किया गया था कि आजादी के बाद के भारत में यह सबसे बड़ा जन आंदोलन है। ऐसे माहौल में मैंने बड़ी हिम्मत के साथ प्रधानमंत्री को एक टीप प्रस्तुत की थी जो यहां दी जा रही है। ठीक यही बात 1990 में आचार्य राममूर्ति समिति रपट में भी कही गई थी। लेकिन सभी तर्कों और तथ्यों के बावजूद विभिन्न सरकारों ने 'सबक सीखने से इनकार' किया है।

1. राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) ने स्पष्ट शब्दों में संकल्प लिया था कि प्रारंभिक शिक्षा का लोकव्यापीकरण सुनिश्चित करने के उद्देश्य को 'सर्वोच्च प्राथमिकता' दी जाएगी। इसने घोषणा की थी कि 1995 तक 14 वर्ष आयु समूह तक के सभी बच्चे को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा दे दी जाएगी। हालांकि संविधान के अनुच्छेद 45 के अनुसार 1960 तक यह काम पूरा हो जाना चाहिए था। लेकिन आज तक यह मृगमरीचिका बना हुआ है।

2. तब से लेकर आज तक देश उन सबूतों का इंतजार कर रहा है जिनसे पता चल सके कि नीतिगत संकल्प के अनुसार प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण को 'सर्वोच्च प्राथमिकता' दी जा रही है। इसका स्पष्ट प्रतिबिंब बजट आबंटन की प्राथमिकताओं को बदलने एवं इस मुद्दे पर राजनीतिक सरोकार तथा प्रशासकीय ऊर्जा केंद्रित करने में दिखना चाहिए था। इतना ही नहीं बल्कि लोकव्यापीकरण की रणनीतियों को जमीनी यथार्थ से जोड़ने एवं स्कूली तंत्र में सभी आवश्यक संरचनात्मक, पाठ्यक्रम संबंधी और शिक्षण पद्धतिमूलक परिवर्तन करने में भी इस संकल्प का प्रभाव दिखना चाहिए था। लेकिन विगत कुछ वर्षों में जो हुआ है वह अपेक्षाओं से ठीक विपरीत निकला।

मूल स्रोत : राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के काम की व्यापक समीक्षा हेतु प्रधानमंत्री द्वारा 20 अगस्त 1997 को विज्ञान भवन, नई दिल्ली में बुलाई गई बैठक में मेरे द्वारा प्रस्तुत टीप. मूल अंग्रेजी से अनूदित.

3. शिक्षा नीति की घोषणा के दो वर्षों के अंदर ही खूब धूमधाम के साथ राष्ट्रीय साक्षरता मिशन का गठन किया गया। दरअसल, अपेक्षा यह थी कि 'राष्ट्रीय प्रारंभिक शिक्षा मिशन' गठित किया जाएगा। जबकि सातवीं पंचवर्षीय योजना में साक्षरता मिशन (यानी प्रौढ़ साक्षरता गतिविधियों) के लिए आठ सौ करोड़ रुपयों का प्रावधान किया गया वहीं स्कूल प्रणाली को समृद्ध करने के लिए एकमात्र केंद्रीय कार्यक्रम, यानी आपरेशन ब्लैकबोर्ड, के लिए बमुश्किल चार सौ करोड़ रुपयों का आवंटन किया गया!

4. राष्ट्रीय प्राथमिकताओं में आई इस विकृति की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट करने के सभी प्रयासों को व्यवस्थित रूप से दरकिनार किया गया। आचार्य राममूर्ति समिति की रपट ने, जो संसद के पटल पर 1991 के शुरू में रखी गई, नीतियों और कार्यक्रमों में आई ऐसी विकृतियों की विस्तृत व्याख्या की थी। रपट ने इस बात पर जोर दिया था कि प्रारंभिक शिक्षा के अधूरे एजेंडे पर सारा सरोकार केंद्रित करने की तात्कालिक जरूरत है। इसलिए प्रौढ़ साक्षरता अभियान की ओर देश का ध्यान विकर्षित न किया जाए। वैसे भी सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों स्तरों पर इस अभियान की वैधता स्थापित नहीं हो पाई है। सन् 1991 के मध्यावधि चुनाव के बाद जो सरकार बनी उसने इस रपट को दरकिनार करने के लिए एक सचेत प्रक्रिया शुरू की जिसके तहत रपट की व्यावहारिकता की जांच-पड़ताल करने के लिए आंध्र प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री जनार्दन रेड्डी की अध्यक्षता में एक और समिति गठित की गई। यह विडंबना ही है कि विगत कुछ वर्षों में आचार्य राममूर्ति समिति रपट के कुछेक प्रमुख विचारों को विभिन्न सरकारी कार्यक्रमों (विश्व बैंक के डी.पी.ई.पी. समेत) में मान्यता मिल चुकी है, हालांकि यह मान्यता भी उन विचारों के खंडित स्वरूप को ही मिली है और वह भी आवश्यक परिप्रेक्ष्य के बगैर।

5. राष्ट्रीय साक्षरता मिशन शुरू से ही भ्रमित सोच पर टिका हुआ कार्यक्रम था। इसकी नींव एर्नाकुलम के विख्यात अनुभवों की भ्रमात्मक व्याख्या पर खड़ी थी। लेकिन जिला कलक्टर ने अपनी रपट में यह भी जोड़ा कि उनके आकलन के अनुसार साक्षरता दर की यह वृद्धि निहायत अस्थिर सिद्ध होगी। यह शुरुआती आकलन कितना सटीक था इसका आभास हाल की रपटों से मिलता है जिनमें इस बात के प्रमाण हैं कि साक्षरता दर की कथित उपलब्धि एर्नाकुलम तक में टिक नहीं पाई।

6. एर्नाकुलम प्रयोग के बारे में जिस पक्ष को रेखांकित करने की जरूरत है (जैसा कि आचार्य राममूर्ति समिति की रपट में किया भी गया था), वह यह है कि मिशन के अभियान के पूर्व एर्नाकुलम में पाई गई उच्च साक्षरता दर स्कूली शिक्षा के सफल क्रियान्वयन का परिणाम थी, न कि प्रौढ़ साक्षरता अभियान का। सातवीं पंचवर्षीय योजना में मिशन के अभियानों में बड़े पैमाने पर पूंजी और राष्ट्रीय ऊर्जा का निवेश करने वालों द्वारा इस बात का ध्यान नहीं रखा गया था कि स्कूली शिक्षा और प्रौढ़ साक्षरता अभियानों द्वारा साक्षरता दर की वृद्धि में किए गए योगदान के बीच बुनियादी अंतर है—जबकि स्कूली शिक्षा के जरिए साक्षरता दर में होने वाली वृद्धि टिकाऊ होती है, प्रौढ़ साक्षरता अभियानों द्वारा लाई गई

वृद्धि अनिश्चित और गैर-टिकाऊ होती है। वास्तव में यह दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि आठवीं पंचवर्षीय योजना में मिशन हेतु आबंटन को चौदह सौ करोड़ रुपयों तक बढ़ाते समय जमीनी यथार्थ एवं अनुभवों का कोई भी वस्तुनिष्ठ आकलन नहीं किया गया। जबकि मिशन की तुलना में आठवीं पंचवर्षीय योजना में आपरेशन ब्लैकबोर्ड के प्रावधान को छह सौ करोड़ रुपयों की सीमा में बांध दिया गया।

7. अभी भी देर नहीं हुई है। नौवीं पंचवर्षीय योजना में मिशन के लिए दो हजार करोड़ रुपयों का प्रावधान करने से पहले हमें पूर्वग्रहों से मुक्त होकर पूरी परिस्थिति का एक वस्तुनिष्ठ आकलन कर लेना चाहिए। यह समझना आवश्यक है कि केरल, कर्नाटक और मिजोरम जैसे राज्यों की उच्च साक्षरता दरें, प्रौढ़ साक्षरता अभियानों का प्रतिफल नहीं हैं, वरन प्रारंभिक शिक्षा के लंबे अरसे से चले आ रहे सफल और टिकाऊ प्रयासों का प्रत्यक्ष परिणाम हैं। नौवीं पंचवर्षीय योजना में शिक्षा के क्षेत्र में किया जाने वाला भावी नियोजन इतिहास से मिले इस आवश्यक सबक एवं आम लोगों की सूझ-बूझ पर आधारित होना चाहिए।

8. मिशन के सभी पक्षों की समीक्षा हेतु सरकार द्वारा गठित अरुण घोष समिति (1994) के निष्कर्षों से भी हमें सीख लेनी चाहिए। इस समिति ने साक्षरता कार्यक्रम द्वारा किए गए दावों की विश्वसनीयता के बारे में गंभीर शंकाएं व्यक्त की हैं और साथ ही संपूर्ण साक्षरता अभियान वाले जिलों में 'उपलब्धियों के आंकड़ों को व्यापक रूप से गड़बड़ करने या अतिरंजित करने' का उल्लेख किया है। यह भी जरूरी है कि प्रौढ़ साक्षरता अभियानों के क्रियान्वयन की इन खामियों के कारण मिशन के कार्यक्रमों की बुनियादी अवधारणाओं और संरचनाओं को प्रभावित करने वाली सैद्धांतिक समस्याओं से हमारा ध्यान कहीं हट न जाए। दरअसल में, क्रियान्वयन की खामियों के सूत्र इन सैद्धांतिक समस्याओं में खोजे जा सकते हैं।

9. दुर्भाग्य से प्रौढ़ साक्षरता अभियानों पर केंद्रित किए गए राजनीतिक सरोकार का सबसे नकारात्मक प्रभाव शिक्षा के राष्ट्रीय नजरिए पर पड़ा है। बढ़ते क्रम में शिक्षा को साक्षरता के साथ भ्रमित किया गया और ऐसा करते हुए यह अनदेखा किया गया है कि साक्षरता, शिक्षा के प्रभाव का मापन करने वाले मापदंडों में से मात्र एक मापदंड भर है। शायद मिशन की 'अभूतपूर्व सफलता' यही रही है कि इसने शिक्षा के इस मापदंड यानी साक्षरता को शिक्षा का पर्याय बना दिया है। इस भ्रम के कारण मीडिया और नीति-निर्धारकों के बीच शिक्षा पर चलने वाला विमर्श नकारात्मक रूप से प्रभावित हुआ है। इस भ्रम को और अधिक उलझाने में विश्व बैंक समर्थित डी.पी.ई.पी. (जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम) ने अपनी विशिष्ट भूमिका निभाई है। सौभाग्यवश गांवों और शहरी मलिन बस्तियों में रहने वाले लोगों ने भ्रमित हुए बिना अपनी आम सूझ-बूझ बरकरार रखी है और अपने बच्चों के भविष्य के सवाल पर वे शिक्षा और साक्षरता में स्पष्ट अंतर पाते हैं। संयोग से वे औपचारिकेतर शिक्षा कार्यक्रम तथा स्कूली शिक्षा के बीच भी अंतर कर पाते हैं चूंकि उनकी

दृष्टि में औपचारिकेतर शिक्षा न केवल निम्न-स्तरीय है बल्कि इसका बाल श्रम की प्रथा के साथ सह-अस्तित्व भी है यानी उसको बरकरार भी रखती है।

10. लोगों की आम सूझ-बूझ का यह उल्लेख हमें केंद्रीय प्रश्न की ओर ले जाता है : आगे क्या करना है? हाल के अनेक प्रयोगों ने यह सिद्ध किया है कि लोग आम तौर पर स्कूली शिक्षा को स्वीकारने के लिए तैयार हैं। उनको यह समझाने की कतई जरूरत नहीं है कि उनके बच्चों के लिए शिक्षा का क्या महत्व है। यदि उनके बच्चे स्कूल नहीं जा रहे तो यह या तो इसलिए है कि उस क्षेत्र में कोई भी कारगर स्कूल नहीं है (यह उन सरकारी दावों के बावजूद है जिनके अनुसार 98 प्रतिशत आबादी को बसाहट के मात्र एक किलोमीटर के अंदर प्राथमिक स्कूल उपलब्ध करा दिया गया है) या निर्धारित पाठ्यक्रम उनकी अपेक्षाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सक्षम नहीं है या शिक्षण पद्धति की गुणवत्ता इतनी निम्म-स्तरीय है कि वह बच्चों को न तो आकर्षित कर पाती है और न ही स्कूल में टिका पाती है। इस नजरिए की पुष्टि राष्ट्रीय बानगी सर्वेक्षण (1986) के निष्कर्षों से होती है।

11. आंध्र प्रदेश के रंगारेड्डी जिले और हैदराबाद-सिकंदराबाद के इन जुड़वा शहरों में हुए शैक्षिक प्रयोगों से पता चला है कि गरीब बच्चे, जिनमें बाल श्रमिक भी शामिल हैं, उत्साहपूर्वक स्कूली शिक्षा को स्वीकारते हैं, बशर्ते कि उनके इलाके में एक कारगर स्कूल हो यानी ऐसा स्कूल जहां बच्चे वास्तव में कुछ सीख पाते हैं। ऐसे स्कूलों में बच्चे बड़ी संख्या में तब भी आते हैं जब उन्हें न तो कोई वित्तीय लाभ दिया जाता है और न ही मध्याह्न भोजन। ये बच्चे वहां सिर्फ इसलिए आते हैं चूंकि वे पढ़ना-लिखना सीखना चाहते हैं। आजादी की इस पचासवीं वर्षगांठ के अवसर पर यह जरूरी है कि राष्ट्र इस चुनौती को पहचाने और अपनी ऊर्जा तथा सीमित संसाधन ऐसे कार्यक्रमों पर नष्ट न करे जो न तो सैद्धांतिक स्तर पर वैध हैं न ही व्यावहारिक।

12. हमें इस तथ्य को आत्मसात करना चाहिए कि देश के 6-14 आयु समूह के लगभग आधे बच्चे (यानी करीब नौ करोड़) स्कूल के बाहर हैं।[1] कल्पना कीजिए कि यदि वे सब बच्चे स्कूल आने का निर्णय कर लें तो क्या होगा! देश की स्कूली प्रणाली एकदम चरमरा जाएगी चूंकि उसकी इन बच्चों को स्वीकारने की कोई तैयारी नहीं है। यह भी कल्पना कीजिए कि क्या होगा यदि ये बच्चे अगले दो-तीन वर्षों तक स्कूल न जाएं—वे न केवल आज की विशाल बाल श्रमिक फौज के हिस्से बन जाएंगे बल्कि साथ-साथ अगली सदी की शुरुआत में प्रौढ़ निरक्षर भी बनेंगे। तो क्या हम तब उनको साक्षर बनाने के लिए मिशन का अभियान चलाएंगे! यह तो वैसी ही बात हुई कि हम एक तरफ से नलका खोलकर फर्श पर पोंछा लगाने की कोशिश करें। नौवीं पंचवर्षीय योजना में तो कम से कम नियोजन के नाम पर चल रहे इस फूहड़ मजाक पर हमें पूरी रोक लगा देनी चाहिए। आइए, हम अपनी पूरी ताकत बटोरकर और उद्देश्यों के प्रति स्पष्ट समझ बनाकर 'राष्ट्रीय साक्षरता मिशन' की जगह 'राष्ट्रीय प्रारंभिक शिक्षा मिशन' स्थापित करने के लिए कदम उठाएं। उल्लेखनीय

है कि 1992 में राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) को संशोधित करते हुए संसद ने 'राष्ट्रीय प्रारंभिक शिक्षा मिशन' के गठन के प्रस्ताव को स्वीकृति दे दी थी। यही वह सटीक समय है जब हम संविधान में देश के बच्चों को दिए गए वादे को पूरा कर सकते हैं।

संदर्भ और टिप्पणी

1. मानव संसाधन विकास मंत्रालय की वार्षिक रपटों एवं अन्य प्रचार सामग्री के अनुसार 1990 से आज तक प्राथमिक शाला के स्तर पर सकल दर्ज अनुपात 105 प्रतिशत रहा है. सचाई पर डाले गए इस परदे के कारण मंत्रालय ने आचार्य राममूर्ति समिति की रपट के इस कथन को मानने से इनकार कर दिया कि देश के आधे बच्चे और दो-तिहाई लड़कियां स्कूल से बाहर हैं. लेकिन विडंबना यह है कि 1997 में जब विश्व बैंक ने यह कहा कि 6-14 वर्ष के आयु समूह के 6.3 करोड़ बच्चे स्कूल से बाहर हैं तो मंत्रालय ने चुपचाप इन आंकड़ों को नियोजन का आधार बना लिया. सचाई विश्व बैंक द्वारा व्यक्त आंकड़ों से भी ज्यादा कड़वी है जिसको स्वीकारने के लिए मंत्रालय शायद विश्व बैंक की अगली रपट का इंतजार कर रहा है.

खंड तीन

शिक्षा की राजनीति

7. बस्ते का बोझ और गरीब बच्चे

बस्ते के बोझ के प्रश्न का क्या राजनीति से दूर का भी कोई रिश्ता हो सकता है? रिश्ता जरूर होगा अन्यथा इस प्रश्न पर सरकार इतना टालमटोल नहीं करती। आचार्य राममूर्ति समिति (1990) ने बस्ते के बोझ को कम करने के लिए ठोस शैक्षिक सिद्धांत पेश किए लेकिन केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने इस रपट की समीक्षा जनार्दन रेड्डी समिति से करवाई। रेड्डी समिति ने जनवरी 1992 में अपनी रपट में राममूर्ति समिति की इस अनुशंसा को खारिज करते हुए तर्क दिया कि इस संबंध में एन.सी.ई.आर.टी. ने 1988 में जारी की गई अपनी पाठ्यक्रम संबंधी रूपरेखा में सुझाव दिए हैं—अतः इन अनुशंसाओं पर अब विचार करने की जरूरत नहीं है। मंत्रालय ने रेड्डी समिति की इस अनुशंसा को स्वीकार लिया। लेकिन मंत्रालय से किसी ने यह नहीं पूछा कि यदि एन.सी.ई.आर.टी. की 1988 में दी गई यह अनुशंसा सही थी तो फिर विगत चार सालों में बस्ते का बोझ हलका क्यों नहीं हुआ? इत्तफाक से उन्हीं दिनों में राज्य सभा के एक मनोनीत सदस्य एवं प्रख्यात लेखक श्री आर.के. नारायणन ने बस्ते के भारी बोझ की बात काफी वेदना के साथ उठाई। इस नई परिस्थिति का सामना करने के लिए मंत्रालय ने तुरंत प्रो. यशपाल की अध्यक्षता में एक और समिति (मार्च 1992) का गठन करके उसे बस्ते का बोझ कम करने के तौर-तरीके सुझाने का काम सौंप दिया। जुलाई 1993 में यशपाल समिति ने अपनी सटीक रपट पेश कर दी। इससे पहले कि प्रो. यशपाल की रपट पर दस्तखत की स्याही सूख पाती कि मंत्रालय ने अपने संयुक्त सचिव श्री वाई.एन. चतुर्वेदी की अध्यक्षता में एक और समिति बनाकर उसे यशपाल समिति की अनुशंसाओं की जांच-पड़ताल का काम सौंप दिया। सरकारी विशेषज्ञों की इस समिति ने बंद कमरे में बैठकर एक महीने के अंदर अपनी रपट जारी कर दी जिसमें यशपाल समिति की अनुशंसाओं पर या तो प्रश्न खड़े किए गए या उसका दायरा सीमित करने की कोशिश की गई। चूंकि देश भर में यशपाल समिति की रपट का खुलकर स्वागत हुआ था, इसलिए मंत्रालय ने अंततः चतुर्वेदी रपट के संदर्भ में इसके क्रियान्वयन के आदेश पारित करके इसकी मानिटरिंग का काम एन.सी.ई.आर.टी. की एक समिति को सौंप दिया। दिक्कत यह है कि यह समिति किस चीज की मानिटिरिंग करेगी चूंकि यशपाल समिति को लागू करने की प्रक्रिया अभी शुरू तक नहीं हुई है। एक दिक्कत और भी है। एन.सी.ई.आर.टी. स्वयं जिम्मेदार है बोझिल पाठ्यपुस्तकें लिखवाने के लिए और उसी को मानिटिरिंग का जिम्मा सौंपा गया है!

इस मुद्दे पर अकसर यह भ्रम फैलाया जाता है कि बस्ते के बोझ का प्रश्न तो केवल शहरी मध्यम वर्ग के बच्चों का है। गांव के गरीब बच्चों के पास तो किताबें ही

मूल स्रोत : राष्ट्रीय सहारा, दिल्ली, 17 जुलाई 1993.

> नहीं होती हैं। इस भ्रम को फैलाने वाले लोग यह जरूर जानते होंगे कि असली बोझ किताबों का नहीं बल्कि पाठ्यक्रम में अपेक्षित ज्ञान का होता है। यशपाल समिति ने जिसे 'समझ का बोझ' की संज्ञा दी है। यदि गरीब बच्चों के पास किताबें खरीदने का सामर्थ्य नहीं है तो यह असली बोझ और बढ़ जाता है। बस्ते के बोझ की इस राजनीति को समझने के लिए नीचे प्रस्तुत लेख उपयोगी होगा।

यशपाल समिति की एक अनौपचारिक बैठक में अपने विचार प्रकट करते हुए मैंने व्यंग्यात्मक लहजे में कहा था कि आप लोग बिलावजह इतनी मेहनत कर रहे हैं। रपट में इतना भर लिख दें तो काफी होगा :

> एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा सन् 1988 में तैयार की गई राष्ट्रीय पाठ्यक्रम की संरचना में वे सब अनुशंसाएं की जा चुकी हैं जिनसे बच्चों को बस्ते के बोझ से मुक्त शिक्षा दी जा सकती है। अतः हमें और कुछ करने की जरूरत नहीं है।

मैंने भले ही यह सुझाव व्यंग्य में दिया था, लेकिन फिर भी वह आधारहीन नहीं था। जब मार्च 1992 में मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने यशपाल समिति का गठन किया था, ठीक उन्हीं दिनों केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने जनार्दन रेड्डी समिति की रपट भी स्वीकारी थी।

नरसिंह राव सरकार के गठन के बाद इसी बोर्ड के द्वारा 'रेड्डी समिति' का गठन किया गया था। इसका उद्देश्य पूर्व में बनी 'आचार्य राममूर्ति समिति' की अनुशंसाओं को लागू करने की संभावनाओं का पता लगाना था। आचार्य राममूर्ति समिति ने बस्ते के बोझ से मुक्त शिक्षा वाला पाठ्यक्रम तैयार करने, उसकी पाठ्य सामग्री बनाने और उसके लिए अन्य सभी तैयारियां करने हेतु आवश्यक सिद्धांत दिसंबर 1990 में अपनी रपट में शामिल किए थे। रेड्डी समिति (जनवरी 1992) ने इन सिद्धांतों की जरूरतों को नकारते हुए दावा किया था कि इस मामले में जो कुछ भी किए जाने की बात है वह सब 1988 में देश में शिक्षा की सर्वोच्च एजेंसी यानी एन.सी.ई.आर.टी. लिख चुकी है और जिसे रेड्डी समिति के मार्फत 1992 में केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड की स्वीकृति भी मिल चुकी है। उसी काम को एक बार फिर करने के लिए मार्च 1992 में यशपाल समिति बनाई जाती है। देश के संसाधनों और विद्वतजनों की ऊर्जा के साथ यह तमाशा क्यों किया जाता है, हमें यह समझना होगा। कहानी यहीं खत्म नहीं होती है। यशपाल समिति की रपट जुलाई 1993 में मानव संसाधन विकास मंत्री को प्रस्तुत की गई और उसके लगभग एक माह बाद उसी मंत्रालय द्वारा श्री वाई.एन. चतुर्वेदी (मंत्रालय के अपर सचिव) की अध्यक्षता में एक और समिति का गठन करके उसे 'यशपाल समिति' की अनुशंसाओं के क्रियान्वयन की संभावनाओं का पता लगाने का काम सौंपा गया। अभी यशपाल समिति रपट पर देश भर में विचार-विमर्श का सिलसिला शुरू हुआ ही था और उसको व्यापक समर्थन मिल रहा था कि मंत्रालय की

'चतुर्वेदी समिति' ने 'यशपाल समिति' की प्रमुख अनुशंसाओं की व्यावहारिकता पर या तो प्रश्न खड़े कर दिए या उनका दायरा सीमित करने के सुझाव दिए।

शिक्षा से जुड़े कई लोग इस पूरी प्रक्रिया को नौकरशाही या लालफीताशाही के मत्थे मढ़कर चैन की सांस ले लेते हैं। उनके लिए यह स्वीकारना असंभव सा है कि इस प्रक्रिया के पीछे एक सोची-समझी राजनीति है, जिसका सरकारों के बदलने या मंत्रियों और सचिवों के आने-जाने से कोई संबंध नहीं रहता है। इस राजनीति को समझने के लिए हमें समाज की उन ताकतों पर गौर करना होगा जिनके हाथ में सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था की बागडोर है। ये कौन सी ताकतें हैं और इनके निहित स्वार्थ क्या हैं? इन प्रश्नों से जूझे बगैर शिक्षा की वर्तमान दयनीय हालत और उसको सुधारने की संकल्प शक्ति के अभाव को समझना संभव नहीं है।

बस्ते को बोझिल बनाए रखने से किसका हित पूरा होता है? इसे तभी समझा जा सकता है, जब हम यह जानें कि बोझिल शिक्षा सबसे ज्यादा किसको नुकसान पहुंचाती है। उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार आज भी देश के आधे बच्चे या तो स्कूल के बाहर हैं या तीसरी कक्षा के बाद स्कूल छोड़ देते हैं। कई बच्चे तो स्कूल जाते ही नहीं, उनके नाम भर रजिस्टर में दर्ज रहते हैं। समाजशास्त्री स्कूल छोड़ने की इस प्रवृत्ति का मुख्य कारण गरीबी में देखते हैं। इस मामले में एक दिलचस्प अध्ययन राष्ट्रीय सैंपल सर्वेक्षण संस्थान द्वारा 1986 में जारी किया गया, जिससे यह पता चला कि आधे से अधिक बच्चे जो स्कूल छोड़ देते हैं उसका कारण गरीबी नहीं, वरन स्कूली शिक्षा का उबाऊपन, नीरस पाठ्यक्रम और भयावह परीक्षा-प्रणाली है। यदि हमारे स्कूल आकर्षक, मजेदार और बच्चों के लिए प्रेरणादायक बन जाते हैं, तो क्या अधिकांश गरीब बच्चे भी किसी प्रकार स्कूल आने का मन नहीं बना लेंगे? पर कौन चाहता है कि देश के सभी बच्चे स्कूल जाएं और शिक्षित नागरिक बनें?

हमारे संविधान में 1960 तक चौदह वर्ष की उम्र तक के सभी बच्चों को शिक्षा उपलब्ध कराने का संकल्प है। उसके 34 वर्ष बाद भी यह संकल्प पूरा होने की कोई संभावना नजर नहीं आती। पर क्या कभी संसद में इसको लेकर कोई हंगामा हुआ? क्या कभी किसी राजनीतिक दल ने चुनावी अभियान में इसको अपना प्रमुख मुद्दा बनाया? समाज का अभिजात वर्ग, जो इस समय राजनीतिक व्यवस्था पर नियंत्रण किए हुए है और मध्यम वर्ग जो चालू व्यवस्था का अधिक से अधिक लाभ उठाने की कोशिश में है, क्यों चाहेगा कि गरीब बच्चे स्कूल में आएं? सचाई तो यह है कि गरीब बच्चे जितना अधिक शिक्षित होंगे, उसी अनुपात में अभिजात तथा मध्यम वर्ग की ताकत में कमी आएगी। दूसरे शब्दों में, स्कूली शिक्षा प्राप्त करके गरीब बच्चे आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था में और अधिक हिस्सेदारी मांगेंगे और यह अतिरिक्त हिस्सा उन्हें आखिर मिलेगा कहां से? स्कूली शिक्षा गरीब वर्ग के बच्चों की आकांक्षाओं और सपनों को निश्चित रूप से आगे बढ़ाएगी। इनकी पूर्ति के लिए ये बच्चे युवा होने पर मांग करेंगे, राजनीतिक दबाव बनाएंगे, आंदोलन भी करेंगे। आज का

अभिजात और मध्यम वर्ग चेतन या अवचेतन में स्कूली शिक्षा और गरीब वर्ग की बढ़ती आकांक्षाओं को बखूबी समझता है। इसीलिए कोई भी ऐसा कदम जो स्कूल को आकर्षक, मजेदार और भयमुक्त बनाए, उसमें इन वर्गों की कोई रुचि नहीं हो सकती।

बोझिल, उबाऊ और भयावह शिक्षा होगी तो अभिजात तथा मध्यम वर्ग के बच्चे अपनी समृद्ध पृष्ठभूमि के कारण किसी न किसी प्रकार उसका सामना कर ही लेंगे। पढ़े-लिखे मां-बाप उनका होमवर्क कर देंगे, ट्यूशन लगा देंगे, कोचिंग सेंटर्स में भेज देंगे, महंगी और सुंदर किताबें उपलब्ध करा देंगे। इन सब सुविधाओं का मुकाबला गरीब बच्चा कैसे कर सकता है? घर के तंग भौतिक हालात पढ़ाई-लिखाई की सुविधा तो दे नहीं सकते, शायद अनुकूल माहौल भी नहीं बना सकते। घर के लिए कंडे बीनना, छोटे भाई-बहनों की देखरेख करना, पानी लाना और शायद कमाना भी उनके लिए आवश्यक है। इस वर्ग के बच्चे और उनके मां-बाप ऐसी असहाय स्थितियों में स्कूली शिक्षा के लिए जूझना भी चाहें तो कैसे जूझें? और यदि वे जूझने का साहस किसी प्रकार जुटा भी लें तो बोझिल पाठ्यक्रम, जीवन से कटी शिक्षा प्रणाली, बच्चों को फेल करने पर उतारू परीक्षा व्यवस्था, मेहनतकश संस्कृति का मखौल उड़ाती पाठ्यक्रम की प्रकृति, बाल केंद्रित शिक्षा के स्थान पर शारीरिक दंड के सहारे तथाकथित ज्ञान थोपने का शैक्षिक सिद्धांत आदि ऐसे अनेक कारक हैं जो बच्चों को स्कूल छोड़ने पर मजबूर कर देते हैं।

कोठारी आयोग से लेकर आज तक बनी दर्जनों समितियों और उनके ऊपर बनी समीक्षा समितियों ने भारत की शिक्षा को गरीब वर्ग के लिए सहज और संभव बनाने की बार-बार दुहाई दी, लेकिन आज तक ऐसी तमाम अनुशंसाओं की उपेक्षा की गई है। उदाहरण के लिए, 1966 में समान स्कूल व्यवस्था (कॉमन स्कूल सिस्टम)[1] स्थापित करने की कोठारी आयोग ने जोरदार वकालत की। समान स्कूल व्यवस्था एक ऐसा कारगर औजार है जो चौदह वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों को शिक्षा उपलब्ध कराने का संविधान निर्माताओं द्वारा देखा गया सपना पूरा करा सकता था। अगर समान स्कूल व्यवस्था भारतीय शिक्षा का एकमात्र आधार बन जाती तो अभिजात वर्ग की सत्ता को पोषित करने वाले पब्लिक और अन्य समृद्ध स्कूलों की भूमिका ही समाप्त हो जाती। दोहरी शिक्षा प्रणाली को खत्म करना तो दूर उसकी जगह सैनिक स्कूल, केंद्रीय विद्यालय, नवोदय विद्यालय आदि शुरू करके शिक्षा पर तीसरी, चौथी और अन्य कई परतें चढ़ाई गईं। हर परत ने समाज में उभरते हुए किसी न किसी अतिरिक्त वर्ग के बच्चों के लिए अभिजात वर्ग की संस्कृति वाले स्कूल उपलब्ध कराए और इस प्रकार इन वर्गों को भी राजनीतिक रूप से संतुष्ट किया गया।

यदि नवोदय विद्यालय शुरू नहीं किए जाते, तो ग्रामीण क्षेत्रों में नई कृषि तकनीक की बदौलत उभरा नवधनाढ्य वर्ग पब्लिक स्कूलों के खिलाफ जेहाद छेड़ देता, क्योंकि उसकी पहुंच वहां तक नहीं थी। नवोदय विद्यालय एक ऐसा लॉलीपॉप बना, जिसने ग्रामीण इलाके के नवधनाढ्य वर्ग और वहां कार्यरत स्थानीय नौकरशाही को यह अहसास कराया कि उसके बच्चे भी अभिजात वर्ग की सुविधाओं की कतार में खड़े तो जरूर हो सकते हैं, भले ही

पब्लिक स्कूलों में न पहुंच पाएं। वे आई.ए.एस. अथवा बहुराष्ट्रीय कंपनियों के अधिकारी चाहे न बन पाएं लेकिन नवोदय विद्यालय इन तबकों के बच्चों के लिए तहसीलदार, थानेदार, स्थानीय कालेजों के लेक्चरार जैसे पदों के दरवाजे तो खोल ही देता है।

मुद्दा चाहे मातृभाषा में प्राथमिक शिक्षा देने का हो या शिक्षा को काम से जोड़ने का या पूर्व प्राइमरी शिक्षा को सहज और सुलभ बनाने का अथवा स्कूली शिक्षा को बाल केंद्रित बनाने का या वर्तमान परीक्षा प्रणाली की जगह बच्चों की समग्र क्षमता नापने की एक साफ-सुथरी मूल्यांकन व्यवस्था खड़ी करने का या फिर शिक्षा को विकेंद्रित करके जन-भागीदारी बढ़ाने का हो—समाज पर हावी वर्ग इतना सचेत है कि इस ओर बढ़ने का कोई भी कदम वह कुंद कर सकता है। शायद इसीलिए प्रो. यशपाल को समिति की रपट के साथ तत्कालीन मानव संसाधन विकास मंत्री श्री अर्जुन सिंह को भेजे गए पत्र में यह लिखना पड़ा—'मैं अपने आपको यह समझाने में असमर्थ महसूस कर रहा था कि हमारी स्कूली शिक्षा की स्थिति एक स्वंतत्र कारक की है और हमारी सामाजिक संरचना की बहुत सी चीजों को बदले बगैर उस स्थिति को बदला जा सकता है।' इसके बावजूद यशपाल समिति ने अनेक ऐसे प्रश्न खड़े किए हैं जिसने देश के आम नागरिक के मन में उठ रही तरंगों के साथ मिलकर एक तूफान खड़ा करने का माहौल बनाया है। शायद अन्य तरीकों के साथ शैक्षिक व्यवस्था को गरीब वर्ग के अनुकूल बनाने के प्रयास में एक के बाद एक ऐसे कई तूफान खड़े करने होंगे।

संदर्भ और टिप्पणी

1. कोठारी शिक्षा आयोग (1964-66) ने समान स्कूल व्यवस्था (कॉमन स्कूल सिस्टम) की अनुशंसा करते हुए कहा था कि यह एक ऐसी व्यवस्था होगी जो सभी बच्चों को बिना किसी भेदभाव के समान गुणवत्ता वाली शिक्षा सुलभ करा पाएगी. इस व्यवस्था की ओर बढ़ने के लिए आयोग ने पड़ोसी स्कूल को एक ऐसे औजार के रूप में प्रस्तुत किया था जो सामाजिक अलगाव को कम करने में मददगार होगा. इस अनुशंसा को संसद द्वारा पारित पहली राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1968), दूसरी शिक्षा नीति (1986) और संशोधित शिक्षा नीति (1992) में तीन बार स्वीकारा गया, लेकिन सरकार द्वारा उठाए गए कई कदम अलग-अलग सामाजिक तबकों के लिए अलग-अलग प्रकार की स्कूल व्यवस्थाएं खड़ी करके समान स्कूल व्यवस्था का उल्लंघन करते रहे.

8. पाठ्यपुस्तकों की राजनीति

नब्बे के दशक की शुरुआत में जब प्रादेशिक स्तर पर उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) की सरकारें बनीं तो कई लोगों ने यह मत व्यक्त किया कि अब शिक्षा का स्वरूप तुरत-फुरत बदल दिया जाएगा। उनका यह सोच निराधार नहीं था चूंकि भारतीय जनता पार्टी एक लंबे अरसे से शिक्षा के क्षेत्र में अपनी सुव्यवस्थित तथा दीर्घकालीन विचारधारा विकसित कर रही थी। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने इस काम के लिए औपचारिक ढांचे खड़े किए थे और अपनी विचारधारा के जमीनी परीक्षण हेतु अपना एक व्यापक स्कूली तंत्र—सरस्वती शिशु मंदिर—भी खड़ा कर लिया था। इस तंत्र ने अपनी पाठ्यपुस्तकें और पाठ्यक्रम भी तैयार कर रखे थे। इसलिए दोनों प्रदेशों में परिवर्तन के ये कदम जल्द ही उठा लिए गए। संघ परिवार की दृष्टि में ये कदम हिंदुत्व के पक्ष में जनमानस खड़ा करने के लिए अनिवार्य थे। मध्य प्रदेश में ऐसी ही कुछ प्रक्रियाओं का विवरण नीचे दिया गया है। लेकिन इस लेख में यह भी स्पष्ट किया गया है कि भाजपा सरकार से पहले की कांग्रेस सरकारों ने भी अपनी ही दृष्टि से पाठ्यक्रम की रचना करवाई थी। इसलिए शिक्षा की इस राजनीतिक दृष्टि को समझना हम सबके लिए बेहद जरूरी है।

राजसत्ता (राज्य) ने हमेशा शिक्षा व्यवस्था का उपयोग अपनी नीति और प्रभाव क्षेत्र को आगे बढ़ाने एवं अपनी सत्ता को बरकरार रखने के लिए किया है। यह बात भारत में आजादी के पहले भी उतनी ही सच थी जितनी कि आजादी के बाद रही है। पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकों तथा इनको संप्रेषित करने के लिए शिक्षण पद्धति, शिक्षक प्रशिक्षण, शिक्षा प्रशासन, परीक्षा प्रणाली और स्कूली माहौल की कल्पना भी राजसत्ता के औजारों के रूप में की जाती रही है। विगत पैंतालीस वर्षों में यह अवधारणा शिक्षा के इन विभिन्न अवयवों में किस प्रकार झलकती रही है, इसका जिक्र संक्षेप में बाद में किया जाएगा। केंद्र और राज्यों में जिस राजनीतिक पार्टी के हाथ में सत्ता रही उसने अपनी विशिष्ट राजनीति और रुझान को दृष्टिगत रखते हुए शिक्षा के इन विभिन्न अवयवों को प्रभावित करने की भरसक कोशिश की है। उदाहरण के लिए, कांग्रेसी शासन के तहत तैयार की गई इतिहास की पाठ्यपुस्तकों में स्वाधीनता संग्राम में कांग्रेस पार्टी की भूमिका को अतिरंजित महत्व दिया गया और क्रांतिकारी धाराओं की उपेक्षा की गई। सत्तर के दशक में जिस तरह हिंदी की पाठ्यपुस्तकों में स्वर्गीय श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा उनके बचपन में स्वाधीनता संग्राम के दौरान गठित 'वानर सेना' पर कहानियां-कविताएं जोड़ी गईं और शहीद भगतसिंह और

मूल स्रोत : *हंस*, सितंबर 1993, में प्रकाशित आलेख का संशोधित रूप.

खुदीराम बोस से जुड़े अंश निकाले गए, उससे तो मध्ययुगीन राजदरबारों की चाटुकारिता भी फीकी पड़ जाती है।

इसी क्रम में विगत दो-तीन वर्षों के दौरान भाजपा प्रशासन के तहत उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में व्यवस्थित परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू की गई। कांग्रेसी और भाजपाई प्रशासनों के इन प्रयासों के बीच कुछ उल्लेखनीय अंतरों को समझना जरूरी है। पहला, भाजपाई प्रयासों के पीछे संघ परिवार के बौद्धिक संस्थानों एवं शिक्षक तथा विद्यार्थी संगठनों द्वारा की गई लंबी तैयारी थी और एक स्पष्ट ऐतिहासिक-सांस्कृतिक चिंतन था जो उसकी राजनीति को सींचता था। संघ परिवार के सरस्वती शिशु मंदिरों के व्यापक तंत्र में इस समझ पर आधारित शिक्षा संबंधी कल्पना को मूर्त रूप देकर दशकों से परखा गया था। इसकी तुलना में कांग्रेस पार्टी के पास केवल एक सतही और अकसर विरोधाभासों से भरी हुई समझ थी और वह भी बिना परखी हुई। दूसरा, भाजपाई प्रयास में स्वाधीनता संग्राम से विरासत में प्राप्त भारत की मिली-जुली संस्कृति और विविधता की समग्र दृष्टि के प्रति कोई लगाव नहीं था, बल्कि उसकी जगह इतिहास और समाजविज्ञान की अन्य शाखाओं को अपने राजनीतिक चश्मे से विकृत करने की उनकी दृष्टि ही प्रधान रही है। तीसरा, कांग्रेसी शासन के तहत इतिहास और समाज को देखने के वैज्ञानिक और धर्मनिरपेक्ष (पंथ निरपेक्ष) नजरिए को आम तौर पर समर्थन मिलता रहा, चाहे वह कितना ही ढुलमुल और आंतरिक विरोधाभासों से भरा हुआ क्यों न रहा हो। इसकी तुलना में भाजपाई प्रयासों में इस दृष्टिकोण को दरकिनार कर देने की एक सोची-समझी प्रक्रिया रही है।

उत्तर प्रदेश के अल्पकालीन भाजपा प्रशासन के तहत जिन शैक्षिक परिवर्तनों की शुरुआत की गई उनमें संघ परिवार के शैक्षिक चिंतन को परिभाषित करने वाले निम्नलिखित छह बिंदु पहचाने जा सकते हैं :

1. भारतीय उपमहाद्वीप के बाहर से आए हुए सभी प्रकार के लोगों को हमेशा 'विदेशी' के रूप में प्रस्तुत करना, चाहे वे इस उपमहाद्वीप में दो हजार वर्षों से भी अधिक समय से बसे हुए क्यों न हों।
2. हिंदू संस्कृति को एक विशुद्ध संस्कृति के रूप में देखना जिसमें और किसी भी संस्कृति के मिलने को 'मिलावट' मानकर चलना। यानी इस दृष्टि में संस्कृति एक अपरिर्वतनशील और जड़ अवधारणा है जिसका सामाजिक और आर्थिक हालात से कोई जीवंत रिश्ता नहीं है। यदि यह रिश्ता स्वीकार लिया जाता है तो फिर अपरिवर्तनशील हिंदू संस्कृति की अवधारणा धराशायी हो जाती है चूंकि हालात तो बदलते रहते हैं।
3. उपरोक्त सोच से संघ परिवार की जीवन मूल्यों के बारे में भी दृष्टि उभरती है चूंकि उनके अनुसार मूल्य समाज के यथार्थमय हालात से नहीं बल्कि किसी आध्यात्मिक शून्य से निकलते हैं—मूल्यों को यथार्थ से काटकर देखना इस पलायनवादी सोच के लिए जरूरी हो जाता है।[1]

4. भारत की ब्राह्मणवादी, पुरुषवादी एवं वर्चस्वपूर्ण संस्कृति को हिंदू संस्कृति का पर्याय मान लिया गया है। इस भ्रांतिपूर्ण दृष्टि के तहत भारत की वैविध्यपूर्ण और समृद्ध सांस्कृतिक विरासत को नकारने के लिए 'हिंदुत्व' की अवधारणा खोजी गई है। इस अ-ऐतिहासिक सोच को जिंदा रखने के लिए भारत की मिली-जुली सांस्कृतिक विरासत को नकारकर 'हिंदुत्व' के वर्चस्व वाले समकालीन भारत की कल्पना करना जरूरी हो गया है।
5. सांस्कृतिक चिंतन के उपरोक्त खाके में भारतीय इतिहास और संस्कृति के निर्माण में किसी भी गैर-ब्राह्मणवादी, गैर-पुरुषवादी और गैर-वर्चस्वपूर्ण परंपरा के लिए कोई गुंजाइश नहीं बचती। इसी सोच का परिणाम है कि संघ परिवार आदिवासियों को इस उपमहाद्वीप का मूल निवासी मानने से इनकार करता है और समकालीन भारत के निर्माण में उनके योगदान को व्यवस्थित रूप से नकारता है।[2] इसी प्रकार भारत के उत्तर-पूर्व और अन्य कई अंचलों की विविध जनजातियां सांस्कृतिक हाशिए पर धकेल दी जाती हैं। इस सोच के तहत आजादी की लड़ाई में भी हिंदुओं के अलावा अन्य संप्रदायों एवं आदिवासियों के योगदान को दरकिनार करना अनिवार्य हो जाता है। दरअसल, हिंदू कट्टरपंथी ताकतों ने भारतीय स्वाधीनता संग्राम को भी हिंदू धर्म की रक्षा के संग्राम का संकीर्ण जामा पहनाने की निरंतर लेकिन असफल कोशिश की है।
6. हिंदुत्ववादी चिंतन में वर्ग विश्लेषण के लिए कोई स्थान नहीं है चूंकि यह विश्लेषण भारतीय समाज के सामाजिक अंतर्द्वंद्वों को उभार देता है और उनके वैज्ञानिक समाधान की मांग करता है। इस सोच के तहत यह आवश्यक है कि इतिहास को समाज के उत्पादक कर्म से काटकर देखा जाए। मूल्यों के बारे में पलायनवादी नजरिया भी इस विश्लेषण पद्धति को नकारने का परिणाम है। अतः इतिहास भी आम लोगों के जीवन से कटकर राजा-महाराजाओं एवं अन्य वर्चस्वपूर्ण तबकों का गैर-यथार्थवादी इतिहास बन जाता है।

मध्य प्रदेश में विश्वविद्यालय स्तर पर मध्य प्रदेश उच्च शिक्षा अनुदान आयोग के तत्वाधान में पिछले वर्ष प्रकाशित *भारत की सांस्कृतिक विरासत* नामक पाठ्यपुस्तक[3] को उत्तर प्रदेश में किए गए परिवर्तनों की उपरोक्त पृष्ठभूमि से जोड़कर समझना आसान होगा। यह पाठ्यपुस्तक मध्य प्रदेश के ग्यारह विश्वविद्यालयों और उनसे संबद्ध कालेजों में प्रत्येक विषय के प्रथम वर्ष के विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य आधार-पाठ्यक्रम (फाउंडेशन कोर्स) की पाठ्यपुस्तक है। चूंकि इसमें दस विभिन्न लेखकों का योगदान है अतः दृष्टिकोणों में स्वाभाविक अंतर भी हैं। परंतु शुरू से अंत तक लेख विद्यार्थियों को जिस दिशा में ले जाने की कोशिश करते हैं वह हूबहू वही है जिधर उत्तर प्रदेश में किए गए परिवर्तन ले जाते हैं। इन लेखों में भी तथ्यों को विकृत करके या जानकारी को छिपाकर उत्तर प्रदेश के परिवर्तनों को अभिप्रेरित करने वाली उपरोक्त छह मान्यताओं/प्रवृत्तियों को स्थापित करने की चेष्टा स्पष्ट

नजर आती है। परंतु इस कोशिश में कई लेखों में अनेक विरोधाभासी कथन, हास्यास्पद अवधारणाएं और समाज के विभिन्न जनसमूहों और यहां तक कि पड़ोसी देशों के प्रति भी खतरनाक विचार उभरते हैं। उदाहरण के लिए, पुस्तक की प्रस्तावना के अनुसार 'भारतीय संस्कृति संसार की सर्वाधिक प्राचीन और समृद्ध संस्कृति है'। किंतु पहले लेख में ही लेखिका का कथन (पृ. 2) 'भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है', प्रस्तावना के पहले वाक्य का समर्थन नहीं करता। लेखिका का अगला वाक्य ही दावा करता है कि 'यह विश्व की श्रेष्ठतम संस्कृतियों में भी एक है', हालांकि यह कहते हुए इसकी कोई जरूरत नहीं समझी गई कि साथ में 'श्रेष्ठतम' की कोई मान्य कसौटी और परिभाषा पेश करके विद्यार्थियों में एक वैज्ञानिक समझ प्रतिपादित की जाए, यानी पाठ्य सामग्री को पान की दुकान की गपशप के स्तर से आगे बढ़ाया जाए। इतना दावा भी शायद विद्यार्थियों में एक छद्म गौरव का अहसास बनाने के लिए पर्याप्त नहीं लगा होगा, अतः लेखिका ने अगले पृष्ठ पर यह जोड़ दिया कि 'भारत भूमि आदिमानव की प्राचीनतम कर्मभूमि रही है'। यहां भी कोई तथ्यात्मक आधार देना जरूरी नहीं समझा गया और साथ-साथ अफ्रीका और विश्व के अन्य क्षेत्रों में प्राप्त आदिमानव के प्रमाणों का जिक्र तक करना उचित नहीं समझा गया। इसी कोशिश में यह भी कह दिया गया कि 'भारतीयों की मूल भाषा संस्कृत है'[4], जबकि अगले लेख में (पृ. 19-20) लेखक अंततः स्वीकारता है कि द्रविड़ लोग भी भारत के मूल निवासी थे और उनका 'निवास भारत में हजारों वर्षों पूर्व से हुआ था'। यही बात पूर्वोत्तर और मध्य भारत के विभिन्न आदिवासी जनसमूहों के बारे में भी यह लेख कहता है।

पुस्तक के कई लेखों में भारतीय संस्कृति की विशेषताओं का जिक्र करते हुए इस बात पर विशेष जोर है कि 'विश्व की अन्य प्राचीन संस्कृतियां लुप्त हो गईं, किंतु भारतीय संस्कृति अनेक उतार-चढ़ावों के बाद आज भी उसी रूप में अपना अस्तित्व बनाए हुए है' (पृ. 2)। इस बात को दोहराते हुए कभी चीन का उल्लेख तक नहीं किया जाता जिसके बारे में इसी ढंग की बात उतनी ही आस्था के साथ कही जा सकती है। इसी क्रम में यह भी दोहराया गया कि भारतीय संस्कृति के 'मूल स्वरूप का दीर्घजीवी होना' उसके अस्तित्व के बने रहने का प्रमुख आधार है। किंतु साथ-साथ यह भी कहा गया कि हमारी संस्कृति का एक विशिष्ट गुण उसका लचीलापन है और 'अपने लचीलेपन के कारण स्वयं को सुरक्षित बनाए हुए है' (पृ. 128) एवं 'इसी लोच ने भारतीय संस्कृति को दीर्घायु और स्थायित्व भी प्रदान किया है' (पृ. 4)। इस तरह के विवरणों में जो विरोधाभास उभरते हैं उनका विश्लेषण करने या उनकी व्याख्या पेश करने की कोई कोशिश पुस्तक में नहीं दिखती। एक ही सांस में 'भारतीयों ने अपना धर्म, अपना दर्शन, अपने रीति-रिवाज नहीं छोड़े' और 'विदेशी शासक ही भारतीय रंग में रंग गए' जैसे कथन देने और इसके विपरीत भाव वाली बात, 'भारत के अधिसंख्य मुसलिम और ईसाई मूलतः भारत भूमि के ही निवासी (भूतपूर्व हिंदू) हैं' (पृ. 5) कह देने में लेखकों को कोई हिचक नहीं होती। एक ओर 'मूल अस्तित्व' के दीर्घजीवी होने का दावा और दूसरी ओर मध्य काल में मुसलिम हस्तक्षेप के फलस्वरूप

'गुण-कर्म मूलक वर्ण व्यवस्था के स्थान पर जाति प्रथा का विस्तार' होने की बात करना और 'धर्म के नाम पर किए जाने वाले कर्मकांडों (के कारण) भारतीय समाज में व्याप्त सामूहिकता एवं लोक कल्याण की भावना पर आधारित समाज संरचना (के) क्षत-विक्षत' हो जाने की भी बात करना (पृ. 42-43), पुस्तक को हास्यास्पद बना देता है।

अपनी संस्कृति का अतिशय स्तुतिगान करने वाले ये लेख कितनी उथली जानकारी पर आधारित हैं इसके लिए यह उदाहरण काफी होगा। एक लेख कहता है 'राम, कृष्ण, शिव, पीपल, नदी, सूर्य तथा अन्य प्राकृतिक देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना का क्रम कम से कम पांच हजार साल से सतत चला आ रहा है' (पृ. 3)। यानी राम और कृष्ण की पूजा ऋग्वेद की रचना (काल—1500 से 1000 वर्ष ईसा पूर्व) से भी पहले से चली आ रही है! राम भक्तों के लिए तो यह एक नई खोज है ही किंतु वे यह जानकर आश्चर्यचकित तो जरूर होंगे कि राम और कृष्ण जैसे व्यक्तित्व इस इतिहास लेखन के फलस्वरूप 'प्राकृतिक देवी-देवताओं' की श्रेणी में चले गए हैं।

भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए भारत की भौगोलिक अवधारणा के साथ भी खेल-खिलवाड़ करने में इस पुस्तक में कोई संयम नहीं बरता गया है। हमारी उत्तरी सीमा से लगे पड़ोसी देशों की सूची में से नेपाल और भूटान गायब हैं, शायद इसलिए चूंकि हिमालय के हमारे पर्वतीय क्षेत्रों की सूची में 'कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, नेपाल, सिक्किम और भूटान' रखे गए हैं (पृ. 7-8)। भौगोलिक अवधारणा को गड्डमड्ड करने के लिए एक विशेष तकनीक का उपयोग किया गया है—भारत के भूगोल की बात करते-करते '1947 से पूर्व का भारत' की बात शुरू कर दी गई और इससे मिली छूट का फायदा उठाकर लेखक ने एवरेस्ट, खैबर और बोलन दर्रे, हिंदुकुश और कराकोरम पर्वत श्रेणियों आदि का जिक्र इस प्रकार किया कि विद्यार्थी यह फैसला ही न कर पाए कि भारत कहां शुरू होता है और कहां खत्म। पृष्ठ 22 पर भारत के आदिवासियों का उल्लेख करते हुए उत्तर-पश्चिम सीमांत और उसकी पख्तून जनजाति को भारत का भ्रांतिपूर्ण ढंग से हिस्सा बताने की कुचेष्टा है। दरअसल, इन लेखों में बरते गए 'संयम' की दाद देनी पड़ेगी चूंकि सरस्वती शिशु मंदिर और संघ परिवार के अन्य बौद्धिक संस्थानों के प्रकाशनों में तो बर्मा, श्रीलंका, तिब्बत, बंगलादेश, नेपाल और भूटान तक को 'गौरवशाली भारत' का अंग बताया जाता है।

पुस्तक किस भारत की बात कर रही है, इसको लेकर निरंतर एक भ्रम बना रहता है। उदाहरण के लिए, 'सारे भारत को चंद्रगुप्त और चाणक्य ने राजनीतिक रूप से एक राज्य के रूप में जोड़ा' (पृ. 13)। अगले वाक्य में पुस्तक कहती है, 'सम्राट अशोक का भारत आज के विभाजित भारत से बड़ा था' और 'हजारों वर्षों से सांस्कृतिक भारत एक राष्ट्र के रूप में विश्व भर में प्रतिष्ठित रहा है।' भारत की सीमाओं के बारे में भ्रम फैलाते-फैलाते पुस्तक अंततः राष्ट्र की मान्य परिभाषा को भी भ्रम के दायरे में ला खड़ा करती है। यह भ्रम और गहरा जाता है जब पुस्तक दावा करती है कि 'भारत सदियों से एक भौगोलिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इकाई रहा है' (पृ. 6)। राजनीतिक इकाई होने के दावे को पुस्तक

स्वयं ही कई स्थानों पर झुठलाती जाती है जब वह इतिहास में इस इकाई के कई राज्यों में बंटे होने और इस इकाई की भौगोलिक सीमा के बदलते रहने का उल्लेख करती है।

शायद इस पुस्तक का सबसे आपत्तिजनक अंश वह है जहां यह स्थापित करने की कोशिश की गई है कि 'भारत ही आर्यों का मूल निवास स्थान है' (पृ. 19)। चूंकि वर्तमान राजनीति में छद्म राष्ट्रवाद की विचारधारा के लिए आर्यों को 'भारत की सांस्कृतिक धरोहर के आधार स्तंभ' और देश की 'श्रेष्ठतम नस्ल' के रूप में प्रतिपादित करना जरूरी दिख रहा है, अतः उक्त पुस्तक में आधे-अधूरे उद्धरणों को देने और विवादास्पद प्रमाणों को बिना आकलन के पेश करने की तकनीक का सहारा लिया गया है (पृ. 15-19)। विशेष आपत्ति इस बात पर है कि लेखक ने इतिहासकार प्रो. रोमिला थापर के एक चर्चित निबंध[5] को अपनी सहूलियत के अनुसार काट-छांटकर उद्धृत किया है। प्रो. रोमिला थापर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि आर्य किसी नस्ल का नाम नहीं था, वरन एक भाषा समूह का नाम था और इन भाषाओं को बोलने वाले लोगों को आर्य कहा जाने लगा है। अतः यह कतई जरूरी नहीं कि ये लोग किसी एक विशिष्ट नस्ल के हों। वे आगे स्थापित करती हैं कि आर्य नस्ल की अवधारणा यूरोपीय पूर्वग्रहों और अतिरंजित कल्पना का परिणाम है। इस नस्ली पूर्वग्रह के सहारे ही 19वीं सदी के यूरोप में यूरोपीय अभिजात तबकों ने नस्ली विशुद्धता और श्रेष्ठता का दावा किया और बाद में यहूदियों के खिलाफ माहौल बनाया। भारतीय संदर्भ में भी उच्च वर्णों की विशुद्धता और श्रेष्ठता साबित करने के लिए यह नस्ली पूर्वग्रह उपयोगी सिद्ध हुआ है। वे अपने एक लेख में विस्तृत तर्कों और प्रमाणों का विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए कहती हैं कि 'संभव यही है कि ऐसे आर्यभाषी समूह थे जो ईरान से (प्राचीन भारतीय उपमहाद्वीप के) उत्तर-पश्चिम में आकर बस गए और वहां की आबादी और संस्कृति में घुलमिल गए। और धीरे-धीरे सदियों तक (उनकी) भाषा, प्राचीन इंडो-आर्यन, विकसित होती रही और फिर पंजाब और अफगानिस्तान से फैलकर. . . . गंगा की घाटी में पहुंची'।[6]

इसी निबंध में प्रो. रोमिला थापर ने निष्कर्ष स्वरूप कहा है कि 'उपलब्ध प्रमाण न तो आर्यों के बारे में नस्लवादी धारणा का समर्थन करते हैं, न ही भारत पर आर्यों द्वारा आक्रमण किए जाने की धारणा का और इस धारणा का भी नहीं कि आर्य भारत के मूल निवासी थे'। ऊपर जब हमने यह कहा था कि भाजपाई प्रशासन में किए जा रहे परिवर्तनों के तहत वैज्ञानिक दृष्टि को दबाया जा रहा है उसकी इससे बेहतर मिसाल क्या हो सकती है कि इतने स्पष्ट तर्कों और निष्कर्षों के बावजूद प्रो. रोमिला थापर जैसी इतिहासकार के भी वे ही वाक्य इस पुस्तक में उद्धृत किए गए जो नस्लवादी पूर्वग्रह और आर्यों के मूल निवासी होने की राजनीति को बढ़ावा देते हैं, और जो वाक्य ऐसा नहीं करते उन्हें चतुराई से उद्धृत ही नहीं किया गया। प्रो. रोमिला थापर के द्वारा प्रतिपादित आर्य शब्द के एक भाषा समूह के पर्याय होने के विचार को स्वीकार कर भी लेखक द्वारा अंत में अपना नस्लवादी पूर्वग्रह दोहराना पुस्तक की वैधता पर गंभीर प्रश्नचिह्न लगा देता है।

नस्लवादी पूर्वग्रह कितना विकृत हो सकता है इसके लिए उस पुस्तक के पृष्ठ 20 पर निम्नलिखित दो वाक्य देखिए :

> 'द्रविड़ लोगों का रंग काला, कद नाटा, नाक चपटी तथा सिर लंबा होता है' और '(पूर्वोत्तर के) लोगों की त्वचा का रंग पीला, अधखुली आंखें, नाटा या मध्यम कद, केश सीधे या घुंघराले, नाक छोटी एवं चपटी, सिर और चेहरा चौड़ा, गाल की हड्डियां उभरी हुई...'

दिलचस्प बात तो यह कि द्रविड़ एवं पूर्वोत्तर के भारतीयों का नस्लपरक और अजीबोगरीब विवरण देने वाले इस लेख में आर्यों के 'गौर वर्ण, ऊंचा कद, ऊंचा मस्तक....' होने जैसी प्रचलित धारणा का उल्लेख आर्यों पर लिखे गए पांच पृष्ठों में कहीं नहीं है। ऐसा करने से लेखक महोदय शायद इसलिए कतरा गए चूंकि वे उत्तर भारत की उच्च वर्णीय तथाकथित 'आर्य' आबादी को इस धारणा से बिलकुल अलग-थलग पाते होंगे।

मध्य प्रदेश की इस पाठ्यपुस्तक ने हमारे संवैधानिक मूल्यों और स्वाधीनता संग्राम की मिली-जुली विरासत में विश्वास करने वाले लोगों के सामने अनायास ही एक सबक भी रखा है। शायद यह पुस्तक हमें यह स्वीकारने के लिए बाध्य करेगी कि विगत पैंतालीस वर्षों की सामाजिक और राजनीतिक विकृतियों को समझने के लिए हम भारतीय इतिहास तथा संस्कृति पर आधारित और वर्तमान यथार्थ से जुड़े हुए एक जनवादी तथा देशप्रेमी परिप्रेक्ष्य को पेश करने में असफल हुए हैं। आम जनता के सामने आज की जकड़न और कुंठाओं से निकलने के लिए एक वैकल्पिक रास्ते का सपना रखना तो दूर की कौड़ी है, हम उसको खोजने का भी कोई विश्वसनीय तरीका प्रस्तुत नहीं कर पा रहे हैं। हमारी पाठ्यपुस्तकों में वर्तमान समाज का जो चित्र पेश किया गया है वह निहायत कृत्रिम, जड़ और सामाजिक-आर्थिक यथार्थ से अलग-थलग है। इस शून्य का संघ परिवार से संबद्ध शिक्षाशास्त्रियों ने बखूबी इस्तेमाल किया है और एक विकृत विकल्प देकर शून्य को भरने का दुराग्रहपूर्ण किंतु प्रभावशाली प्रयास किया है। यह समझने की जरूरत है कि आज जो चिंता भाजपाई नेतृत्व में किए गए शैक्षिक परिवर्तनों के प्रति दिखाई जा रही है, वह उस समय क्यों नहीं उभरी जब इसी प्रकार की विकृतियां चार दशकों से हमारे शिक्षा तंत्र को प्रभावित करती रही थीं। जैसा कि पाठ्यपुस्तकों के मूल्यांकन के लिए गठित 'नेशनल स्टीयरिंग कमेटी' की जनवरी 1993 में प्रस्तुत रिपोर्ट से जाहिर है कि भाजपा प्रशासन से पूर्व उत्तर प्रदेश में रची गई पाठ्यपुस्तकें भी इसी प्रकार के दोषपूर्ण सोच से ग्रसित थीं, चाहे उसके ढुलमुलपन के कारण उसका नकारात्मक असर अपेक्षाकृत बहुत कम था। ऐसे दोष सरस्वती शिशु मंदिर एवं मरकजी मकतब इसलामी और अन्य निजी प्रकाशकों की पुस्तकों में तो पाए ही जाते हैं, किंतु एन.सी.ई.आर.टी. की पाठ्यपुस्तकें भी इनसे मुक्त नहीं हैं। यह एक मिथ्या है कि केंद्रीय सरकार के तत्वावधान में जो पुस्तकें तैयार होंगी वे तो संवैधानिक मूल्यों और राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) द्वारा मान्यता प्राप्त मूल्यों के अनुरूप होंगी और

जो पुस्तकें राज्य सरकारों द्वारा तैयार की जाएंगी वे इस मान्यता प्राप्त रास्ते से भटकेंगी। इस संदर्भ में 1982 में केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय द्वारा गठित एक समिति की रपट का जिक्र आवश्यक लगता है जिसने शिक्षक-प्रशिक्षण में मूल्यों की स्थापना के लिए निहायत दकियानूसी, रहस्यवादी एवं गैरवैज्ञानिक स्रोतों को आधार के रूप में प्रतिपादित किया (समिति के सदस्य-सचिव स्वयं मंत्रालय के संयुक्त सचिव एवं शिक्षा सलाहकार थे)। पिछले वर्ष योजना आयोग के तत्वावधान में एक और समिति की रपट तैयार की गई जो कई मायनों में 1982 की उपरोक्त रपट की याद दिलाती है (इस समिति के अध्यक्ष स्वयं योजना आयोग के एक सदस्य थे और इसके अन्य सदस्यों में मानव संसाधन विकास मंत्रालय के तत्कालीन सचिव के अतिरिक्त विश्वविद्यालय अनुदान आयोग जैसे अन्य कई महत्वपूर्ण शासकीय संस्थानों के अध्यक्ष शामिल थे)। केवल उदाहरणस्वरूप इस परचे में केंद्रीय सरकार द्वारा समर्थित शैक्षिक चिंतन के कुछ बिंदु नीचे प्रस्तुत किए जा रहे हैं ताकि विगत पैंतालीस वर्षों में पनप रही शैक्षिक विकृतियों के प्रति हमारा ध्यान आकर्षित हो सके :

1. लगभग सभी पुस्तकों में बच्चों को बताया जा रहा है कि भारत की गरीबी का एकमात्र कारण जनसंख्या का विस्फोट है। अतः गरीबी दूर करने का मूल मंत्र अकेले परिवार नियोजन में है। इस तरह की नारेबाजी करते हुए बच्चों के सामने समाज का कोई भी यथार्थवादी विश्लेषण पेश नहीं किया गया। गरीबी का कोई भी रिश्ता पूंजी के असमान वितरण या विकास की अभिजातोन्मुखी नीति से हो सकता है, इस दृष्टि को गैर-वैज्ञानिक ढंग से ये पाठ्यपुस्तकें दशकों से छिपा रही हैं।
2. यद्यपि सारे शिक्षा आयोगों और नीति निर्धारक दस्तावेजों में यह कहा गया है कि विज्ञान पढ़ाने का उद्देश्य केवल वैज्ञानिक जानकारी देना भर नहीं है, वरन वैज्ञानिक मानसिकता बनाना और ज्ञान अर्जन के वैज्ञानिक तरीकों से बच्चों को परिचित कराना भी है। इसके बावजूद पहली कक्षा से लेकर स्नातकोत्तर तक की सारी पढ़ाई-लिखाई का जोर ढेर सारी वैज्ञानिक जानकारी ठूंसना मात्र ही रहा है। केवल यही नहीं, वैज्ञानिक जानकारी भी इस गैरशैक्षिक समझ और शैली के आधार पर दी जाती है कि उसका अधिकांश शिक्षक और बच्चों को दोनों की समझ के परे रहता है। क्या यह सच नहीं है कि वैज्ञानिक मानसिकता पैदा करने वाली और प्रयोगनिष्ठ शिक्षण विधि पर आधारित 'होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम' को पिछले बीस सालों से पूरे शिक्षा तंत्र के खिलाफ केवल जिंदा भर रहने के लिए जूझना पड़ा है, जबकि न केवल मध्य प्रदेश में बल्कि पूरे देश के स्कूली तंत्र में विज्ञान शिक्षण की इस बुनियाद की व्यवस्थित उपेक्षा की गई है। यह बात सी.बी.एस.ई. और नवोदय विद्यालय के तंत्र पर उतनी ही लागू होती है जितनी कि राज्यों के स्कूली तंत्र पर।
3. समाजविज्ञान में हमने बच्चों के सामने विकास की क्या दृष्टि पेश की है? बिना अपवाद के मध्य प्रदेश के हर जिले में अलग-अलग तैयार की गई तीसरी कक्षा की भूगोल की पुस्तकें बताती हैं कि हरित क्रांति वाली खेती 'वैज्ञानिक' खेती है

चूंकि उसमें स्वचालित यंत्रों (ट्रैक्टर आदि) और रासायनिक खादों और कीटनाशक दवाओं का इस्तेमाल होता है। इन पुस्तकों में यह मान्यता है कि वैज्ञानिक होने का एकमात्र आधार मशीनों और रसायनों का इस्तेमाल है। इस गैरवैज्ञानिक प्रस्तुतीकरण से बच्चों के दिमाग में विकास की एक विकृत छवि पनपाई गई है और साथ में हरित क्रांति के विरोधाभासों और सीमाओं को छिपाने और विदेशी कर्ज से प्रभावित नीतियों को वैधता प्रदान करने की राजनीति भी साफ है। यही दृष्टि ऐसी पाठ्यपुस्तकों में हमेशा दिखती है जब भी भाखड़ा नांगल, दामोदर परियोजना और भिलाई इस्पात कारखाने जैसी परियोजनाओं को भारत के नए मंदिरों के रूप में बिना किसी मूल्यांकन या वस्तुनिष्ठ विश्लेषण के पेश किया जाता है।

4. हालांकि शिक्षा नीति के दस्तावेजों में समाजविज्ञान और खासतौर पर इतिहास पढ़ाने का एक आवश्यक उद्देश्य यह माना गया है कि इससे बच्चों को आज के सामाजिक यथार्थ को समझने का परिप्रेक्ष्य और विश्लेषण का तरीका मिले। परंतु ऐसी कोई भी कोशिश आजादी के बाद सरकारी तंत्र में नहीं हुई। शायद इस बिंदु पर भाजपा समेत सभी राजनीतिक दलों की एक राय हो चूंकि बच्चों को ऐसा प्ररिप्रेक्ष्य देना और विश्लेषणात्मक निपुणताओं से लैस करना, किसी भी राजसत्ता के लिए आत्मघाती हो सकता है।
5. स्कूली बस्ते के बढ़ते हुए बोझ की बात तो व्यापक रूप से चली है। परंतु इस बोझ को कम करने के सभी प्रयासों को हमेशा कुंद किया गया है और नित नई समितियां बनाकर बोझ कम करने की निर्णायक घड़ी को टाला गया है। हाल में इस प्रश्न का महत्व यह कहकर कम करने की कोशिश की गई है कि यह समस्या तो मुख्यतः समृद्ध प्राइवेट स्कूलों की है जो मनमान ढंग से बच्चों को अतिरिक्त पुस्तकें खरीदने के लिए बाध्य करते हैं।[7] इस बोझ को बरकरार रखने की राजनीति में भी शायद सभी राजनीतिक दल एकमत हों चूंकि जब तक बोझ बना रहेगा तब तक गरीब तबके के अधिकांश बच्चों के लिए स्कूली शिक्षा अनाकर्षक और उबाऊ रहेगी और वे स्कूली दायरे से बाहर ही रहेंगे।
6. 'लिंग पूर्वग्रह', यानी महिलाओं को दोयम दर्जे की दृष्टि से देखना, सामाजिक यथार्थ का स्वाभाविक परिणाम है। हमारी पुस्तकों की न केवल विषयवस्तु, पर भाषा तक 'लिंग पूर्वग्रह' की लक्ष्मण रेखा को तोड़ नहीं पाई है।

आज भाजपा कहीं अधिक स्पष्ट समझ और शैक्षिक राजनीतिक तैयारी के फलस्वरूप हमारे सरोकारों का महत्व कई गुना अधिक बढ़ गया है। इसके चलते देश की जनवादी और देशप्रेमी ताकतों के सामने शैक्षिक चुनौती और उसकी रणभूमि स्पष्ट रूप से परिभाषित है। अब कोई भी आपसी दुविधा और तैयारी की कमी हमें कहां ले जाएगी, इसका अहसास नीचे प्रस्तुत उदाहरण से हो जाएगा। मध्य प्रदेश की कांग्रेसी और जनता पार्टी सरकारों के सोच और परिप्रेक्ष्य के आंतरिक विरोधाभासों में से ही हम लोग (किशोर भारती और रसूलिया

केंद्र) सत्तर के दशक में 'होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम' जैसे वैज्ञानिकता से प्रेरित बाल केंद्रित शिक्षा के प्रयोगों की गुंजाइश निकाल पाए और शायद इसीलिए पिछले साल विचारधारा के स्तर पर स्पष्ट भाजपा प्रशासन के लिए इतनी सी भी गुंजाइश मंजूर न थी—तभी तो नवंबर 1992 में भाजपा प्रशासन ने किशोर भारती एवं रसूलिया केंद्र द्वारा शुरू किए गए 'होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम' की नींव पर खड़ी हुई 'एकलव्य संस्था' के दो अन्य प्रयोगों—प्राथमिक शिक्षा एवं समाज विज्ञान शिक्षण के चंदेक स्कूलों में चल रहे कार्यक्रमों—पर औपचारिक प्रतिबंध लगा दिया और आगामी सत्र में 'होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम' को भी बंद करने की धमकी दे दी। यह दीगर बात है कि भाजपा सरकार के गिर जाने के बाद काफी उठापटक के चलते राज्यपाल ने इस प्रतिबंध को हटा दिया है।

इस घटना का जिक्र करने का मेरा उद्देश्य एक अन्य प्रश्न को उठाना भी है। पिछले वर्ष भाजपा प्रशासन के एक और निर्णय को लेकर काफी बवंडर उठा, जो विधानसभा और संसद में भी गूंजा। मध्य प्रदेश सरकार ने संघ परिवार से संबद्ध 'विद्या भारती' नाम की एक अखिल भारतीय संस्था को उसके द्वारा संचालित स्कूली तंत्र (सरस्वती शिशु मंदिर) के लिए आठवीं कक्षा के परीक्षा बोर्ड के रूप में मान्यता दे दी और उनके द्वारा आयोजित शिक्षक-प्रशिक्षण को भी एक विकल्प के रूप में स्वीकारा। हालांकि अभी तक तो विद्या भारती ने सरकारी पाठ्यपुस्तकों का ही उपयोग किया है परंतु कल इस छूट के आधार पर वे अपना अलग पाठ्यक्रम भी लागू कर सकती है, इस संभावना को स्वीकारना ही होगा। राष्ट्रपति शासन लागू होने के बाद यह मान्यता भी 'विद्या भारती' से छिन गई है। साथ ही, केंद्रीय स्तर पर इस संभावना को खोजा जा रहा है कि भविष्य में ऐसा कभी न हो पाए। इसके लिए किस प्रकार के कानून और प्रणालीगत उपाय बनाए जा सकते हैं? शिक्षा के समवर्ती विषय होने का लाभ उठाते हुए केंद्र में ऐसे कानून गढ़े जा रहे हैं जो केंद्रीय नियंत्रण के दायरे को बढ़ा देंगे, पर तब क्या होगा यदि केंद्र में भी भाजपा का प्रशासन लागू हो गया ! शायद इसी आशंका से ये कानून अभी तक संसद के पटल पर नहीं आए हैं, परंतु प्रश्न ज्यादा बुनियादी हैं। पहला, राष्ट्रीय शिक्षा नीति, शैक्षिक प्रशासन और समस्त शैक्षिक प्रक्रिया में ग्राम स्तर तक विकेंद्रीकरण तथा सक्रिय जन-भागीदारी की हिमायत करती है, तो फिर केंद्र का नियंत्रण किस नीति के तहत बढ़ाया जाएगा? यहां यह भी उल्लेखनीय है कि पहले दस सालों तक (1972-81) 'होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम' के लिए अनुमति और समर्थन एक राज्य सरकार ने दिया था, केंद्रीय सरकार ने तो बहुत बाद में साथ दिया, तो क्या भविष्य में कोई भी राज्य सरकार केंद्र की अनुमति के बगैर यह कदम नहीं उठा पाएगी? दूसरा, हम यह जानते हैं कि अकेले पाठ्यवस्तु या पाठ्यपुस्तक यह तय नहीं करते कि बच्चों को कैसे और क्या पढ़ाया जाएगा। शिक्षक का मानस और उसका प्रशिक्षण, शैक्षिक प्रशासन, स्कूली माहौल और समुदाय की भागीदारी इस प्रक्रिया के निर्णायक कारक हैं। यदि पूरा सामाजिक माहौल ही संवैधानिक मूल्यों और स्वाधीनता संग्राम की सांस्कृतिक

और राजनीतिक विरासत से दूर होने को बाध्य हो रहा है तो क्या केवल पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तक को कानूनन नियंत्रित करना पर्याप्त होगा ? क्या यह स्पष्ट नहीं है कि भाजपा प्रशासन ने उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में विगत दो-ढाई वर्षों में जो शैक्षिक कदम उठाए उनका सामना इस प्रकार के यंत्रीकृत सरकार-आधारित उपायों से नहीं, वरन केवल राजनीतिक संघर्ष से ही किया जा सकता है? यदि इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है तो यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि इन हाल के परिवर्तनों के पहले विगत पैंतालीस सालों में भी 'पाठ्यपुस्तकों की राजनीति' बरकरार रही है, और उसके खिलाफ जूझना भी जारी रहा है। यदि हम सब चार दशकों तक अपने सरोकारों के बावजूद उस स्थिति का विरोध नहीं कर पाए, तो उसके कारणों के लिए हमें ईमानदारी से अपने दिल को टटोलना चाहिए। तभी शायद हम यह समझ सकेंगे कि भाजपा के नेतृत्व में जो ज्यादा स्पष्ट खतरा भारतीय समाज के सामने उभरा है उसका सामना करने के लिए हम किस प्रकार का तंत्र खड़ा करें और कैसी रणनीति अपनाएं।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. संघ परिवार के इस सोच के तहत 'मूल्य' और 'सामाजिक यथार्थ' के बीच द्वंद्वात्मक रिश्ते को नकारना उतना ही जरूरी है जितना कि 'मानस' या 'विचार' और 'पदार्थ' के दार्शनिक संबंध को. विगत दो दशकों में सरकारी स्रोतों से भी ऐसी दो रपटें—एक, अस्सी के दशक की शुरुआत में मानव संसाधन विकास मंत्रालय की और दूसरी, नब्बे के दशक की शुरुआत में योजना आयोग की—जारी की गईं जिनमें यथार्थ से काटकर मूल्यों को विकसित किया गया और इस सोच पर आधारित मूल्यों की शिक्षा की पैरवी की गई. स्पष्ट है कि संघ परिवार का यह सोच अलग-अलग लिबास पहनकर प्रकट होता है लेकिन उन सभी का पलायनवादी और गैर-भौतिकवादी दार्शनिक आधार पहचाना जा सकता है.
2. इसी सोच के तहत संघ परिवार और उसके राजनीतिक प्रतिबिंब यानी भारतीय जनता पार्टी के हिंदुत्ववादी शब्दकोष में से 'आदिवासी' शब्द निकालकर उसकी जगह 'वनवासी' लिख दिया गया है. यह मात्र शब्द-परिवर्तन नहीं है, वरन भारत के इतिहास की हिंदुत्ववादी संकल्पना (या मात्र कल्पना) का परिणाम है जिसके अनुसार केवल आर्यों को ही भारतीय उपमहाद्वीप का मूल निवासी होने का दर्जा देना जरूरी हो जाता है. इसी क्रम में बिहार के 'झारखंड' को जबर्दस्ती 'वनांचल' का नाम दिया जा रहा है. यह इसलिए जरूरी हो गया चूंकि 'झारखंड' वहां के आदिवासियों के लंबे संघर्ष से उपजी अवधारणा है और उनकी अस्मिता का प्रतीक है.
3. संपादक : प्रो. उमराव सिंह चौधरी, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, 1992.
4. अक्तूबर 1998 में मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने राज्य शिक्षा मंत्रियों के सम्मेलन के जरिए हिंदुत्ववादी शिक्षा थोपने का प्रयास किया था. इसका राष्ट्रव्यापी विरोध हुआ. मंत्रालय के प्रस्ताव में संस्कृत भाषा को पूरे भारत में अनिवार्य बनाने की अनुशंसा थी. इस अनुशंसा की पैरवी करते हुए भारतीय जनता पार्टी के पूर्व अध्यक्ष एवं तत्कालीन केंद्रीय मंत्री डा. मुरली मनोहर जोशी ने कहा कि *सभी* भारतीय भाषाओं की मूलभाषा संस्कृत है. उस समय मैंने बी.बी.सी. की रेडियोवार्ता में कहा था कि शायद डॉ. जोशी के 'भारत' में तमिलनाडु, अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मिजोरम एवं नगालैंड

नहीं है चूंकि इन प्रदेशों की भाषाओं की मूलभाषा संस्कृत नहीं है. ना ही मंत्री महोदय के अनुसार वे आदिवासी भारतीय है जो गोंडी, मुंडा, हो, वारली आदि भाषाएं बोलते हैं.

5. थापर, रोमिला, 'हम में आर्य कौन है', *इतिहास की पुनर्व्याख्या*, राजकमल प्रकाशन, 1991, पृ. 14-24.
6. थापर, रोमिला, 'दि पेरीनियल आर्यन्स', *सेमिनार*, अंक 400, दिसंबर 1992, पृ. 22.
7. 'रिपोर्ट आफ दि केब कमेटी आन पालिसी', मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार, 1992, पृ. 62.

9. राज्यपाल द्वारा संविधान को चुनौती

हमारे संविधान के खंड चार के अनुच्छेद 45 में राज्य को निर्देशित किया गया है कि वह संविधान लागू होने के दस साल के भीतर, चौदह वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान कर दे। यह दीगर बात है कि इस लक्ष्य वर्ष के अड़तीस साल बाद भी देश के आधे बच्चे और दो-तिहाई लड़कियां स्कूली शिक्षा से वंचित हैं। इसके बावजूद किसी भी राजनेता अथवा राजनीतिक दल की यह जुर्रत नहीं है कि वह संविधान के इस निर्देश का खुलकर विरोध करे। हर चुनावी घोषणा पत्र में इस निर्देश की पूर्ति हेतु वादों को दोहराना भी जरूरी हो गया है। लेकिन जब से नई आर्थिक नीति और वैश्वीकरण का दौर शुरू हुआ है तब से गरीबी और शोषण से जुड़े हुए सभी मुद्दों को दरकिनार करने और उन्हें राष्ट्रीय एजेंडा के हाशिए पर धकेल देने का दुःसाहस बढ़ा है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के दबाव में तो भारत सरकार ने 1991 से पहली बार सामाजिक सेवाओं के खर्च को गैर-जरूरी मानना शुरू कर दिया था। इसकी जगह संरचनात्मक समायोजन की नीति के तहत शिक्षा, स्वास्थ्य एवं सामाजिक कल्याण योजनाओं हेतु मुद्राकोष और विश्व बैंक से कर्ज लेना शुरू कर दिया है। इसका सीधा प्रभाव शिक्षा पर पड़ने लगा है। अतः उस समय कोई विशेष अचरज नहीं होना चाहिए जब मध्य प्रदेश के राज्यपाल महोदय अनुच्छेद 45 को गैर-जरूरी बताना शुरू कर दें। इस सोच और उसमें निहित मान्यताओं का विश्लेषण नीचे दिए गए लेख में प्रस्तुत है।

20 नवंबर 1995 के दिन भोपाल में एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना घटी। उस दिन मध्य प्रदेश शासन द्वारा संचालित प्रशासन अकादमी में राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद (एन.सी.टी.ई.) और यूनेस्को के संयुक्त तत्वावधान में 'समाज में शिक्षक का पेशागत दर्जा' विषय पर आयोजित परिसंवाद का उद्घाटन समारोह हो रहा था। उस भव्य समारोह के मुख्य अतिथि, प्रदेश के महामहिम राज्यपाल मोहम्मद शफी कुरैशी ने अपने उद्घाटन भाषण में यह राय जाहिर की कि संविधान के अनुच्छेद 45 में उल्लेखित 'निःशुल्क शिक्षा' के प्रावधान की सार्थकता अब खत्म हो गई और इसे बदल देना बेहतर होगा। उनकी राय में जिन हालात को देखकर संविधान निर्माताओं ने 'नीति निर्देशक तत्व' वाले खंड चार के अनुच्छेद 45 में सरकार को '14 वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों के लिए संविधान लागू होने के दस वर्षों के अंदर निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान' करने के लिए निर्देशित किया था, वे हालात अब नहीं रहे हैं।

मूल स्रोत : *जनसत्ता,* दिल्ली, 6 दिसंबर 1995.

राज्यपाल महोदय की इस राय से दो प्रमुख मुद्दे उभरते हैं। पहला, राज्यपाल द्वारा पद ग्रहण करने के वक्त संविधान की रक्षा के प्रति जो शपथ ली जाती है उसके संदर्भ में क्या राज्यपाल महोदय का संविधान पर प्रश्न खड़ा करना उचित था? यदि राज्यपाल महोदय की राय संविधान से फर्क है तो क्या यह बेहतर नहीं होता कि वे इस संवैधानिक पद के साथ जुड़ी गरिमा, सत्ता और तमाम सुख-सुविधाओं को छोड़कर अलग हो जाते और एक आम नागरिक की हैसियत से अपनी राय जाहिर करते?

संवैधानिक मुद्दे से कहीं अधिक महत्वपूर्ण मुद्दा सामाजिक और राजनीतिक है। आज भी देश के लगभग आधे बच्चे और दो-तिहाई लड़कियां प्रारंभिक शिक्षा (यानी कक्षा एक से आठ तक) से वंचित हैं। मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा जारी किए गए तमाम भ्रामक आंकड़े और सजी-सजाई रपटें आज तक देश की इस कड़वी सचाई को झुठला नहीं पाई हैं। यों तो देश की इस भारी असफलता को परोक्ष रूप से सरकार ने भी नवगठित 'जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम' (डी.पी.ई.पी.) के लिए लगभग 2,500 करोड़ रुपए का अंतर्राष्ट्रीय ऋण-अनुदान लेकर स्वीकार कर लिया है। राज्यपाल महोदय जानते ही होंगे कि मध्य प्रदेश में भी यूरोपीय आर्थिक समुदाय से लगभग 680 करोड़ रुपए की सहायता प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण के लिए ली गई है। दरअसल, 45 साल में हालात अगर बदलें हैं तो केवल यही कि सरकार ने विगत दो-तीन वर्षों में यह स्वीकार लिया है कि देश के संसाधनों और देशज ज्ञान और क्षमताओं के आधार पर अनुच्छेद 45 के दायित्व को पूरा नहीं किया जा सकता। प्रारंभिक शिक्षा के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता के इस अहसास को खो देने को अगर राज्यपाल महोदय हालात का बदलना कहते हैं तो दीगर बात है। काश, वे इस बात पर जोर देते कि देश के आधे बच्चों और दो-तिहाई लड़कियों का प्रारंभिक शिक्षा से वंचित रहना संविधान के अनुच्छेद 45 में दिए गए निर्देशों का उल्लंघन है और साथ ही पूरे देश के लिए, विशेषकर इक्कीसवीं सदी के मुहाने पर, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एक शर्मनाक बात है।

अपने तर्क को आगे बढ़ाते हुए राज्यपाल महोदय ने 'निःशुल्क शिक्षा' की तुलना 'निःशुल्क बिजली आपूर्ति' से कर दी, जैसे कि उनकी राय में सामाजिक विकास की दृष्टि से शिक्षा और बिजली आपूर्ति की भूमिका समान हो। उनका मानना है कि यदि कोई भी निःशुल्क सेवा दी जाएगी तो उसकी गुणवत्ता घटिया ही होगी और यदि बेहतर गुणवत्ता की सेवा देनी है तो उसका निश्चित दाम देना ही होगा। यह आश्चर्य का विषय है कि शिक्षा के संवैधानिक दायित्व का महत्व कम करने के लिए राज्यपाल को एक घिसी-पिटी अमरीकी पूंजीवादी धारणा का सहारा लेना पड़ा, जिसमें गरीबी का मजाक उड़ाया गया है। उनका मानना है कि 'निःशुल्क भोजन जैसी कोई चीज नहीं हो सकती' ('देयर इज़ नो फ्री लंच')। उन्होंने जोर दिया कि 'यदि कोई चीज निःशुल्क है तो वह भोजन नहीं है और यदि वह भोजन है तो वह निःशुल्क नहीं हो सकता।' इस तर्क के आधार पर राज्यपाल महोदय ने सुझाव दिया कि अब हमें निःशुल्क शिक्षा की अवधारणा खत्म कर देनी चाहिए और उसकी

जगह केवल उनके लिए निःशुल्क शिक्षा का प्रावधान करना चाहिए जो उसकी कीमत अदा करने में समर्थ नहीं हैं। राज्यपाल महोदय की इस राय पर तीन प्रश्न उठाए जा सकते हैं।

पहला, देश की जनता का यह लंबा और व्यापक अनुभव है कि जिस चीज की कीमत अदा की जाती है, जरूरी नहीं कि वह बेहतर गुणवत्ता की हो। उदाहरण के लिए, रेलगाड़ी में चढ़ने के पहले यात्री टिकट खरीदकर उसकी पूरी कीमत चुकाता है पर उसके बाद भी प्रतिदिन लाखों यात्रियों को खड़े होने तक की भी जगह नहीं मिलती। आजकल तो आधी से अधिक रेलगाड़ियों के शौचालयों में पानी तक नहीं होता जिसकी कीमत यात्री से वसूली जाती है। आरक्षण के लिए घूस देना और घूस देने के बाद भी बर्थ न मिलना एक सामाजिक सच है। इसी प्रकार बिजली, पानी और टेलीफोन के उपभोक्ता भी उन सेवाओं की पूरी कीमत अदा करते हैं और उसके बाद इन सेवाओं का जो हाल है उसके बारे में कुछ भी कहने की जरूरत नहीं है। यह हाल केवल सार्वजनिक क्षेत्र की सेवाओं का ही नहीं है। निजी क्षेत्र में भी उपभोक्ता जिस प्रकार ठगा जाता है और पूरी तरह से असहाय महसूस करता है, यह भी एक जाना पहचाना सत्य है। शिक्षा के क्षेत्र में जो मां-बाप ऊंची फीस भरकर अपने बच्चों को प्राइवेट स्कूलों में भेजते हैं वहां भी शिक्षा का केंद्रीय चरित्र वही होता है जो सरकारी स्कूलों में—यानी वही भारी-भरकम बस्ते वाली बोझिल शिक्षा, वही रटंत पद्धति, शिक्षण की वही व्याख्यान-आधारित एकतरफा शैली और बच्चों को पास-फेल करने वाले मूल्यांकन के वही गैर-शैक्षिक और बाल-विरोधी मापदंड। कीमत अदा करके भी तथाकथित मांटेसरी और कान्वेंट स्कूलों की दुकानों में सारे शैक्षिक मूल्यों और सिद्धांतों का उल्लंघन करके ही बच्चों को शिक्षा मिलती है। अच्छा होता यदि राज्यपाल महोदय शिक्षा के इन तथ्यों की ओर भी ध्यान आकर्षित करते।

दूसरा, राज्यपाल महोदय की यह मान्यता भी भ्रमात्मक है कि देश की गरीब जनता शिक्षा की कीमत नहीं चुकाती। मेहनत-मजदूरी करने वाले इनसान के लिए सरकार ने न्यूनतम मजदूरी की अवधारणा बनाई है। यह माना जाता है कि प्रत्येक मेहनतकश इनसान को प्रतिदिन काम के लिए इतना पैसा अवश्य मिलना चाहिए कि वह 2100 कैलोरी का भोजन पा सके। यानी सरकारी विशेषज्ञों ने तय कर लिया है कि मेहनतकश इनसान को प्रतिदिन 2100 कैलोरी के अलावा और कुछ भी देना जरूरी नहीं है। अतः न्यूनतम मजदूरी में न तो शिक्षा के लिए प्रावधान है, न ही कपड़े-मकान और इलाज के लिए और सच पूछें तो, भरपेट पौष्टिक भोजन के लिए भी नहीं। हर मेहनतकश इनसान देश के विकास के लिए अपनी क्षमता के अनुसार पूरा योगदान देता है, मसलन खेती करके, सड़क और बिल्डिंग बनाकर, बांध और पावर हाउस खड़े करके, कारखाने चलाकर आदि। परंतु उसके बदले में उस काम के लिए जो मजदूरी निर्धारित हुई है (और वह भी केवल कागज पर) वह उसकी मानवीय आवश्यकताओं के लिए कतई पर्याप्त नहीं है। दूसरे शब्दों में, अपने उत्पादन का योगदान देकर भारत के इस गरीब नागरिक ने शिक्षा, स्वास्थ्य, कपड़ा और मकान की पूरी कीमत पहले ही चुका दी है। इस तथ्य के साथ यह भी याद रखा जाए कि न्यूनतम मजदूरी का

सिद्धांत केवल सरकारी फाइलों में ही रहता है, अधिकांश मजदूरों को यह न्यूनतम मजदूरी भी नहीं मिलती। यह सचाई हमारे संविधान निर्माताओं को पता थी। इसको मद्देनजर रखते हुए ही उन्होंने अनुच्छेद 45 में निःशुल्क शिक्षा को सरकार का दायित्व माना और साथ में 'नीति निर्देशक तत्वों' में अन्य कई अनुच्छेदों के जरिए कुपोषण मिटाने, स्वास्थ्य सेवाएं देने, कपड़े-मकान की यथोचित व्यवस्था करने, बाल-मजदूरी खत्म करने, महिलाओं को समान हक देने, भूमि सुधार कानून लागू करने जैसे स्पष्ट निर्देश दिए।

यदि राज्यपाल महोदय अनुच्छेद 45 के निःशुल्क शिक्षा वाले प्रावधान को बदलना चाहते हैं तो यह जरूरी है कि वे पहले 'न्यूनतम मजदूरी' की जगह 'मानवीय मजदूरी' का सिद्धांत स्थापित करें और ऐसे हालात बनाएं जिनमें हर इनसान द्वारा किए गए उत्पादन के बदले देश उसकी पूरी कीमत अदा करे। तभी तो अनुच्छेद 45 को खत्म करने और शिक्षा की कीमत वसूलने की बात की जा सकती है।

तीसरा, राज्यपाल का यह सुझाव वैसे भी आज कोई मायने नहीं रखता कि निःशुल्क शिक्षा केवल उनके लिए हो जो उसकी कीमत देने में समर्थ नहीं हैं। सरकारी स्कूलों और सरकारी सहायता-प्राप्त स्कूलों में केवल ट्यूशन फीस ही नहीं ली जाती बल्कि अन्य कई रूपों में, विभिन्न लेबलों के तहत फीस वसूली जाती है।[1] बात यहीं खत्म नहीं हो जाती। बढ़ते हुए क्रम में इन स्कूलों में भी निजी ट्यूशन की प्रथा चल निकली है। इस परिपाटी के अनुसार शिक्षक चाहे स्कूल में पढ़ाए या न पढ़ाए वह संकेत दे देता है कि यदि परीक्षा में पास होना है तो शाम को ट्यूशन लगवानी होगी। शायद राज्यपाल महोदय को पता नहीं है कि कितनी बड़ी तादाद में मध्य प्रदेश के गरीब बच्चे निजी ट्यूशन की फीस भरते हैं और उसके बाद भी दोयम दर्जे की शिक्षा पाते हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग द्वारा किए गए हाल के एक सर्वेक्षण से पता चला है कि राजधानी दिल्ली की जहांगीरपुरी बस्ती में दिहाड़ी पर जीने वाले लोग अपने बच्चों को दिल्ली नगर निगम के स्कूलों में केवल प्रमाण पत्र पाने के लिए भेजते हैं—शिक्षा (यानी ज्ञान) के लिए तो वे अपने-अपने मुहल्लों में बीस-बीस रुपए प्रति माह देकर सामूहिक ट्यूशन लगवा लेते हैं।

इस मुद्दे पर हाल के अपने ऐतिहासिक फैसले में सुप्रीम कोर्ट ने कहा है कि 'जीने के हक वाला' बुनियादी अधिकार, अनुच्छेद 45 के 'निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा वाले प्रावधान' के बगैर निरर्थक है। जिस अनुच्छेद 45 को सुप्रीम कोर्ट ने बुनियादी अधिकार के साथ जोड़कर देखा उस पर कोई भी सवाल उठाना सुप्रीम कोर्ट की मानहानि करने जैसा है।

यह विडंबना ही है कि राज्यपाल महोदय उस प्रदेश के राज्यपाल हैं जिसकी सरकार प्रदेश के 19 जिलों में हर बच्चे के लिए निःशुल्क और उत्तम शिक्षा उपलब्ध कराने का दावा करते हुए यूरोपीय आर्थिक समुदाय से लगभग 680 करोड़ का ऋण-अनुदान ले रही है। उन्होंने यह सवाल तब खड़ा किया है जब प्रधानमंत्री बार-बार वादा कर रहे हैं कि नौवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002) में शिक्षा के लिए सकल राष्ट्रीय उत्पाद का छह प्रतिशत

अंश अवश्य दिया जाएगा। हालांकि यहां यह बताना भी आवश्यक है कि छह प्रतिशत का यह वादा पूर्णतः बेमानी है। कोठारी शिक्षा आयोग ने 1966 में यह हिसाब लगाया था कि यदि अगले बीस वर्षों में सकल राष्ट्रीय उत्पाद का छह प्रतिशत हर वर्ष शिक्षा को मुहैया करवाया जाए तो शिक्षा के दायित्व को 1986 तक पूरा किया जा सकेगा। इस हिसाब के पीछे कोठारी आयोग ने राष्ट्रीय आय में वार्षिक वृद्धि की जिस दर की अपेक्षा की थी उससे कहीं कम दर पर अगले बीस वर्षों में राष्ट्रीय आय बढ़ी। उस कम राष्ट्रीय आय का भी बमुश्किल 2-2.5 प्रतिशत भाग शिक्षा को मिला। आज भी शिक्षा को केवल 3.9 प्रतिशत अंश मिलता है।

इसका स्पष्ट अर्थ है कि विगत तीस वर्षों में कोठारी आयोग के हिसाब के अनुसार बहुत कम पूंजी शिक्षा में लगाई गई। यानी अपेक्षित पूंजी निवेश और असल में लगाई गई पूंजी के बीच एक चौड़ी खाई बन चुकी है जिसका प्रभाव शैक्षिक सुविधाओं को घटिया हालात में देखा जा सकता है। अभी तो केवल आधे बच्चे ही स्कूल जा रहे हैं, कल्पना कीजिए कि क्या होगा यदि सभी बच्चे स्कूल जाने लगें!

इस दृष्टि से यदि सरकार नौवीं पंचवर्षीय योजना में राष्ट्रीय आय का 6 प्रतिशत भाग शिक्षा में लगा भी दें तो उससे पिछले तीस सालों में बनी हुई सैकड़ों अरबों रुपयों की चौड़ी खाई पाटी नहीं जा सकती। अनुच्छेद 45 पूरे देश के सामने एक नैतिक और राजनीतिक प्रश्नचिह्न बनकर खड़ा हुआ है। दरअसल, महामहिम राज्यपाल से उम्मीद यह थी कि वे हमको याद दिलाते कि आज तक अनुच्छेद 45 की आधी-अधूरी व्याख्या की गई है। यह मान लिया गया कि अनुच्छेद 45 का अर्थ मात्र प्रारंभिक शिक्षा (कक्षा एक से आठ तक) से है, यानी 6 से 14 वर्ष की आयु के बच्चों के लिए। इस संवैधानिक दायित्व को भी सरकार ने अंतर्राष्ट्रीय ऋण-अनुदान से चलने वाली डी.पी.ई.पी. योजना में केवल प्राथमिक शिक्षा (कक्षा एक से पांच तक) के दायरे में सीमित कर दिया। तब भी सारी राजनीतिक पार्टियां, संसद और विधान सभाएं चुप रहीं। सचाई तो यह है कि अनुच्छेद 45 केवल 14 वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों का जिक्र करता है, यानी इसके दायरे में 0 से 3 वर्ष और 3 से 6 वर्ष आयु समूह के बच्चों की देखभाल, पोषण और शिक्षा (यानी क्रेश, पूर्व प्राइमरी आदि) का दायित्व भी शामिल है। इस आयु समूह के तो केवल 10 प्रतिशत बच्चों को सुविधा मिल पाई है। आज राजनीतिक चुनौती अनुच्छेद 45 के दायरे को व्यापक बनाने की है न कि उसे सीमित करने की।

महामहिम राज्यपाल से यह पूछना प्रासंगिक होगा कि क्या यह राजनीतिक चुनौती उस अमरीकी धारणा के दायरे में आती है जिसमें पूंजीवादी व्यवस्था के आकाओं ने कह दिया था कि 'निःशुल्क भोजन जैसी कोई चीज नहीं हो सकती'। भारत का सुप्रीम कोर्ट इस देश की राजनीतिक इच्छाशक्ति को ललकार चुका है कि अनुच्छेद 45 शासक वर्ग या संभ्रांत तबके की मनमर्जी या शौक पर चलने वाला प्रावधान नहीं है बल्कि जीने के हक का सवाल

है। इसलिए यदि कोई सुधार की जरूरत है तो वह केवल यह कि अनुच्छेद 45 को 'नीति निर्देशक तत्व' वाले खंड में से निकालकर बुनियादी अधिकार वाले खंड में डाल दिया जाए।

संदर्भ और टिप्पणी

1. हाल के एक अध्ययन से पता चला है कि सरकारी स्कूल में पढ़ने वाले बच्चे भी फीस देते हैं, और गैर-फीस खर्च भी करते हैं (जे.बी.जी. तिलक, 'हाऊ फ्री इज़ फ्री एजुकेशन', *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली*).

खंड चार

विकल्प की खोज

10. पूर्वप्राथमिक शिक्षा और बचपन

यह विडंबना ही है कि एक ओर भारत में गिजुभाई बधेका और मारिया मांटेसरी जैसे दिग्गजों ने पूर्वप्राथमिक शिक्षा के अनूठे प्रयोग किए और इसका शिक्षाशास्त्र विकसित करने में सृजनात्मक योगदान दिया, वहीं दूसरी ओर पूर्वप्राथमिक शिक्षा कभी भी राष्ट्रीय एजेंडे का हिस्सा नहीं बन पाई। सत्तर के दशक में 0-6 वर्ष आयु समूह के लिए 'समेकित बाल विकास सेवाएं' (आई.सी.डी.एस.) नाम का कार्यक्रम जरूर शुरू हुआ लेकिन उसके तहत चलने वाली आंगनवाड़ियां 'खिचड़ी-दलिया' वितरण केंद्र भर बनकर रह गई हैं। हालांकि उनमें पूर्वप्राथमिक शिक्षा का पुट जोड़ने का सरकारी इरादा आज भी कागजों पर मौजूद है। कुल मिलाकर स्थिति यह है कि पूर्वप्राथमिक शिक्षा लगभग एक अभिजात एवं मध्यमवर्गीय प्रक्रिया बन गई है। इस महत्वपूर्ण शैक्षिक चरण के संदर्भ में राज्य की सु-परिभाषित भूमिका के अभाव में पूर्वप्राथमिक शिक्षा का पूर्णतः बाजारीकरण हुआ और उससे जुड़ी तमाम विकृतियां इस पर हावी हुईं। इसीलिए 2-3 वर्ष आयु समूह के शिशुओं को दाखिले के साथ ही परीक्षा, बोझिल पाठ्यक्रम, मातृभाषा की जगह अंग्रेजी, खेलकूद व आनंद की जगह अनुशासन आदि विकृतियों का शिकार होना पड़ता है। सबसे ज्यादा त्रासदायक पक्ष यह है कि चूंकि पूर्वप्राथमिक शिक्षा के इस बाजारीकृत मॉडल का वर्चस्व स्थापित हो गया है अतः गरीब तबके के लिए भी यह अनुकरणीय बन गया है। भारतीय बचपन के लिए पूर्वप्राथमिक शिक्षा का यह एकांगी, बोझिल एवं संवेदनाहीन स्वरूप आज एक गंभीर खतरा बन चुका है। प्रस्तुत आलेख इस खतरे के मूल शैक्षिक आधारों का विश्लेषण करने का एक प्रयास है। इस प्रयास से वैकल्पिक मॉडल का एक खाका भी उभरता है।

अपनी बात एक कहानी से शुरू करना चाहूंगा। कुछ समय पहले मैं कोहिमा (नागालैंड) गया था। वहां एक जनसमूह के सामने मैंने प्रारंभिक शिक्षा के बारे में वैकल्पिक दृष्टि गढ़ने और विकसित करने की आवश्यकता पर चर्चा शुरू की। चर्चा की समाप्ति पर उस इलाके की एक जानी-मानी और प्रतिष्ठित बुजुर्ग महिला ने मेरी बात पर अपना असंतोष व्यक्त किया। पूर्व में ये नागालैंड से सांसद भी रह चुकी हैं। उनका कहना था कि नागालैंड में मुक्ति का संघर्ष चल रहा है (नागालैंड में इस तरह की चर्चा आम बात है) और उत्तर-पूर्व की मिट्टी विद्रोह के लिए उपजाऊ है। उन्होंने कड़क होकर पूछा, 'प्रारंभिक शिक्षा की वैकल्पिक दृष्टि वाली आपकी बात का हमारे मुक्ति संग्राम से क्या लेना-देना है?' मेरा जवाब कुछ

मूल स्रोत : इंडियन एसोसिएशन ऑफ प्री-स्कूल एजुकेशन के 28वें वार्षिक सम्मेलन (लुधियाना, सितंबर 1995) में दिए गए समापन भाषण का संशोधित स्वरूप. मूल अंग्रेजी से अनूदित.

इस प्रकार का था :

'देखिए, न तो मैं कोई राजनीतिज्ञ हूं और न ही केंद्रीय सरकार का प्रतिनिधि। एक शिक्षाविद होने के नाते आपकी बात पर अपनी प्रतिक्रिया दे रहा हूं। जब भारत आजाद हुआ तो हमारी सरकार पूर्णरूपेण अधिकृत थी कि वह देश के सामाजिक यथार्थ के अनुकूल एवं जनता की निराली क्षमता में से उपजी एक देशज शिक्षा प्रणाली पर विचार करती और उसे विकसित करती। 15 अगस्त 1947 को सरकार के पास ऐसा निर्णय लेने के लिए राजनीतिक सत्ता भी थी। लेकिन हमारी सरकार ने ऐसा करने के बजाए ब्रिटिश राज से विरासत में मिली औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था को न केवल चालू रखा बल्कि उसे सुदृढ़ करने का फैसला भी किया। यह इसके बावजूद हुआ कि भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन दुनिया भर में इस मायने में अनूठा था कि इसके दौरान गांधीजी की नई तालीम वाली अपनी विशिष्ट शैक्षिक दृष्टि विकसित हो चुकी थी। क्या यहां नागालैंड में आप लोगों के पास नागा शिक्षा की ऐसी दृष्टि है जो कि आपके समृद्ध इतिहास, संस्कृति, सामाजिक-आर्थिक जीवन शैली और देशज ज्ञान संपदा से पोषित होती हो? क्या आपके पास नागा युवाओं में अपनी अस्मिता को बरकरार रखने के साथ-साथ दुनिया की विभिन्न धाराओं से जुड़ने की जो कशिश है उसे प्रतिबिंबित करने वाली कोई दृष्टि है? अपनी इस संक्षिप्त कोहिमा यात्रा के दौरान मैंने पाया कि अभी ऐसी शैक्षिक दृष्टि को विकसित करने की इच्छा तक की निहायत कमी है। आप केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा मंडल (सी.बी.एस.ई.) के पाठ्यक्रम का दिल्ली के स्कूलों की तुलना में कहीं ज्यादा निष्ठा (और कठोरता) के साथ पालन करते हैं। ऐसा नहीं लगता कि आप स्कूलों में शिक्षण के माध्यम के रूप में 14 नागा भाषाओं में से किसी एक का भी उपयोग करते हों। आपके यहां पूर्व-माध्यमिक शिक्षा के शुरुआती चरण से लेकर आगे तक केवल अंग्रेजी ही शिक्षण का माध्यम है। इस तरह आपने स्कूली शिक्षा को मातृभाषा में शुरू करने के बुनियादी शैक्षिक सिद्धांत की अवहेलना की है, ठीक उसी प्रकार जैसा कि देश भर के अधिकांश निजी स्कूलों में भी होता है। एक प्रकार से आप केंद्र से भी ज्यादा 'केंद्रीकृत' हैं और एन.सी.ई.आर.टी. के द्वारा प्रस्तावित 'एकरूपता' से भी कहीं ज्यादा 'एकरूपी' हैं। आपने प्रायः पाठ्यक्रम निर्धारण के दौरान नागालैंड की (और शेष भारत की भी) सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता को ठीक उसी तरह नजरअंदाज किया है जैसा कि दिल्ली-आधारित केंद्रीय शैक्षिक एजेंसियां करती हैं। यह किस तरह का मुक्ति संघर्ष है? यदि आपको वह मिल भी जाए जिसे आप 'मुक्ति' कहते हैं तो संभावना यही है कि आप वही करेंगे जो भारत सरकार ने सन् 1947 में किया गया था। यानी, आप दिल्ली से प्राप्त उस विरासत को जारी रखेंगे जो दिल्ली को स्वयं अपने औपनिवेशिक इतिहास से मिली है।'

मेरे इस जवाब के बाद वे बुजुर्ग महिला (जो स्वयं एक शिक्षाविद के रूप में जानी जातीं थी) न सिर्फ मेरी मित्र बन गईं बल्कि उन्होंने शिक्षा की वैकल्पिक दृष्टि विकसित करने के लिए साथ मिलकर काम करने का वादा भी किया।

आप सबको यह कहानी सुनाने की तुक क्या थी? इसका आपके मूल सरोकार यानी पूर्वप्राथमिक शिक्षा से क्या लेना-देना है? मेरे नजरिए से देखें तो इस कहानी का संबंध आपके उस सरोकार से है जिसके तहत पूर्वप्राथमिक प्रणाली में व्याप्त नाना प्रकार की विकृतियों से बच्चों को मुक्ति दिलाना है। इसका गहरा रिश्ता आपके इस नजरिए से भी है कि पूर्वप्राथमिक शिक्षा की नींव सामुदायिक भागीदारी में होनी चाहिए और इसको आयोजित करने की पहलकदमी भी विकेंद्रीकृत होनी चाहिए। पांच साल पहले आचार्य राममूर्ति समीक्षा समिति की रपट ने 'शिशु देखभाल और शिक्षा' की व्यवस्था में इसी प्रकार के परिवर्तनों की जोरदार वकालत की थी। लेकिन इससे कुछ हासिल नहीं हो पाया (संयोगवश, आपके संघ की संस्थापक सदस्या सुश्री मीना स्वामीनाथन ने उक्त रपट के इस अध्याय को लिखने में प्रमुख स्रोत व्यक्ति की भूमिका निभाई थी)। आखिर वे कौन से कारक हैं जो उन परिवर्तनों के रास्ते में रोड़ा बन जाते हैं जिन्हें हम सब सही मानते हैं और जो बच्चों को उनके हक के रूप में मिलने भी चाहिए। सन् 1993 में चंडीगढ़ में पूर्वप्राथमिक शिक्षा पर आयोजित परिचर्चा की एक रपट बताती है कि चंडीगढ़ के अधिकांश पूर्वप्राथमिक स्कूल किस प्रकार बच्चों के साथ दुर्व्यवहार करते हैं और व्यापक फलक पर बाल विकास के मान्य सिद्धांतों का व्यवस्थित रूप से उल्लंघन भी करते हैं। क्या कारण है कि इस प्रकार की विकृतियां, भ्रमात्मक सोच और बालविरोधी धारणाएं हमारी शिक्षा प्रणाली को लगातार प्रभावित करती रहती हैं? हम इस सबको बदल क्यों नहीं सकते?

एक प्रसिद्ध अमरीकी लोकगीत के शब्दों में—'मेरे दोस्त, इसका जवाब हवा में तैर रहा है।' विगत पांच दशकों से हम लगातार एक बुनियादी सवाल को टालते रहे हैं और वह सवाल है शिक्षा के बारे में हमारी देशज दृष्टि का। वह शिक्षा प्रणाली कैसी होगी जिसकी जड़ें हमारे इतिहास में गहरी जमी हुई हों, जो हमारी भू-सांस्कृतिक विविधता के साथ स्पंदित होती हों और साथ-साथ गरीबी, पिछड़ापन (या इसको गलत विकास कहा जाए) एवं सामाजिक तनावों का सामना करने में समर्थ हों? वह पाठ्यक्रम कैसा होगा जो हमें विश्व की विभिन्न धाराओं का सामना करने तथा उनसे कुछ सीख पाने के लिए इस प्रकार से सशक्त करे कि हम अपनी जड़ों से जुड़े रहें? अभी तक हमने वर्तमान शिक्षा प्रणाली के बुनियादी सिद्धांतों पर सवाल उठाने की जुर्रत भी नहीं की है जो बुरी तरह से विफल हो चुकी है। यह विडंबना ही है कि हमने अपनी शैक्षिक अवधारणाओं, मूल्यों और प्राथमिकताओं को अकसर बाजार की ताकतों द्वारा तय होने दिया है। आखिर क्यों?

हमारे पास गांधी, टैगोर तथा डा. जाकिर हुसैन सरीखे दिग्गजों के शैक्षिक चिंतन की समृद्ध विरासत होने के बावजूद हम इतने गैर-जिम्मेदाराना तरीके से चलते रहे हैं। इस संदर्भ में गुजरात के गिजुभाई बधेका के उत्कृष्ट योगदान को भी याद करने की जरूरत है जो उन्होंने बाल विकास में मां-बाप की भूमिका, शिक्षण पद्धति और अध्यापक शिक्षण के क्षेत्रों में दिया है। इसी क्रम में हम ताराबाई मोडक और उनके बाद अनुताई वाघ को भी याद करें जिन्होंने महाराष्ट्र के ठाणे जिले के कोसबाड़ इलाके में पूर्वप्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में

योगदान देकर नया प्रतिमान स्थापित किया है। कोसबाड़ में विकसित पाठ्यक्रम ने आदिवासियों के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश को मद्देनजर रखते हुए स्थानीय खेलों, गीतों एवं प्राकृतिक वस्तुओं को शामिल किया है। यहीं से आंगनवाड़ी की अवधारणा उभरी। आंगनवाड़ी न केवल किसी आदिवासी टोले के बीच बच्चों के खेलने-कूदने के लिए एक खुला स्थान था, बल्कि यह एक ऐसी गतिविधि भी थी जिसमें समूचे समुदाय की भागीदारी होती थी और उसकी जिम्मेदारी भी स्पष्ट थी। इस नई अवधारणा का 'समेकित बाल विकास सेवाएं' (आई.सी.डी.एस.) कार्यक्रम के तहत केंद्र से वित्तपोषित एवं नौकरशाही की देखरेख में चलने वाली आंगनवाड़ियों के नाम पर जो कुछ होता है, उसके साथ शायद ही कुछ संबंध हो।

समुदाय द्वारा प्रबंधित 'शिशु देखभाल और शिक्षा' के निहितार्थ क्या होंगे? एक बात निश्चित है कि ज्यों-ज्यों आयोजन की पहलकदमी समुदाय के पक्ष में विकेंद्रित होने लगेगी, त्यों-त्यों शिशु देखभाल और शिक्षा के पाठ्यक्रम (यानी बच्चों द्वारा स्वयं खोजबीन, खेल-गतिविधियां, कहानी सुनाना आदि) में स्थानीय परिवेश की झलक मिलने लगेगी। अवधारणा निर्माण एवं प्रशिक्षण के जरिए यह संभव है कि एक साझा खाका उभरकर आए। लेकिन विषयवस्तु में किसी भी एकांगी 'एकरूपता' को थोपा नहीं जा सकेगा। इस प्रकार ये कार्यक्रम अलग-अलग परिस्थितियों में भारत की भू-सांस्कृतिक विविधता को प्रतिबिंबित कर पाएंगे। साथ-साथ इनके जरिए एक-दूसरे से सीखने की अच्छी गुंजाइश भी मिलती है। कल्पना कीजिए उस स्थिति की जब तमिलनाडु की ताड़ी सहकारी समितियों द्वारा प्रबंधित 'शिशु देखभाल एवं शिक्षा केंद्र' यह निर्णय करेंगे कि उन्हें कलकत्ता के दलदली क्षेत्रों और मेघालय के चाय बगानों के 'शिशु देखभाल एवं शिक्षा केंद्रों' के साथ सार्थक संवाद करना है। निश्चित ही यह प्रक्रिया दिल्ली या राज्य की राजधानियों और यहां तक कि जिला मुख्यालयों के भी 'विशेषज्ञों' द्वारा ऊपर से दिए गए एकांगी निर्देशों के तहत चलने वाली प्रक्रिया से एकदम भिन्न होगी। यह एक नए भारत के बारे में रोमांचकारी दृष्टि है जिसके अनुसार हर समुदाय के लिए लोकतांत्रिक प्रावधान मात्र संविधान में सिमटकर नहीं रह जाएगा, वरन इसे सचमुच सम्मान और समर्थन मिलेगा। हम भारत में एक नई नीति की बात कर रहे हैं जिसका निर्माण करने से अब तक हम कतराते रहे हैं, इस वैकल्पिक नीति के तहत भू-सांस्कृतिक दृष्टि से विविधतापूर्ण अंचल एक-दूसरे से बहुत कुछ सीखेंगे, परस्पर मजबूती प्रदान करेंगे तथा इस प्रकार देश की संघीय एवं मिली-जुली संस्कृति की अस्मिता को सुदृढ़ करेंगे।

यहां एक और मुद्दा उठाना जरूरी है जिससे हमें जूझना सीखना होगा। हम इसे 'उच्च शिक्षा द्वारा उत्पीड़न' कह सकते हैं। उच्च शिक्षा (यानी +2 चरण से लेकर स्नातकोत्तर चरण तक) के ज्ञान संबंधी मापदंडों का प्राथमिक एवं पूर्वप्राथमिक चरण के पाठ्यक्रमों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। उच्च स्तरों पर ज्ञान की जो अवधारणाएं विकसित होती हैं उन्हें खींच-तानकर नीचे नर्सरी तक पहुंचा दिया जाता है। शिक्षा व्यवस्था में परीक्षा लेने

वाली संस्थाओं का जो वर्चस्व है और अति-प्रतिस्पर्धात्मक पदों एवं तकनीकी शिक्षण में प्रवेश पाने के लिए प्रवेश परीक्षाओं व कोचिंग कक्षाओं की बढ़ते क्रम में जो भूमिका है, उन सबने मिलकर सीखने-सिखाने की अवधारणा को ही विकृत कर दिया है। जिस उत्पीड़न का हमने ऊपर जिक्र किया है उसकी नींव में यही सब कुछ है। भारत की नर्सरियों एवं किंडरगार्टनों में बिना सोचे-समझे जिस प्रकार मां-बाप के साथ 2-3 वर्ष के शिशुओं की भी प्रवेश परीक्षा ली जाती है और मातृभाषा का उपयोग करने पर नकारात्मक अंक दिए जाते हैं, इस सबकी और क्या व्याख्या हो सकती है? चंडीगढ़ वाली रपट बताती है कि किस प्रकार से तीन साल के शिशुओं को जबरिया 1 से 100 तक की गिनती (उल्टी-सीधी दोनों) करने एवं अपरिचित तुकबंदी को रटने के लिए बाध्य किया जाता है। इसके अलावा दर्जनों जानवरों, फूलों, फलों, रंगों आदि के नाम रटने (वह भी अंग्रेजी में) के लिए बच्चे मजबूर किए जाते हैं। यह विडंबना है कि इस बाल-विरोधी पूर्वप्राथमिक शिक्षा को अभिजात एवं मध्यम वर्गों के अधिकांश मां-बाप का समर्थन प्राप्त है। उनका अनुकरण करते हुए निम्न मध्यम वर्ग और यहां तक कि गरीब मां-बाप भी अपनी हैसियत से बाहर जाकर अपने सीमित संसाधनों को खींच-तानकर ऐसे भ्रामक और बाल-विरोधी पूर्वप्राथमिक स्कूलों में बच्चों को दाखिला दिलवाने की अंधी और संवेदनाहीन दौड़ में शामिल हो जाते हैं। ये अति-महत्वाकांक्षी अभिभावक अपने बच्चों की भावी जीविका हेतु मार्ग प्रशस्त करने के भ्रम में उनको इन तथाकथित 'ज्ञान के गलियारों' में निर्दयतापूर्वक धकेल देते हैं। दरअसल, बच्चों को तब तक पूर्वप्राथमिक शिक्षा के बोझ से उबारा नहीं जा सकता जब तक कि पूर्व-प्राथमिक शिक्षा एवं प्रारंभिक शिक्षा को 'उच्च शिक्षा के उत्पीड़न' से मुक्त नहीं करवाया जाता। सचाई तो यह है कि उच्च शिक्षा को स्वयं ज्ञान तथा अधिगम (सीखने-सिखाने) के स्थापित मापदंडों से मुक्त होने की जरूरत है।

हमें और भी बुनियादी सवाल उठाने होंगे : ज्ञान क्या है? अधिगम क्या है? इस प्रकार के प्रश्न यशपाल समिति की 'शिक्षा बिना बोझ के' नामक बहु-चर्चित रपट के मूल चिंतन बिंदु रहे हैं। एक ऐसी बच्ची की कल्पना कीजिए जो अपने-आप स्वप्रेरणा से किसी वस्तु, घटना या परिघटना की खोजबीन में लगी हुई है। क्या आप इसे सीखने की प्रक्रिया मानेंगे या फिर फटाफट उसे किसी पाठ्यपुस्तक से तैयार जवाब निकालकर दे देंगे? उस बच्ची के बारे में आपकी क्या राय होगी जो पूरे जोश-खरोश के साथ उस विचित्र चिड़िया के बारे में बताती है कि वह अपना घोंसला किस प्रकार बनाती है और अंडे कैसे जनती है? क्या आप इसे सही ज्ञान के रूप में स्वीकारेंगे? या इसे इसलिए नकार देंगे चूंकि यह किसी निर्धारित पाठ्यपुस्तक या पाठ्यक्रम का हिस्सा नहीं है? बच्चों की स्वतंत्र रूप से खोजबीन करने तथा खुद चुने हुए तरीकों और तय की हुई गति से काम करने की प्रवृत्ति के प्रति सच्चा सम्मान रखने पर हमें बाल विकास के कई महत्वपूर्ण सामाजिक-मनोवैज्ञानिक पहलू दिखाई देने लगेंगे। आइए, कुछ क्षणों के लिए शिशुओं की चंदेक प्रवृत्तियों पर ध्यान दें। मसलन, उनका एक ही विषय पर स्वयं को केंद्रित न रख पाना, उन्हें अपनी शारीरिक या

मानिसिक मुद्रा में अकसर परिवर्तन की जरूरत महसूस होना एवं उनमें खेलने, गाना गाने, आराम करने और आसपास की चीजों को उलट-पुलटकर और यहां तक कि इधर-उधर बिखेरकर या तोड़-फोड़कर देखने का स्वभाव। इस सबको देखकर किसी भी प्रौढ़ व्यक्ति की आम प्रतिक्रिया क्या होगी? क्या ऐसा नहीं होगा कि किसी बच्चे में इस प्रकार की प्रवृत्तियों को देखकर उसके शिक्षक या माता-पिता अपना धीरज खो बैठें और अपेक्षित कड़क व्यवहार करें? दरअसल, वयस्क दुनिया को बच्चों के द्वारा सीखने के इन अनूठे तरीकों और उन्हें मानव ज्ञान के साथ जोड़ने के बारे में स्थापित धारणाओं की जगह नई धारणाएं सीखनी होंगी।

इस सबके अलावा हमें प्रतिभा, बुद्धि, समझ, अनुशासन, तौर-तरीकों आदि की स्थापित अवधारणाओं पर सवाल उठाने की तैयारी करनी होगी। उदाहरण के लिए प्रतिभा पर विचार कीजिए। नवोदय विद्यालय की प्रवेश परीक्षाओं में प्रतिभा को एक मानकीकृत तरीके से परिभाषित किया गया है। इस प्रकार के परीक्षण यह सुनिश्चित कर देते हैं कि अधिकांश ग्रामीण बच्चों को छांटकर और उन पर 'प्रतिभाहीन' होने का ठप्पा लगाकर अलग कर दिया जाएगा। एक बच्ची की कल्पना कीजिए जो मिट्टी के खूबसूरत बरतन डिजाइन करती है और बनाती भी है, वह बच्ची जो मधुर लोकगीत गाती है, अपने पर्यावरण में हो रहे परिवर्तनों के बारे में वैज्ञानिक अवलोकन करती है या गांव में हमउम्र बच्चों के बीच सहज नेतृत्व प्रदान करती है। ऐसी बच्ची के बारे में ज्यादा संभावना यह है कि यदि परीक्षाओं में उसको अच्छे अंक नहीं मिलते, तो उसको स्थापित मूल्यांकन मापदंडों के आधार पर 'प्रतिभाहीन' घोषित कर दिया जाता है।

आइए, अब अनुशासान की अवधारणा पर विचार करें। कुल मिलाकर इसके मायने हैं कि बच्चे अपने मां-बाप या शिक्षक के निर्देशों का बगैर कोई सवाल उठाए पालन करें। या इसका अर्थ वे बच्चे भी हो सकते हैं जो अपने वयस्कों द्वारा हुक्म मिलने पर रोबोट जैसा व्यवहार करने लगें। स्थापित मापदंडों के अनुसार पूर्वप्राथमिक चरण की बच्ची में यह एक अति वांछनीय गुण माना जाएगा चाहे वह कुछ और नहीं भी सीख रही हो। क्या कभी किसी ने सोचा है कि कक्षा से उठने वाला 'शोरगुल' सीखने की एक सक्रिय प्रक्रिया भी हो सकती है? शोरगुल को हमेशा अनुशासनहीनता मानना सही नहीं है। अलग-अलग प्रकार के शोरगुल, अलग-अलग प्रकार की सीखने की पद्धतियों तथा परिस्थितियों का द्योतक हो सकते हैं। अतः मास्टरजी का एक 'डंडा' विभिन्न प्रकार की शोरगुल वाली स्थितियों का सामाधान नहीं हो सकता।

अब पूर्वप्राथमिक चरण में सीखने एवं संप्रेषण के माध्यम के रूप में मातृभाषा के बारे में विचार किया जाए। मस्तिष्क की क्रियाओं पर हाल में हुए शोध बताते हैं कि बच्चों के मस्तिष्क का एक विशेष भाग होता है जो केवल मातृभाषा के जरिए सीखने और संवाद करने के लिए ही प्रतिबद्ध रहता है। कालांतर में मस्तिष्क में एक नया हिस्सा विकसित होता है जो दूसरी या तीसरी भाषा को सीखने की क्षमता रखता है। इसलिए यदि स्कूली

शिक्षा के शुरुआत में ही बच्चों पर मातृभाषा के अलावा अन्य भाषाएं लादना शुरू कर दिया जाता है तो धीरे-धीरे यह भाग उसमें भंडारित सूचनाओं समेत नष्ट हो जाएगा। यानी बच्चे ने मातृभाषा के जरिए जो कुछ सीखा है वह भी नष्ट हो जाएगा। इसके स्पष्ट मायने हैं कि यदि बचपन में मातृभाषा की अवहेलना की जाएगी तो मस्तिष्क की संभावना घट जाएगी। एक बात और। जब हम मातृभाषा की बात करते हैं तो इसे किसी राज्य या अंचल की मानकीकृत भाषा का पर्याय नहीं मान लेना चाहिए। उदाहरणार्थ, बिहार में इसका अर्थ होगा भोजपुरी, मगही या संथाली, न कि हिंदी। शैक्षिक शोध से यह पता चला है कि बच्चे की समझने और अभिव्यक्त करने की क्षमता बचपन में मातृभाषा के जरिए सीखने की क्षमता पर निर्भर है। इस दृष्टि से देखा जाए तो भारत के अधिकांश पूर्वप्राथमिक स्कूल और किंडरगार्टन न केवल बाल-विरोधी प्रतीत होंगे, अपितु असामाजिक भी लगेंगे।

जो मुद्दे ऊपर उठाए गए हैं उनका यह निहितार्थ है कि पूर्वप्राथमिक स्तर के लिए अध्यापक-शिक्षण कार्यक्रमों का आमूल-चूल पुनर्गठन किया जाए। इस हेतु अध्यापक-शिक्षण का उद्देश्य पूरी तरह से एक नई किस्म के शिक्षक तैयार करने का होगा। उदाहरणार्थ, वर्तमान शिक्षक बच्चों में रटने की प्रवृत्ति या यंत्रवत सोच का निर्माण करने में माहिर हैं। अतः ऐसा अध्यापक-शिक्षण पाठ्यक्रम विकसित करना होगा जिसके जरिए तैयार होने वाले शिक्षकों में अन्य गुणों के साथ-साथ बच्चों में स्वयं खोजबीन करने, सौंदर्य को सराहने एवं जीवन की यथार्थमय परिस्थितियों से जूझने की क्षमता पैदा करने के गुण भी होंगे। हम जिस नई किस्म के पूर्वप्राथमिक शिक्षक की बात कर रहे हैं उसमें यह समझ होगी कि कब, कहां और क्यों लोचदार होने की जरूरत है, सांस्कृतिक अंतरों का विश्लेषण कैसे किया जाए और आस-पड़ोस के विभिन्न प्रकार के सामाजिक समूहों के साथ कैसे जुड़ा जाए। उसमें यह भी समझ होगी कि शिशु-देखभाल एवं शिक्षा केंद्रों के नियोजन एवं प्रबंधन हेतु स्थानीय समुदायों को किस प्रकार संगठित किया जाए। इस प्रकार के शिक्षक से यह अपेक्षा रहेगी कि वह बच्चों के सीखने के माहौल में उनकी सांस्कृतिक विरासत, स्थानीय वस्तुओं तथा सामाजिक प्रसंगों का समावेश कर सके। पूर्वप्राथमिक स्तर का शिक्षक तभी कारगर हो पाएगा जब वह सक्रिय शोधकर्ता बने जो बच्चों से निरंतर सीखता रहता है, रोज के अनुभवों का विश्लेषण करता है तथा बच्चों और उनके मां-बाप के साथ काम करने के बारे में अपनी समझ को लगातार समृद्ध करता जाता है।

अध्यापक-शिक्षण पाठ्यक्रम के पुनर्निमाण के संदर्भ में दो और आयामों का संक्षिप्त उल्लेख करना जरूरी है। पहला, इस प्रकार के क्रांतिकारी अध्यापक-शिक्षण कार्यक्रमों के लिए 'शिक्षकों के शिक्षक' ('शिक्षकों के प्रशिक्षक') कहां से जाएंगे। संभवतः इस प्रकार की संस्थाएं या कार्यक्रम देश में कहीं नहीं हैं जो ऐसी पूर्वप्राथमिक शिक्षा हेतु शिक्षकों के शिक्षक बनाने का काम करते हों। संयोगवश देश के प्रारंभिक एवं माध्यमिक शिक्षा हेतु भी शिक्षकों के शिक्षक तैयार करने के कार्यक्रम पर अभी तक कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया है। इस प्रकार के शून्य का फायदा उन लोगों द्वारा उठाया जा सकता है जो वर्तमान

पूर्वप्राथमिक शिक्षा को इसकी विकृतियों से मुक्त कराने के लिए 'शिक्षकों के शिक्षक' तैयार करने हेतु नवाचारी पाठ्यक्रमों का विकास करना चाहते हैं।

अध्यापक-शिक्षण पाठ्यक्रम के पुनर्गठन के संदर्भ में जिस दूसरे आयाम पर विचार करना जरूरी है वह है नारीवादी दृष्टिकोण। यह सच है कि पूर्वप्राथमिक पाठ्यक्रमों को नारीवादी दृष्टिकोण की कसौटी पर परखने का कोई पूर्व अनुभव नहीं है। लेकिन अध्यापक-शिक्षण पाठ्यक्रमों एवं पूर्वप्राथमिक शिक्षा में इस आयाम को जोड़ने के सामाजिक महत्व को यहां दोहराने की जरूरत नहीं है।

क्या हम पूर्वप्राथमिक शिक्षा में क्रांतिकारी परिवर्तन की इस चुनौती को स्वीकारने के लिए तैयार हैं? एक बात तय है कि यदि इस प्रकार की पहलकदमी के लिए हम आवश्यक साहस और दृष्टि नहीं जुटा पाते तो यह देश स्वयं हमारे बच्चों के लिए एक बोझ बन जाएगा।

11. आखिर बस क्यों गिरी

कोठारी शिक्षा आयोग (1964-66) की शायद सबसे अधिक क्रांतिकारी अनुशंसा 'समान स्कूल व्यवस्था' स्थापित करने और हर स्कूल को (प्राइवेट स्कूलों समेत) पड़ोसी स्कूल की अवधारणा के अनुरूप ढालने की थी। इसको लेकर आयोग की रपट पर विचार करने के लिए निर्मित संसदीय समिति में गरमागरम बहस हुई। लेकिन अंत में न चाहते हुए भी संसद को आयोग के इस तर्क के सामने झुकना पड़ा कि इस अनुशंसा का पालन किए बगैर देश में सामाजिक सौहार्द एवं समता स्थापित करना संभव ही नहीं है। अंततः इस अनुशंसा के पक्ष में पहली राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1968) में चंदेक ढुलमुल वाक्य भी शामिल किए गए। लेकिन उसके बाद अगले बीस वर्षों तक इस दिशा में कोई कदम नहीं उठाया गया, बल्कि निजी अभिजात स्कूल व्यवस्था को बढ़ते क्रम में सरकारी समर्थन मिला। सरकार ने अपने तंत्र के अंदर भी सरकारी शैली के 'पब्लिक स्कूल' खोलकर कोठारी आयोग की इस अवधारणा के साथ खिलवाड़ किया।

सन् 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में इस बहु-परती स्कूल व्यवस्था में दो और नई परतें बिछाई गईं—एक, सरकारी स्कूलों की परत के ऊपर नवोदय विद्यालयों की और दूसरी, सरकारी स्कूलों की परत के भी नीचे बाल श्रमिकों के लिए घटिया दर्जे के औपचारिकेतर (नॉन-फार्मल) केंद्रों की विशाल परत। साथ-साथ लगभग सभी राज्य सरकारों ने अपनी-अपनी शैली में विशेष सुविधायुक्त स्कूल खोले, जिनमें राजनीतिक अथवा प्रशासनिक संपर्क वाले परिवारों के बच्चे कम फीस पर पब्लिक स्कूल शैली में पढ़ने का अहसास पा सकते थे। दिल्ली राज्य सरकार ने भी इसी शैली में मॉडल स्कूल या सर्वोदय स्कूल और नई दिल्ली नगरपालिका परिषद ने नवयुग स्कूल खोले हैं। इन स्कूलों में प्रवेश पाने के लिए हर सक्षम परिवार किसी राजनेता अथवा वरिष्ठ अधिकारी के साथ अपना सूत्र जोड़ने की तिकड़म भिड़ाता रहता है।

नवंबर 1997 में दिल्ली की भजनपुरा बस्ती से सिविल लाइंस स्थित सर्वोदय स्कूल जाती हुई बच्चों से भरी हुई एक बस वजीराबाद पुल से यमुना नदी में गिर गई। लगभग तीस बच्चे डूबकर खत्म हो गए। प्रस्तुत लेख में इस त्रासद घटना को 'समान स्कूल व्यवस्था' की नीति की जगह 'समानांतर स्कूल व्यवस्था' की नीति लागू करने के स्वाभाविक परिणाम के रूप में देखने की कोशिश की गई है।

दिल्ली की स्कूल बस दुर्घटना के कारण एक अजीबोगरीब बहस छिड़ गई है। बहस का मुद्दा यह है कि विगत 18 नवंबर 1997 की सुबह यमुना नदी के वजीराबाद पुल पर पड़े रेत के जिस ढेर पर चढ़कर एक स्कूल बस नदी में जा गिरी और 30 स्कूली बच्चों की

मूल स्रोत : दुर्घटना के तुरंत बाद लिखा गया अप्रकाशित लेख, नवंबर 1997 में.

मौत हो गई, वह रेत का ढेर 'अवरोध' था अथवा 'कचरा'। दिल्ली प्रशासन के लोक निर्माण विभाग (पी.डब्ल्यू.डी.) के अनुसार वह ढेर अवरोध नहीं, कचरा था और इसलिए उसको साफ करने की जिम्मेदारी दिल्ली नगर निगम की थी। नगर निगम का कहना है कि अगर वह रेत सड़क पर फैली हुई होती तो वह कचरा होती और हम झाड़ू से उसे साफ कर देते। लेकिन वह ढेर के रूप में थी, अतः उसे हटाने की जिम्मेदारी लोक निर्माण विभाग की है।

बहस के मुद्दे और भी हैं। दिल्ली सरकार के मुख्यमंत्री एवं उनके प्रशासनिक अधिकारियों का आरोप है कि निर्धारित सीमा से कहीं अधिक बच्चों से खचाखच भरी बस को रोकने और उसके ड्राइवर पर चालान करने की जिम्मेदारी दिल्ली पुलिस की थी जो कि केंद्रीय गृह मंत्रालय के अधीन काम करती है। केंद्रीय सरकार का कहना है कि यह जिम्मेदारी दिल्ली प्रशासन की है जिसने अपने मातहत संचालित सर्वोदय विद्यालय क्र. 2, लुडलो कासल क्षेत्र (संक्षेप में लुडलो कासल क्र. 2 विद्यालय) को ऐसी बस चलाने की अनुमति दी। लुडलो कासल क्र. 2 विद्यालय के मुअत्तल हुए प्राचार्य का कहना है कि यमुना पार की बस्तियों से विद्यार्थियों को भरती करने के लिए ताकतवर राजनीतिज्ञों एवं वरिष्ठ अधिकारियों ने उन्हें बाध्य किया और उसी दबाव में उन्हें बस की क्षमता से अधिक विद्यार्थियों को स्कूल बस में यात्रा करने की अनुमति देनी पड़ी।

एक मुद्दा यह भी है कि स्कूल बसों का इंतजाम कौन करता है। दिल्ली प्रशासन के अनुसार उनका इससे कोई लेना-देना नहीं है। लुडलो कासल क्र. 2 विद्यालय के नए प्राचार्य ने वक्तव्य दिया है कि इन बसों का इंतजाम वे नहीं करते। उनके अनुसार बसों का ठेका देने का काम अभिभावक-शिक्षक संघ द्वारा गठित एक समिति के माध्यम से किया जाता है जिसकी ओर से प्राचार्य ठेके का टेंडर बुलाता है। अतः जिम्मेदारी अभिभावक-शिक्षक संघ की है।

बस मालिकों के ट्रांसपोर्ट संगठन द्वारा कहा गया है कि उनको तो स्कूल बसों का ठेका एक तयशुदा कीमत पर मिलता है जिसका इससे कोई संबंध नहीं होता कि बस में कितने बच्चे यात्रा करेंगे। स्कूलों के प्रबंधन बच्चों से व्यक्तिगत तौर पर बस यात्रा की फीस लेते हैं और बस की क्षमता से अधिक बच्चों को भरकर मुनाफा कमाते हैं। शायद इस कथन में कुछ सचाई भी है। चूंकि पिछले हफ्ते की जांच-पड़ताल से पता चला है कि लुडलो कासल क्र. 2 विद्यालय की बस से स्कूल प्रबंधन को मुनाफा हो रहा था।

सर्वोच्च न्यायालय भी अचानक जाग गया है। उसके आदेशों के अनुसार अब सभी भारी वाहनों में गति अवरोधक यंत्र लगाने होंगे ताकि कोई भी भारी वाहन शहरी सीमा के अंदर 40 किलोमीटर प्रतिघंटा की रफ्तार से ज्यादा न चल सके। कोर्ट ने यह भी आदेश दिया है कि कोई भी भारी वाहन अब दूसरे किसी वाहन को 'ओवरटेक' नहीं करेगा और वरिष्ठ अधिकारियों से लैस फ्लाइंग स्क्वाड इन आदेशों का क्रियान्वयन करवाएंगे। स्कूल बस के ड्राइवरों को कम से कम दस साल का अनुभव होना चाहिए और उनके ऊपर लापरवाही

से गाड़ी चलाने का कोई भी पुराना आरोप नहीं होना चाहिए। इसके अलावा कोर्ट ने और भी कई आदेश दिए हैं ताकि ऐसी दुर्घटना दोबारा न हो। दिल्ली प्रशासन भी वादा कर रहा है कि अब वह स्कूल बसों के लिए एक साफ-सुथरी मजबूत नीति बनाएगा जो ऐसी दुर्घटनाओं पर हमेशा के लिए विराम चिन्ह लगा देगी।

मूल कारण का डर

इन तमाम मुद्दों और लंबी बहसों में सभी पक्षों ने एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगाते हुए एक बात की सावधानी बरती है कि इस दुर्घटना के मूल कारण पर कोई बहस न हो पाए। दुर्घटना से जुड़े केंद्रीय प्रश्न को उठने ही नहीं दिया गया। मूल प्रश्न यह है कि स्कूल बसों की जरूरत ही क्यों पड़ती है? यमुना पार की बस्तियों से लुडलो कासल क्र. 2 विद्यालय में पढ़ने के लिए बच्चों को क्यों आना पड़ा? यमुना पार की भजनपुरा बस्ती (जहां के कई बच्चे दुर्घटनाग्रस्त बस में सवार थे) में क्या स्कूल नहीं हैं? ये सबको मालूम है कि भजनपुरा बस्ती में भी स्कूल हैं और भजनुपरा में ही क्यों, दिल्ली की हर बस्ती में, हर इलाके में, सरकारी एवं प्राइवेट स्कूलों तथा स्कूलनुमा दुकानों की भरमार है। इसके बावजूद उत्तर दिल्ली के बच्चे 20-25 किलोमीटर बस यात्रा करके दक्षिण दिल्ली के स्कूलों में जाते हैं। दक्षिण दिल्ली के बच्चे पश्चिमी दिल्ली के स्कूलों में, मध्य दिल्ली के नोएडा के स्कूलों में और नोएडा के बच्चे रोज यमुना पार करके दिल्ली आते हैं। स्कूल बसों का ठेका लेना और देना दिल्ली का एक बड़ा धंधा है। जिन परिवारों के पास महंगे स्कूलों और उनकी खर्चीली बसों के लिए पैसा नहीं है, वे ऑटो रिक्शा और साइकिल रिक्शा में अपने बच्चों को असबाब की तरह लादकर संतोष कर लेते हैं। रोज सबेरे बच्चों की दिल्ली के एक कोने से दूसरे कोने और एक इलाके से दूसरे इलाके तक की भागदौड़ अपने आप में एक अद्भुत नजारा है।

शिक्षा नीति बनाने वाले राजनीतिक नेता एवं प्रशासनिक अधिकारी, चाहे वे केंद्रीय सरकार के हों या दिल्ली सरकार के, स्कूली बच्चों की इस भागदौड़ के मूल कारणों पर विचार करने से कतरा रहे हैं। उनकी सारी बहसें और वादे बसों के लिए नए नियम-कानून बनाने तक सीमित हैं। इन सत्तासीन लोगों की कतई तैयारी नहीं है कि उस नीति की समीक्षा की जाए जो स्कूली बच्चों को हर सुबह इधर-उधर भटकने के लिए मजबूर करती है।

आखिर, यह नीति क्या है? इसे समझने की जरूरत है। इस नीति के तहत सरकार अपने ही स्कूली तंत्र के हालात बिगड़ने देती है। इन हालात को इतना दयनीय हो जाने दिया जाता है कि अधिकांश बच्चे वहां जाना पसंद नहीं करते, चूंकि वहां जो कुछ सिखाने का वादा है वह सिखाया नहीं जाता। तो यह अचरज क्यों है कि मां-बाप इन स्कूलों से संभव होते ही अपने बच्चों को निकाल लेते हैं। संभव होने के मायने यह हैं कि उस इलाके

में इन दयनीय सरकारी स्कूलों से जरा सा भी बेहतर दिखने वाला कोई निजी स्कूल वहां खुल जाए, चाहे वह 'कान्वेंट-शैली' का निम्न कोटि का ही स्कूल क्यों न हो। यह पूरी प्रक्रिया सरकार केवल चुपचाप नहीं देखती रहती, बल्कि इन निजी स्कूलों को मान्यता एवं अन्य प्रकार का समर्थन भी देती रहती है। इसी नीति के तहत, इसके पहले कि सरकारी स्कूली तंत्र की विश्वसनीयता शून्य हो जाए, सरकार सैकड़ों (या हजारों) घटिया स्कूलों के बीच एकाध उम्दा गुणवत्ता वाला स्कूल खोल देती है (उदा. दिल्ली सरकार के सर्वोदय, नवयुग एवं प्रतिभा विद्यालय)। ऐसे इक्का-दुक्का उम्दा स्कूल खोलने से सरकार अपने दो महत्वपूर्ण उद्देश्यों को पूरा करने में सफल हो जाती है। पहला, इससे सरकार आम जनता में यह स्थापित कर पाती है कि सरकार अभी भी अच्छे स्कूल चलाने में सक्षम है। लोकतंत्र में सरकार के लिए जनता में अपनी विश्वसनीयता को बनाए रखना भी जरूरी है। दूसरा, ऐसा इक्का-दुक्का स्कूल खोलकर सरकार पूरी जनता का ध्यान शेष स्कूली तंत्र की दयनीय हालात से हटाकर इस स्कूल की ओर खींच लेती है। तब सभी लोग अपने बच्चों को इस स्कूल में भरती करवाने के प्रयास में जुट जाते हैं और मुख्य स्कूली तंत्र की आलोचना बंद हो जाती है ('बेचारी सरकार आखिर क्या-क्या करे!')।

जहां तक दिल्ली सरकार के सर्वोदय स्कूलों का प्रश्न है वहां सरकार ने गुणवत्ता के अलावा एक और महत्वपूर्ण सिद्धांत स्थापित किया है। यह सिद्धांत है एक समेकित विद्यालय का—कक्षा एक से बारह तक। एक बार बच्चे को कक्षा एक में प्रवेश मिल गया तो उसकी स्कूली शिक्षा खत्म होने तक उसकी जिम्मेदारी एक ही स्कूल की हो जाती है। विडंबना यह है कि यही दिल्ली सरकार अपने अधिकांश स्कूलों के मामले में इस सिद्धांत का उल्लंघन करती है। पांचवीं तक के प्राथमिक विद्यालय नगर निगम द्वारा चलाए जाते हैं और कक्षा छह से दस या बारह तक के विद्यालय अलग से दिल्ली प्रशासन द्वारा।

समान स्कूल व्यवस्था

इस सरकारी नीति को समझने के लिए हमें लगभग तीस साल पीछे जाना होगा। सन् 1966 में कोठारी शिक्षा आयोग ने अपनी एक मुख्य सिफारिश में कहा था कि पूरे देश में 'समान स्कूल व्यवस्था' (कॉमन स्कूल सिस्टम) स्थापित की जाए जिसमें देश के हर बच्चे को—चाहे वह किसी भी धर्म, वर्ग, जाति, लिंग अथवा क्षेत्र का हो—समान गुणवत्ता वाली शिक्षा दी जाए। कोठारी आयोग के अनुसार हर वर्ग अथवा सामाजिक समूह की हैसियत के अनुसार बनाई गई स्कूलों की समानांतर परतें समाज को हमेशा के लिए बांटकर रखती हैं, यानी समाज की विषमतामूलक यथास्थिति को न केवल बरकरार रखती हैं बल्कि उसे मजबूत भी बनाती हैं। इसको बदलने के लिए आवश्यक होगा कि शिक्षा को एक बुनियादी हक मानते हुए हर बच्चे के लिए समान गुणवत्ता वाली स्कूल प्रणाली की व्यवस्था हो। 1968 में संसद द्वारा पारित भारत की पहली शिक्षा नीति में कोठारी आयोग की इस सिफारिश

को स्वीकारते हुए यह कहा गया कि ऐसी स्कूल प्रणाली के जरिए ही राष्ट्रीय एकजुटता एवं सामाजिक सद्भाव का निर्माण संभव हो सकेगा। राष्ट्रीय नीति के इस संकल्प के बावजूद विभिन्न आर्थिक तथा सामाजिक समूहों के लिए अलग-अलग प्रकार की स्कूल व्यवस्थाएं खड़ी करने का काम निर्बाध जारी रहा। इसी अवधि में तथाकथित पब्लिक स्कूल (जिनमें 'पब्लिक' का अर्थ केवल वह पब्लिक है जो खर्चीली फीस दे सकती है) सरकारी वरदहस्त पाकर फलते-फूलते रहे।[1] सत्तर के दशक में अनेक प्रकार के खर्चीले और कम खर्चीले प्राइवेट स्कूलों की संख्या बढ़ती गई—जिसकी जैसी हैसियत उसी के अनुसार वैसा खर्च वाला स्कूल। जिनकी हैसियत और भी कम थी उनके बच्चों के लिए कुकुरमुत्तों की तरह 'कान्वेंट शैली' में स्कूलनुमा दुकानें खुलने लगीं जो अस्सी के दशक में छोटे शहरों और ग्रामीण कसबों के शैक्षिक बाजारों का हिस्सा बन गईं।

सरकार द्वारा नीति का उल्लंघन

सामाजिक यथास्थिति बरकरार रखने के लिए स्वयं सरकार ने भी अपने मातहत स्कूलों में शिक्षा का एक औजार के रूप में इस्तेमाल किया। इसीलिए 1968 की शिक्षा नीति के बाद तेजी के साथ सरकारी अफसरों के बच्चों के लिए केंद्रीय विद्यालय और सैनिक अधिकारियों के बच्चों के लिए सैनिक विद्यालय खोले गए। इसके साथ-साथ सरकारी स्कूल व्यवस्था की गुणवत्ता और सुविधाओं को सत्तर के दशक में लगातार गिरने दिया गया।[2] 1986 में संसद द्वारा पारित दूसरी शिक्षा नीति ने एक बार फिर कोठारी आयोग द्वारा अनुशंसित 'समान स्कूल व्यवस्था' को क्रियान्वित करने का संकल्प लिया। विडंबना यह है कि उसी नीति ने इस सिफारिश का उल्लंघन करते हुए ग्रामीण इलाकों के कुछ चुने हुए बच्चों के लिए अति खर्चीले तथा 'पब्लिक' स्कूल की तर्ज पर हर जिले में एक नवोदय विद्यालय की स्थापना की। यानी 1000 से 1200 प्राथमिक स्कूलों के पीछे मात्र एक नवोदय विद्यालय। सरकारी स्कूलों की तुलना में इन स्कूलों में प्रत्येक बच्चे पर 15-20 गुना अधिक खर्च करके ऊंची गुणवत्ता वाली शिक्षा देने का वादा किया गया। जहां एक ओर प्रत्येक नवोदय विद्यालय के भवन निर्माण के लिए ढाई-तीन करोड़ रुपए (1990 की कीमतों पर) का आबंटन किया गया, वहीं दूसरी ओर एक आम सरकारी स्कूल के भवन निर्माण के लिए बीस-तीस हजार रुपए देने में भी सरकार अपनी असमर्थता जाहिर करती रही।

बाल मजदूरों के लिए अलग परत

सन् 1986 की शिक्षा नीति ने वह काम भी किया जो उसके पहले किसी भी सरकारी नीति का हिस्सा नहीं था। इस नीति के जरिए आजाद भारत में पहली बार सरकारी स्कूलों की परत के नीचे उससे भी घटिया शिक्षा देने वाले औपचारिकेतर (नॉन-फार्मल) शिक्षा केंद्रों

की एक और नई तथा समानांतर परत बिछाने का काम शुरू हुआ। बिना किसी शर्म के खुलकर यह कहा गया कि औपचारिकेतर शिक्षा केंद्र, जो रात को लगा करेंगे, समाज के सबसे गरीब तबके के लिए हैं, यानी बाल मजदूरों के लिए। भारतीय संविधान के मौलिक अधिकार वाले खंड तीन में स्पष्ट लिखा है कि बाल मजदूरी प्रतिबंधित है और संविधान के नीति निर्देशक तत्व वाले खंड चार में राज्य को निर्देशित किया गया है कि वह ऐसी आर्थिक सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करे जिसमें किसी भी बच्चे को मजदूरी करने के लिए बाध्य न होना पड़े। इसी संविधान की शपथ खाने वाली सरकार ने 1986 की शिक्षा नीति के जरिए औपचारिकेतर शिक्षा केंद्रों की योजना शुरू करके बाल मजदूरी को वैधानिकता दी, न कि उसको खत्म करने के लिए कोई यथोचित सामाजिक-आर्थिक कदम उठाए।

शिक्षा का बाजार और विश्व बैंक

सन् 1992 में शिक्षा नीति का संशोधित रूप प्रस्तुत करते हुए संसद ने तीसरी बार 'समान स्कूल व्यवस्था' के प्रति अपनी कटिबद्धता जाहिर की। लेकिन इस संशोधित नीति ने भी एक ओर चंदेक चुने हुए विद्यार्थियों के लिए अति खर्चीले नवोदय विद्यालय और दूसरी ओर करोड़ों बाल मजदूरों के लिए रात्रिकालीन औपचारिकेतर शिक्षा केंद्रों की दोहरी नीति को आगे बढ़ाया। केवल इतना ही नहीं वरन 1994 से विश्व बैंक द्वारा पोषित जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डी.पी.ई.पी.) के जरिए स्कूलविहीन गांवों के लिए वैकल्पिक विद्यालय के नाम पर स्कूलों की एक और श्रेणी खड़ी की जा रही है।[3] दरअसल, शिक्षा एक बुनियादी हक के रूप में नहीं, बल्कि एक आकर्षक धंधे के रूप में विकसित हो रही है। अब इसमें अनिवासी भारतीय और बहुराष्ट्रीय कंपनियां भी अपनी जगह बना रही हैं। इस माहौल में लुडलो कासल क्र. 2 के द्वारा अपनी बस को खचाखच भरकर मुनाफा कमाने की बात स्वाभाविक ही दिखती है, चूंकि *शिक्षा एक व्यवसाय के रूप में स्वीकारी जा चुकी है*।

समानांतर स्कूल व्यवस्था

स्कूली शिक्षा की परत-दर-परत व्यवस्था बिछाने और उनको पोषित करने वाली सरकारी नीति का आज यह परिणाम है कि नाना प्रकार की गुणवत्ता और सुविधाओं वाले स्कूल बन गए हैं। एक ओर वे दो-तिहाई सरकारी प्राइमरी स्कूल हैं जहां दो या दो से कम शिक्षक पांच कक्षाएं पढ़ाते हैं और औसतन 50 विद्यार्थियों के पीछे एक शिक्षक होता है। दूसरी ओर वे महंगे गैर-सरकारी (निजी) स्कूल हैं जहां एक शिक्षक मात्र 15-20 बच्चों को पढ़ाता है—हर कक्षा के लिए एक अलग शिक्षक तो होता ही है। एक ओर वे सरकारी स्कूल हैं जहां न ब्लैकबोर्ड है, न टाट-पट्टी और न ही कोई पेशाबघर। दूसरी ओर वे अभिजात स्कूल हैं जो एयरकंडीशन सुविधायुक्त हैं और जहां बच्चे कंप्यूटर व इंटरनेट के जरिए तथाकथित

अधुनातन जानकारी[4] तक पहुंच पाते हैं। हाल के एक सर्वेक्षण में पाया गया कि होशंगाबाद जिले (मध्य प्रदेश) के एक विकास खंड के ग्रामीण क्षेत्र में 84 प्रतिशत स्कूल ऐसे हैं जहां पांच कक्षाओं को पढ़ाने के लिए दो या दो से कम शिक्षक हैं।[5] ग्रामीण क्षेत्रों की तो बात ही छोड़िए, भारत की राजधानी एवं महानगर दिल्ली में भी तंबुओं में चलने वाले और बगैर पेशाबघर तथा ब्लैकबोर्ड वाले स्कूलों की कमी नहीं है। मेज-कुरसी की बात तो दूर रही, बच्चों को बैठने के लिए टाट-पट्टी तक नहीं रहती और दिल्ली की सर्दी में बच्चे नंगे फर्श पर बैठने को मजबूर होते हैं।

शिक्षा में लॉलीपॉप नीति

इस बदहाल व्यवस्था में सरकार अकसर कुछ इने-गिने सरकारी स्कूलों को बेहतर सुविधाएं देकर प्राइवेट स्कूलों के समकक्ष बनाने की नीति अपनाती है। दिल्ली प्रशासन के शिक्षा संचालक के एक वक्तव्य के अनुसार 986 सरकारी स्कूलों में से चंदेक स्कूलों को एक विशेष दर्जा दिया गया है। लुडलो कासल क्र. 2 विद्यालय उनमें से एक है। जाहिर है कि इन इने-गिने विद्यालयों में बच्चों को भरती करवाने की जबरदस्त होड़ होगी। हर व्यक्ति किसी बड़े नेता, विधायक या वरिष्ठ अधिकारी का सहारा लेकर अपने बच्चों को इन स्कूलों में भरती करवाएगा। आखिर, क्यों नहीं? कम फीस में प्राइवेट स्कूलों जैसी सुविधाएं कौन नहीं चाहेगा? इस अफरातफरी में चंदेक परिवारों को छोड़कर शेष सभी लाचारी में आम सरकारी स्कूलों में अपने बच्चों को भेजेंगे या कान्वेंट शैली की सस्ती स्कूलनुमा दुकानों में। जिनकी हैसियत इतनी भी नहीं होगी, वे मजदूरी करने वाले अपने बच्चों को रात्रिकालीन औपचारिकेतर शिक्षा केंद्रों में भेजेंगे। यदि किसी कारणवश उनकी बस्ती में ऐसे केंद्र भी नहीं हुए तो फिर 'दिल्ली सर्वशिक्षा अभियान' द्वारा संचालित रात्रिकालीन प्रौढ़ साक्षरता कक्षाओं (यदि वे चल रही हों तो) में तो जगह मिल ही जाएगी। इस तरह विश्व बैंक द्वारा वित्त-पोषित 'सबके लिए शिक्षा' योजना को भी न्यायोचित ठहराया जा सकेगा जिसके तहत प्रौढ़ साक्षरता कक्षाओं के दरवाजे 9-14 वर्ष आयु समूह के बच्चों के लिए खोले गए। यह दीगर बात है कि इसके जरिए न तो शिक्षा मिलेगी और न ही शिक्षा के सच्चे मायने की खोजबीन की जाएगी।

यह रहस्य है रोज सबेरे बच्चों से लदी हुई स्कूली बसों, ऑटो रिक्शाओं एवं साइकिल रिक्शाओं की भागदौड़ का। आखिर वे क्या कारण हैं, जिनके चलते भजनपुरा के आम सरकारी स्कूलों में घटिया दर्जे की शिक्षा दी जाती है और 986 सरकारी स्कूलों में से केवल इने-गिने स्कूलों में ऐसी शिक्षा जिसमें हर परिवार अपने बच्चों को डालना चाहे? वे क्या कारण हैं जिनके चलते आजादी के पचास साल बाद भी दोयम दर्जे की शिक्षा देने वाले औपचारिकेतर शिक्षा केंद्र, वैकल्पिक स्कूल या शिक्षा गारंटी योजना के केंद्र सरकार को चलाने पड़े और ऐसी साक्षरता कक्षाओं की व्यवस्था करनी पड़ी जहां प्रौढ़ों की जगह 9-14

वर्ष आयु समूह के बच्चे अधिक होते हैं?

यह समझने की जरूरत है कि सरकार स्वयं केंद्रीय विद्यालय, सैनिक विद्यालय, नवोदय विद्यालय, नवयुग विद्यालय, प्रतिभा विद्यालय और लुडलो कासल क. 2 विद्यालय जैसे सर्वोदय विद्यालयों की तर्ज पर अलग-अलग समानांतर श्रेणियों के स्कूल क्यों चलाती है। इसी प्रश्न के साथ यह भी समझना जरूरी होगा कि यही सरकार अधिकांश सरकारी स्कूलों को बेहतर बनाने का कोई विश्वसनीय कार्यक्रम क्यों नहीं उठाती।

समानांतर स्कूलव्यवस्था खड़ा करने की सरकारी नीति के तीन उद्देश्य पहचाने जा सकते हैं। पहला, हर नई परत को बिछाने का काम शुरू करके सरकार को यह बहाना मिल जाता है कि मुख्य स्कूलीतंत्र को सुधारने का काम कुछ और समय तक टाला जाए। इसके ठोस मायने हैं कि स्कूलीतंत्र को सुधारने के लिए आवश्यक पूंजी निवेश से सरकार बच सकती है। यानी चंदेक स्कूलों को सुधारकर कम पूंजी निवेश से भी काम चलाया जा सकता है। दूसरा, गरीब जनता के लिए दो-चार साल तक शिक्षा की यह नई परत लॉलीपॉप का काम करती है। इसके जरिए सब गरीब बच्चों को उम्दा शिक्षा तो मिल नहीं सकती लेकिन उसकी उम्मीद जरूर बनी रहती है। तीसरा, संसद और विश्व बैंक जैसी अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों को यह ढाढ़स देना संभव हो जाता है कि शिक्षा की गुणवत्ता सुधारने के लिए कुछ काम हो रहा है और साथ-साथ गरीब बच्चों को शिक्षा उपलब्ध कराने का भी प्रयास चल रहा है। इस प्रकार देश की अर्थव्यवस्था की प्राथमिकताओं को बदले बगैर राहत की सांस ली जा सकती है। इससे विश्व बैंक भी संतुष्ट रहता है चूंकि सामाजिक विकास के क्षेत्र में पूंजी निवेश में कोई महत्वपूर्ण बढ़ोत्तरी किए बगैर वैश्वीकरण का एजेंडा आगे बढ़ रहा है।

स्पष्ट है कि जब तक कोठारी आयोग की समान स्कूल व्यवस्था की सिफारिश का उल्लंघन किया जाता रहेगा तब तक बच्चे स्कूल बसों की दुर्घटनाओं का शिकार होते रहेंगे। जिस सर्वोच्च न्यायालय ने इतना सरोकार दिखाकर दिल्ली की बसों के नियंत्रण के लिए नए आदेश दिए हैं, उसी सर्वोच्च न्यायालय से यह भी अपेक्षा है कि वह शिक्षा को बुनियादी हक का दर्जा देने वाले 1993 के अपने आदेश को भी याद करे। शिक्षा को बुनियादी हक का दर्जा देने के बाद सर्वोच्च न्यायालय के लिए समान स्कूल व्यवस्था के पक्ष में सरकार को निर्देशित करना एक स्वाभाविक कदम होगा। सर्वोच्च न्यायालय अपनी पहल पर सरकार से 1989-90 में मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा प्रो. डी.एस. कोठारी की अध्यक्षता में गठित की गई समिति की वह रपट मांग सकता है जिसे सरकार सार्वजनिक करने से कतरा रही है। इस रपट में एक दस-वर्षीय क्रमबद्ध योजना की सिफारिश की गई है जिसके जरिए पूरे देश में समान स्कूल व्यवस्था स्थापित हो सकेगी। हर स्कूल (सरकारी या गैर सरकारी) 'पड़ोसी स्कूल' बन पाएगा। यदि समिति की इस दस-वर्षीय योजना को ईमानदारी के साथ लागू कर दिया गया होता तो लुडलो कासल क्र. 2 विद्यालय में उसके आधा-एक किलोमीटर दायरे के अंदर के ही बच्चे पढ़ रहे होते, चाहे वे किसी भी वर्ग के क्यों न होते। यमुना पार भजनपुरा के बच्चे रोज सबेरे बसों में लदकर वजीराबाद पुल को पार

रने को विवश न होते चूंकि भजनपुरा का हर स्कूल गुणवत्ता के बतौर लुडलो कासल . 2 के समकक्ष होता। इस व्यवस्था के चलते हर स्कूल—उदाहरणतः दिल्ली पब्लिक स्कूल, डर्न स्कूल एवं वसंत वेली स्कूल—भजनपुरा के सरकारी स्कूलों के समकक्ष पड़ोसी स्कूल ा चुका होता है। फिर वजीराबाद पुल पर यमुना में स्कूल बस के डूबने की संभावना न्य होती।

'समानांतर स्कूल व्यवस्था' का सिद्धांत है कि विभिन्न सामाजिक तबकों की आर्थिक हैसियत के अनुसार अलग-अलग प्रकार की स्कूल प्रणालियां खड़ी करना। हर स्कूल प्रणाली की भौतिकीय सुविधाओं (प्रयोगशाला, पुस्तकालय, गतिविधि केंद्र, खेलकूद उपकरण, कंप्यूटर, फर्नीचर आदि), शिक्षक और विद्यार्थी अनुपात, शिक्षकों के प्रशिक्षण, शैक्षिक समर्थन, एवं वेतन के मानदंड अलग-अलग होंगे। समाज की भेदभावपूर्ण यथास्थिति और गैर-बराबरी को बरकरार रखना इस 'समानांतर स्कूल व्यवस्था' का उद्देश्य है। इसके ठीक विपरीत कोठारी आयोग की 'समान स्कूल व्यवस्था' सभी बच्चों के लिए समान गुणवत्ता वाली (जिसका अर्थ एकरूपी नहीं है) शिक्षा उपलब्ध कराएगी। इसमें सुविधाओं, शैक्षिक हालात और शैक्षिक समर्थन के बुनियादी मानदंड एक जैसे होंगे। उदाहरण के लिए यदि शिक्षाविदों की राय में प्राथमिक स्कूल के शुरुआती वर्षों में सीखने का माध्यम मातृभाषा होना चाहिए तो फिर यह मानदंड देश के सभी स्कूलों पर लागू होगा, केवल गरीब बच्चों के सरकारी स्कूलों या औपचारिकेतर केंद्रों के लिए नहीं। इसी प्रकार यदि उत्पादक काम ज्ञान प्राप्ति का एक सक्षम और उचित जरिया हो सकता है तो फिर यह गांधीवादी सिद्धांत सभी स्कूलों में समान रूप से लागू होगा। यह दीगर बात है कि अलग-अलग अंचलों के स्कूलों में मातृभाषाएं अलग-अलग होंगी और उत्पादक काम वही चुना जाएगा जो उस क्षेत्र विशेष के लिए प्रासंगिक होगा। उत्पादक काम और ज्ञान के रिश्ते को खोजने और परिभाषित करने का काम शिक्षकगण, स्थानीय समुदाय के साथ सलाह-मशविरे से करेंगे। चाहे यह विडंबना ही दिखे, लेकिन 'समान स्कूल व्यवस्था' की अवधारणाा में यह निहित है कि उसकी गुणवत्ता का एक आवश्यक मानदंड पाठ्यक्रम का परिवेशमूलक होना होगा जिसके चलते इस प्रणाली की शिक्षा सांस्कृतिक एवं भौगोलिक दृष्टि से विविधतापूर्ण होगी।

जाहिर है कि ऐसी 'समान स्कूल व्यवस्था' की भारत जैसी विषमतामूलक परिस्थिति में कल्पना भी नहीं की जा सकती। हमारा औपनिवेशिक मानस तो इस व्यवस्था को लगभग असंभव करार कर देता है। लेकिन सवाल यह है कि हम कैसे समाज का निर्माण करना चाहते हैं और इस निर्माण में 'राज्य' की संवैधानिक जवाबदेही क्या है। संविधान के खंड चार में स्पष्ट तौर पर राज्य को निर्देशित किया है कि वह समतामूलक सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के लिए काम करे। तो क्या 'समानांतर स्कूल व्यवस्था' को समर्थन देकर सरकार अपनी यह संवैधानिक जवाबदेही पूरा कर रही है? दरअसल, आज कोई और चारा नहीं बचा है सिवाए संसद में 'समान स्कूल व्यवस्था' के पक्ष में एक केंद्रीय

क्रमशः

अधिनियम पारित करने के, जिसकी तर्ज पर फिर राज्य सरकारें अपनी-अपनी विधान सभाओं में राज्यों के अधिनियम बनवाएंगी। इस अधिनियम के तहत भौतिकीय, वित्तीय एवं शैक्षिक सुविधाओं के न्यूनतम परिवेशमूलक मानदंड तय करने होंगे। इन न्यूनतम मानदंडों के दायरे में स्थानीय परिवेश के अनुसार वैविध्यपूर्ण पाठ्यक्रम एवं शिक्षण पद्धति की पूरी छूटी होगी। इस अधिनियम में देश के हरेक स्कूल को (प्राइवेट स्कूलों समेत) सच्चे मायने में एक 'पड़ोसी स्कूल' में बदलने के लिए वित्तीय सहायता एवं शैक्षिक समर्थन देने के भी प्रावधान होंगे। ऐसे 'पड़ोसी स्कूल' में आस-पड़ोस के सभी वर्गों के बच्चों को पढ़ने का बुनियादी अधिकार होगा।

इस प्रस्ताव के खिलाफ अभिजात सोच के वर्चस्व वाले राजनेता, नौकरशाह एवं बुद्धिजीवी नाना प्रकार के विद्वतापूर्ण तर्क पेश करेंगे। लेकिन तीन बुनियादी सवाल हरेक के सामने खड़े करना जरूरी है :

पहला : क्या भारत का संविधान 'समान स्कूल व्यवस्था' के अलावा किसी और प्रकार की स्कूल व्यवस्था की छूट देता है?

दूसरा : पिछले पचास सालों में हरेक सरकार ने इस मायने में संविधान का उल्लंघन किया है और इसका परिणाम है कि आधे बच्चे स्कूल के बाहर हैं। क्या हम अगले पचास सालों में भी सरकार को अपनी संवैधानिक जवाबदेही से मुकरने की छूट देने को तैयार हैं?

तीसरा : वे सब लोग जो 'समान स्कूल व्यवस्था' के खिलाफ विद्वतापूर्ण तर्क देंगे उनसे यह जरूर पूछा जाए कि सभी बच्चों को समान गुणवत्ता वाली शिक्षा देने हेतु उनके पास क्या विकल्प है?

संदर्भ और टिप्पणियां

1. तथाकथित पब्लिक स्कूलों में शायद ही कोई ऐसा स्कूल मिले जो 'सरकारी वरदहस्त' के बगैर चल सके. इन अभिजात स्कूलों को निम्नांकित रूपों में सरकारी सहायता मिलती है :
   (क) इन्हें अकसर बाजार दर से कई गुना कम दर पर सरकारी जमीन मिल जाती है.
   (ख) इनको सरकारी खर्च पर प्रशिक्षित बी.एड. उपाधिधारी शिक्षक मिल जाते हैं.
   (ग) सरकारी खर्च पर संचालित माध्यमिक शिक्षा मंडलों द्वारा इनको मान्यता मिलती है.
   (घ) इनका संचालन/प्रबंधन करने वाली पंजीकृत समितियों अथवा न्यासों को आयकर एक्ट के तहत छूट मिलती है, यानी सरकार द्वारा इनको योगदान मिलता है।

   इसीलिए हमारा यह दावा है कि भारत में शायद ही कोई स्कूल हो जो पूर्णतः 'निजी' अथवा 'प्राइवेट' हो.

2. कोठारी आयोग की एक अन्य सिफारिश के आधार पर शिक्षा पर किए जाने वाले खर्च को क्रमबद्ध तरीके से इस तरह बढ़ाना था कि वह अगले 20 साल में (यानी 1986 तक) सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 6 प्रतिशत हो जाए. लेकिन सत्तर के दशक में यह निवेश सकल राष्ट्रीय उत्पाद का बमुश्किल ढाई प्रतिशत ही हो पाया जिसके फलस्वरूप सरकारी स्कूलों में आवश्यक सुविधाएं नहीं मिल पाईं. राममूर्ति समिति (1990) ने आंकड़ों के जरिए दिखाया है कि सत्तर के दशक में प्रति 10,000 आबादी के पीछे

शिक्षक एवं उपलब्ध कक्षा संख्या में कमी आई है. 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति के बाद शिक्षा में पूंजी निवेश कुछ तेजी से जरूर बढ़ा लेकिन नब्बे के दशक में सकल राष्ट्रीय उत्पाद के 3.9 प्रतिशत पर आकर टिक गया. यानी विगत तीन दशकों में शिक्षा में वांछनीय निवेश से कहीं कम दर पर निवेश किया गया जिसके चलते निवेश की एक बड़ी खाई बन चुकी है. इसके बावजूद देश के सभी राजनीतिक दल, शिक्षक तथा विद्यार्थी संगठन एवं नीति निर्धारक अभी भी 6 प्रतिशत दर की रट लगाए हुए हैं. जबकि जरूरत इससे कहीं अधिक पूंजी निवेश की है ताकि जितनी सुविधाएं विगत तीस सालों में नहीं दी गईं वे और भावी जरूरतों, दोनों को पूरा किया जा सके। सरकार द्वारा गठित तपस मजुमदार समिति ने इस खाई और भावी जरूरत का हाल ही में अनुमान प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार अगले दस वर्षों में केवल प्राथमिक स्तर पर 1,37,000 करोड़ रुपयों का अतिरिक्त निवेश करने की जरूरत है. इतनी भीमकाय दिखने वाली राशि दरअसल भारत जैसे विशाल देश के लिए इतनी बड़ी नहीं है. यदि इस राशि को अगले दस वर्षों में समान रूप से बांट दिया जाए तो यह हमारे सकल राष्ट्रीय उत्पाद का बमुश्किल अतिरिक्त 1 प्रतिशत होगा.

3. विगत दो वर्षों में मध्य प्रदेश सरकार ने यूरोपीय समुदाय द्वारा समर्थित राजीव गांधी शिक्षा मिशन के तत्वावधान में सबसे पिछड़े गांवों या टोलों में रहने वाले बच्चों के लिए एक और परत बिछाने का प्रयोग किया—शिक्षा गारंटी स्कीम के केंद्र. इस बहुचर्चित स्कीम को अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार मिले और केंद्रीय सरकार ने इसे चटपट पूरे देश के लिए आदर्श मान लिया. न कोई वैज्ञानिक मूल्यांकन हुआ, न कोई बहस हुई और ना ही किसी सार्वजनिक सुनवाई का आयोजन हुआ. इतनी जल्दबाजी में एक राष्ट्रव्यापी असर डालने वाले निर्णय को धकेलने का क्या कारण हो सकता है? कारण स्पष्ट है. शिक्षा गारंटी स्कीम ने औपचारिक शिक्षा को एक नया लिबास पहनाकर नए रूप में पेश किया है. अतः सरकार एक बार फिर गरीब बच्चों को उम्दा शिक्षा देने के सवाल को कुछ और साल आगे टरका सकेगी. यानी, कुछ और साल स्कूली तंत्र की गुणवत्ता एवं उपलब्धता सुधारे बगैर काम चल जाएगा. इसका निहितार्थ है कि सरकार के लिए देश की अर्थव्यवस्था की प्राथमिकताओं को गरीब बच्चों के पक्ष में बदले बगैर शिक्षा गारंटी स्कीम के सहारे ऊंचे-ऊंचे दावे करना संभव हो जाएगा.

4. यह जरूरी नहीं है कि 'अधुनातन जानकारी' ज्ञान की दृष्टि से बेहतर या ज्यादा सार्थक हो. अकसर इस लेबल के तहत वह ज्ञान उपलब्ध होता है जो बहुराष्ट्रीय कंपनियों के तंत्र द्वारा स्वीकृत हो या भारत के सत्तासीन वर्गों के हित में हों. ऐसा ज्ञान जो कि गरीब तबके को सशक्त करता है या आम लोगों द्वारा संचित किया जाता है, उसको 'अधुनातन जानकारी' की श्रेणी से बाहर रखा जाता है. इसके बावजूद 'अधुनातन जानकारी' को हमेशा बेहतर या सार्थक ज्ञान का पर्याय मान लिया जाता है.

5. स्रोत—'शाला से लोकशाला की ओर', लोकशाला कार्यक्रम, भारत जन विज्ञान जत्था, 1997.

12. प्रारंभिक शिक्षातंत्र की पुनर्रचना

कोठारी शिक्षा आयोग (1964-66) ने अपनी रपट में स्पष्ट रूप से अनुशंसा की थी कि प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण तथा उसके गुणात्मक विकास के लिए इसके प्रबंध का ढांचा विकेंद्रित किया जाए और उसकी निर्णय प्रक्रिया में स्थानीय जन समुदाय की भागीदारी हो। लेकिन विगत बीस वर्षों में सरकार ने इस दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया। आयोग के सदस्य-सचिव प्रो. जे.पी. नायक ने अपनी विख्यात पुस्तक *आयोग और उसके बाद* (1982) में लिखा है कि विगत वर्षों में शिक्षा में केंद्रीकरण की प्रवृत्ति घटने के बजाए और बढ़ी है। 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में इस बात को महत्वपूर्ण माना गया लेकिन इसके लिए कोई विशेष उपाय प्रस्तावित नहीं किए गए। 1993-94 में विश्व बैंक-पोषित जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम में एक बार फिर विकेंद्रीकरण और समुदाय की भागीदारी का मुहावरा पूरे जोर-शोर के साथ उछाला गया। लेकिन हालात बद से बदतर होते गए। जो निर्णय पहले दिल्ली अथवा राज्यों की राजधानियों में होते थे, अब वही निर्णय वाशिंगटन डी.सी. में स्थित विश्व बैंक मुख्यालय में होने लगे हैं। कुल मिलाकर 73वें एवं 74वें संशोधनों से शिक्षातंत्र में गांव, टोले या मोहल्ले स्तर पर आम लोगों की पहलकदमी की गुंजाइश लगातार घटती गई है।

इस पृष्ठभूमि के कारण यह सवाल उठाना जरूरी हो गया है कि भारतीय प्रशासन तथा राजनीति में किस कारण से विकेंद्रीकरण और जन भागीदारी की उपेक्षा की जा रही है। 'विविधता में एकता' के नारे की दुहाई देने वाले सभी राजनीतिक दल शिक्षा पर से अपना केंद्रीय नियंत्रण छोड़ने को तैयार क्यों नहीं हैं? नीचे दिया गया आलेख सरकार की इस मूल प्रवृत्ति तथा सोच की खोजबीन करने का प्रयास है। साथ ही शिक्षा में इस प्रवृत्ति का प्रतिबिंब कैसे मिलता है, यह आलेख इसका ठोस प्रमाण पेश करता है। भावी शैक्षिक तंत्र में विकेंद्रीकरण और जन भागीदारी के सच्चे मायने क्या होंगे, इसकी संक्षिप्त व्याख्या करने की कोशिश की गई है।

'तसवीर अभी भी अधूरी है। अभी हमारे सामने इस भावी राष्ट्र की शिक्षा का सवाल है। अपने आंकड़ों को चुनौती दिए जाने की आशंका के बावजूद मैं कह सकता हूं कि पचास या सौ साल पहले की तुलना में आज भारत ज्यादा निरक्षर है और ऐसा ही बर्मा है, क्योंकि अंग्रेज प्रशासक जब भारत आए तो उन्होंने चीजों को यथावत पकड़ने के बजाए जड़ से

मूल स्रोत : सेंटर फॉर पॉलिसी रिसर्च (नई दिल्ली) द्वारा प्रशासकीय सुधार एवं जन-शिकायत विभाग (भारत सरकार) के सहयोग से आयोजित 'सरकार के पुनर्गठन पर राष्ट्रीय कार्यशाला' (अगस्त 29-30, 1997) में प्रस्तुत पर्चा. स्वयं लेखक द्वारा इसका हिंदी रूपांतर किया गया है.

उखाड़ना शुरू किया। उन्होंने मिट्टी खुरची और जड़ों की ताकझांक की और जड़ों को उसी तरह खुला छोड़ दिया और इस तरह 'खूबसूरत पेड़' खत्म हो गया। अंग्रेज प्रशासकों को हमारी ग्रामीण शालाएं जंची नहीं, इसलिए उन्होंने अपना कार्यक्रम सामने रखा जिसके मुताबिक प्रत्येक स्कूल में काफी साज-समान व भवन आदि निश्चित ही होना चाहिए। परंतु ऐसे स्कूल तो कहीं थे ही नहीं। एक अंग्रेज प्रशासक द्वारा छोड़े गए आंकड़े दरशाते हैं कि जहां उन्होंने सर्वे किया था, उन जगहों पर प्राचीन शालाएं खत्म हो गईं क्योंकि इन शालाओं को कोई मान्यता नहीं थी और यूरोपीय पद्धति पर स्थापित किए गए स्कूल लोगों के लिए अत्यधिक महंगे थे, इसीलिए संभवतः वे प्रचलित नहीं हो सके। मैं चुनौती देता हूं कि कोई भी सौ साल के अंदर भारत की जनता के लिए अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का काम पूरा करके दिखाए। मेरा यह बेहद गरीब देश शिक्षा के महंगे तरीकों को जिंदा रखने में असमर्थ है। हमारा देश गांव के पुराने मास्टर जी को पुनर्जीवित करेगा और गांव-गांव में लड़कों तथा लड़कियों दोनों के लिए शालाएं स्थापित करेगा।'

—महात्मा गांधी
चैथम हाउस, लंदन, 20 अक्तूबर 1931

'राज्य द्वारा प्रारंभिक शिक्षा' पूरी तरह आपत्तिजनक है,.... इसके विपरीत जरूरत है जनता द्वारा राज्य को एक अत्यधिक कड़क शिक्षा देने की।

—कार्ल मार्क्स

औपनिवेशिक काल के दौरान जो 'खूबसूरत पेड़' सूख गया था, उसे विगत पचास वर्षों में प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण की नारेबाजी के बावजूद पुनर्जीवित नहीं किया जा सका। 1931 में महात्मा गांधी द्वारा की गई भविष्यवाणी कि अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का उद्देश्य 'एक सदी के भीतर' भी पूरा नहीं किया जा सकेगा, दुर्भाग्य से सच निकल सकती है। काश, एक बार हम गांधी जी को शिक्षा के लोकव्यापीकरण के संबंध में गलत सिद्ध कर पाते! इस सदी के मोड़ पर जब देश के लगभग आधे बच्चे और दो-तिहाई लड़कियां स्कूल के बाहर हैं तो और कहा भी क्या जा सकता है? प्रारंभिक शिक्षा के वर्तमान हालात का यह कटु सत्य संविधान के अनुच्छेद 45 में दिए गए निर्देश के बावजूद अभी तक बरकरार है। आठ पंचवर्षीय योजनाओं का बारीकी से किया गया नियोजन और 1986 तथा 1992 में राष्ट्रीय शिक्षा नीति को स्वीकृति देते हुए दोहराए गए संसदीय संकल्प का भी इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। आखिर घपला क्या है? इस सवाल का जवाब शायद हमें तब तक नहीं मिल पाएगा जब तक कि हम नीतियों में निहित बुनियादी मान्यताओं एवं विगत पांच दशकों में 'निष्ठापूर्वक' बरकरार रखे गए औपनिवेशिक ढांचों पर पुनर्विचार करने के लिए तैयार न हो जाएं।

औपनिवेशिक मान्यताएं

आइए, हम औपनिवेशिक विरासत में मिली शिक्षा नीति और उसके शैक्षिक प्रशासनिक ढांचों में निहित कुछेक मान्यताओं को सूचीबद्ध करने का प्रयास करें :

1. लोगों पर उनके अपने बच्चों के पाठ्यक्रम, मूल्यांकन एवं परीक्षा प्रणाली के मामले में विश्वास नहीं किया जा सकता है।
2. अधिकांश गरीब लोग शिक्षा का महत्व नहीं जानते। अतः उनके बच्चों को स्कूल पहुंचाने के लिए उन्हें समझाने-बुझाने, उनके लिए वित्तीय आकर्षणों का प्रावधान करने और यहां तक कि दंडित करने की जरूरत भी पड़ सकती है।
3. स्कूली शिक्षक पढ़ाने में कोई दिलचस्पी नहीं रखते। इसलिए प्रशासन द्वारा उनके निरीक्षण, स्थानांतरण तथा दंड देने की व्यापक व्यवस्था खड़ी करना जरूरी हो जाता है।
4. स्थानीय निकायों (पंचायतों, नगरपालिकाओं आदि) और स्कूली शिक्षकों में पाठ्यक्रम नियोजन, पाठ्यपुस्तक लेखन या सीखने-सिखाने की प्रक्रिया तय करने की क्षमता न तो है और न ही इसे कभी विकसित किया जा सकता है। अतः केंद्रीकृत विशेषज्ञ समूहों की पदक्रम-आधारित सत्ता को बरकरार रखने के लिए उनके ढांचों को व्यवस्था में शामिल करना होगा चूंकि केंद्रीकृत शैली में विकसित की गई सीखने-सिखाने की सामग्री एवं शिक्षण पद्धतियों को लागू करना जरूरी है।
5. शिक्षा कुल मिलाकर पाठ्यपुस्तकों में निर्धारित ज्ञान कंठस्थ कर लेने का पर्याय है। समीक्षात्मक चिंतन, वैज्ञानिक सोच, प्रश्न पूछना, समस्याएं हल करने का कौशल और अवधारणा निर्माण आदि कुछ ऐसे पहलू हैं जिनका महत्व केवल हाशिए पर रह गया है। इसके अलावा यह केवल संज्ञानात्मक पक्ष ही है (दरअसल उसका भी एक संकीर्ण पक्ष ही) जो प्रासंगिक है और जिसे भावात्मक एवं कौशलात्मक पक्षों की उपेक्षा करते हुए भी आगे बढ़ाना आवश्यक होगा।
6. ऐसा शिक्षक जो निर्धारित पाठ्यपुस्तकों, लोचहीन मूल्यांकन मापदंडों तथा विद्यार्थी को उसके माहौल से अलग-थलग कर देने वाली परीक्षा प्रणाली के दायरे में फंसा हुआ है, उसे कक्षा में न केवल ज्ञान का प्रमुख उद्‌गम मानना जरूरी हो जाता है बल्कि सत्ता का एकमात्र स्रोत भी। शिक्षक की यह परिस्थिति बच्चों के साथ उसके संबंधों और अनुशासन की सभी धारणाओं, समाजीकरण तथा विकास प्रक्रिया में बच्चों की संभावनाओं को पूर्व-निर्धारित कर देती है।
7. बच्चों के 'काम की दुनिया' का 'ज्ञान की दुनिया' के साथ कोई सार्थक रिश्ता नहीं है।
8. पाठ्यक्रम संबंधी और शिक्षण पद्धतिमूलक नियोजन में बच्चों के आर्थिक, सामाजिक-सांस्कृतिक और भाषाई परिवेश की लगभग कोई भूमिका नहीं है। अतः

इस प्रकार के संदर्भ के बगैर भी नियोजन करना संभव है।

9. समुदाय और उसके भू-सांस्कृतिक संदर्भ से काटकर भी स्कूल की कल्पना करना संभव है। अतः देशज ज्ञान, स्थानीय कौशल एवं तकनीक के लिए पाठ्यक्रम में कोई गुंजाइश नहीं है।
10. शैक्षिक स्तर को बरकरार रखने तथा बच्चों को दिए जाने वाले ज्ञान में एक तयशुदा विचारधारा को सुनिश्चित करने के लिए बाहर से नियंत्रित परीक्षा प्रणाली सबसे कारगर उपाय है। इस परीक्षा का उद्देश्य प्रमुखतः बच्चों को असफल घोषित करना है न कि उनकी सीखने की प्रक्रिया को सुलभ बनाना। इस संदर्भ में केंद्रीय विशेषज्ञ समूह द्वारा मूल्यांकन के मापदंड और उनका पारस्परिक अनुपात तय करके एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जाती है। इस तरह स्कूल में ज्ञान के सामाजिक एवं शिक्षाशास्त्रीय स्वरूप और अधिगम के अन्य आयामों को पूर्व-निर्धारित करना संभव हो जाता है।

उपरोक्त मान्यताओं के जरिए ब्रिटिश सत्ता के लिए एक ऐसा विशाल स्कूली तंत्र खड़ा करना संभव हो गया जिसमें जो कुछ भी महत्वपूर्ण था उसे एक अतिकेंद्रीकृत व सावधानीपूर्वक नियंत्रित प्रक्रिया के जरिए पहले से ही निर्धारित कर दिया जाता था। अकसर लोग इस बात को समझ नहीं पाते हैं कि इस प्रणाली के प्रशासकीय चरित्र को शिक्षा के पाठ्यक्रम संबंधी, पद्धतिमूलक तथा सामाजिक चरित्र से काटकर नहीं देखा जा सकता। इस बात को समझने के लिए हम एक प्रचलित मान्यता पर ध्यान पर ध्यान दें। इसके अनुसार बच्चों के परिवेश का पाठ्यक्रम-नियोजन और सीखने-सिखाने की प्रक्रिया के साथ शायद ही कोई रिश्ता है। इसका मतलब हुआ कि पाठ्यक्रम के विकेंद्रीकृत विकास और सीखने की प्रक्रिया के लिए कोई गुंजाइश देने या तौर-तरीके विकसित करने की जरूरत नहीं है। दरअसल, उपरोक्त मान्यता ही पाठ्यक्रम के केंद्रीकृत निरूपण तथा पूरे देश के लिए समान पाठ्यपुस्तकों के निर्माण का आधार देती है (हालांकि राज्यस्तरीय निकायों का दावा है कि वे उसे थोड़ा-बहुत राज्य के अनुरूप बनाते हैं)। यह दीगर बात है कि शिक्षा में भू-सांस्कृतिक विविधता तब तक नहीं उभर पाएगी जब तक कि शैक्षिक नियोजन में विकेंद्रीकृत विकास का नजरिया नहीं अपनाया जाएगा।

औपनिवेशिक संरचना का सुदृढ़ीकरण

आइए, उपरोक्त मान्यताओं पर एक बार फिर विचार करें। क्या आजादी के बाद के भारत में उपरोक्त मान्यताओं की जगह ऐसी वैकल्पिक मान्यताओं ने ले ली है जिनकी जड़ें देशज ज्ञान में गहरी हैं और जिनका समकालीन सामाजिक-सांस्कृतिक यथार्थ व उसकी विविधता के साथ तालमेल है? कोई भी ईमानदार समीक्षा यही दिखाएगी कि इनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया गया है। यदि कुछ हुआ भी है तो ब्रिटिश राज से विरासत में मिली

हुई कई अवांछनीय मान्यताओं का और भी अधिक सुदृढ़ीकरण हुआ है। प्रारंभिक शिक्षा प्रणाली के संख्यात्मक विस्तार के कारण शिक्षकों, बच्चों और स्थानीय समुदाय के प्रति अविश्वास बढ़ा है, जिसके चलते शिक्षा प्रणाली में लोचहीनता बढ़ गई है। इसके साथ ही निर्णय प्रक्रिया में सामुदायिक भागीदारी के अभाव और शिक्षकों के स्थानांतरण हेतु जानबूझ कर बनाई गई भ्रमात्मक नीतियों के कारण उन्हें समुदाय से अलग-थलग कर दिया गया है।

इस संबंध में 1976 में किया गया संवैधानिक संशोधन एक महत्वपूर्ण घटना है जिसके चलते शिक्षा को राज्य सूची से समवर्ती सूची में स्थानांतरित किया गया था। इस स्थानांतरण का आशय था कि केंद्र को पहलकदमी करने, प्राथमिकताओं को बदलने और नीति निर्धारण को दिशा देने के लिए और अधिक सशक्त कर दिया गया। इस संशोधन का लाभ उठाते हुए केंद्र ने राष्ट्रीय शिक्षा नीति—1986 को निरूपित करने के लिए निर्णायक कदम उठाए। यद्यपि संसद में नीति को पेश करने से पहले एक तथाकथित राष्ट्रव्यापी सलाह-मशविरा आयोजित किया गया था। लेकिन अंतिम दस्तावेज कुल मिलाकर मंत्रालय के नौकरशाहों एवं उनके मातहत एन.सी.ई.आर.टी. और नीपा (राष्ट्रीय शैक्षिक नियोजन एवं प्रशासन संस्थान) जैसी एजेंसियों के द्वारा ही बनाया गया था। देशभर से जो लाखों प्रतिक्रियाएं एकत्रित की गई थीं उनको नीपा के तहखाने में सुरक्षित रख दिया गया। इस परामर्शी पद्धति के 'नाटक' ने नीति निर्धारक प्रक्रिया के वैधानीकरण के उद्देश्य की खानापूर्ति अवश्य कर दी और बड़ी संख्या में लोगों को यह मिथ्यापूर्ण अहसास दिलाया कि उन्होंने भी इस प्रक्रिया के जरिए नीति निर्माण में हिस्सा लिया है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति—1986 के बाद से केंद्रीय मंत्रालय ने सभी महत्वपूर्ण प्रक्रियाओं में बढ़ते हुए क्रम में केंद्रीकरण की एक सचेत नीति अपनाई है। लेकिन उसके साथ-साथ विकेंद्रीकरण, सत्ता के हस्तांतरण और जन-भागीदारी के शब्दजाल को भी बरकरार रखा है। यहां संक्षेप में उन प्रमुख रणनीतियों को पहचानना महत्वपूर्ण होगा जिनको जनता में पारदर्शिता और सलाह-मशविरे का अहसास खड़ा करने के लिए अपनाया गया है। वे इस प्रकार हैं :

1. *वैधानीकरण* जो समितियों और उप-समितियों के गठन के जरिए किया जाता है (उदाहरणार्थ, जैसे ग्यारह-सदस्यीय समिति द्वारा बनाए गए न्यूनतम अधिगम दस्तावेज को पूरे देश पर थोपा गया)।
2. राष्ट्र-स्तरीय सलाहकार समितियों में कुछ चुनिंदा गैर-सरकारी संगठनों (एन.जी.ओ., जिन्हें स्वैच्छिक संगठनों से अलग करके दखने की जरूरत है) को समाहित करना और इसे निर्णय प्रक्रिया में *जनभागीदारी* का पर्याय मान लेना।
3. सरकार के प्राथमिकता वाले कार्यक्रमों हेतु गैर-सरकारी संगठनों (एन.जी.ओ.) को अनुदान स्वीकारने के लिए समझा-बुझाकर तैयार करना। यह तभी संभव होगा जब कोई गैर-सरकारी संगठन अपने द्वारा तय किए हुए मूल एजेंडे को छोड़ने को तैयार

हो जाएगा। जब एक बार किसी गैर-सरकारी संगठन को इस प्रकार राजी कर लिया जाएगा तब सरकार उसको अपनी नीतियों तथा कार्यक्रमों की सार्वजनिक पैरवी के लिए भी प्रस्तुत कर सकती है (उदाहरण के लिए राष्ट्रीय साक्षरता मिशन में गैर-सरकारी संगठनों की भागीदारी, जिसके चलते अनेक समर्पित संगठन अपना मूल एजेंडा छोड़कर सरकार के पक्ष में साक्षरता की वकालत करने लगे हैं)।

4. सरकार द्वारा गठित यदि कोई समिति अपनी रपट में सरकारी नीतियों के खिलाफ सवाल उठाती है तो उसकी रपट की 'व्यावहारिकता की जांच-पड़ताल' के नाम पर सरकार नई समिति का गठन करके उन सवालों से छुटकारा पा लेती है (जैसे कि आचार्य राममूर्ति समिति की रपट को दरकिनार करने के लिए 1991 में केंद्रीय शिक्षा परामर्शी मंडल ('केब') के तहत जनार्दन रेड्डी समिति का गठन तथा यशपाल समिति को 'निपटाने एवं टालने' हेतु 1993 में चतुर्वेदी समिति का गठन)।
5. संसदीय स्थायी समितियों में 'परेशानी पैदा करने वाले' सवालों को अनुत्तरित छोड़ देना ताकि अंततः सांसद थक कर उन सवालों को पेश करना ही छोड़ दें।
6. भ्रामक आंकड़ों को पेश करना या आंकड़ों को छिपा लेना (जैसा कि, आयु-आधारित दर्ज अनुपात या कक्षा में भागीदारी अनुपात की जगह सकल दर्ज अनुपात के आंकड़ों को प्रचारित करते जाना; बाल श्रम की परिभाषा को इस प्रकार भ्रमित करना कि इस विकृति का आकार कम होकर दिखे; अल्पसंख्यकों के शैक्षिक हालात के बारे में आंकड़े प्रसारित न करना,[1] आदि)।

मंत्रालय द्वारा अपनाए गए ये तौर-तरीके विकेंद्रीकरण, पारदर्शिता और जनभागीदारी के मुद्दों को किस प्रकार प्रभावित करते हैं? ये तौर-तरीके आज कारगर रणनीतियों के रूप में स्वीकारे जा चुके हैं और इनके जरिए देश के शैक्षिक प्रशासन में परिवर्तन लाने वाले नीतिगत उपायों को टालना या कमजोर करना संभव हुआ है। केंद्रीय प्रायोजित योजनाओं में उपलब्ध धनराशि के आकर्षण के कारण राज्य स्तर पर उठे सवालों को दबाया गया। इसके अलावा इन योजनाओं के खाके में जो स्थानीय पहलकदमी ठीक नहीं बैठी उसको उभरने से पहले ही रोक दिया गया।

आइए, हम ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड के उदाहरण पर नजर डालें। इस योजना में पूरे देश के लिए एक ही स्वरूप लागू करने की वकालत की गई जिसके कारण स्थानीय स्तर पर सूक्ष्म-नियोजन, विविधता और जन-भागीदारी के सिद्धांत मखौल बनकर रह गए हैं। एक रपट के अनुसार इस योजना के शुरुआती चरण में पश्चिम बंगाल सरकार ने प्रस्तावित किया था कि उसको शिक्षकों के पदों हेतु जो अनुदान दिया गया है, उसकी अनुमति स्कूल-भवन निर्माण करने के लिए दी जाए चूंकि उस समय राज्य की वही प्राथमिकता थी। लेकिन यह सुझाव योजना के पूर्व-निर्धारित खाके में ठीक नहीं बैठता था, इसलिए केंद्र ने इसे नामंजूर कर दिया। एक और उदहारण लीजिए। एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा तैयार की गई विज्ञान किट और शैक्षिक साधनों की एक ही सूची पूरे देश में लागू करने के लिए थी। इस सूची में

राज्यों एवं जिलों द्वारा झूला झूलने की रस्सी और स्कूल की घंटी तक खरीदने का प्रावधान था, जबकि ऐसी वस्तुएं स्थानीय स्तर पर जन सहयोग के जरिए हमेशा ही उपलब्ध होती रही हैं। लेकिन जब उड़ीसा के शिक्षा सचिव ने केंद्र से निर्धारित सूची में लिखे गए हारमोनियम की जगह राज्य के आदिवासी क्षेत्रों में स्थानीय संगीत वाद्यों को खरीदने की अनुमति मांगी तो वह आवेदन ठुकरा दिया गया। मात्र दो माह पूर्व भी विश्व बैंक के जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डी.पी.ई.पी.) के तहत आंध्र प्रदेश में जिन गैर-सरकारी संस्थाओं को कार्यक्रम में भागीदारी हेतु आमंत्रित किया गया उन्हें शैक्षिक साधनों की एक पूर्व-निर्धारित सूची सौंप दी गई। इस सबके बावजूद विश्व बैंक एवं उसके देशी समर्थकों को यह दावा करने में कोई संकोच नहीं होता कि डी.पी.ई.पी. पूरी तौर पर 'धरती से उपजा' और स्थानीय संदर्भयुक्त कार्यक्रम है।

काम करने की ऐसी परस्पर विरोधाभासी शैली अब गैर-सरकारी संगठनों में भी फैलने लगी है। इस संदर्भ में एक विख्यात गैर-सरकारी संगठन के व्यवहार पर विचार करें जिसने स्थानीय परिवेश से जुड़े हुए पाठ्यक्रम, पठन-पाठन सामग्री एवं पाठ्यपुस्तकों को विकसित करके ख्याति प्राप्त की। लेकिन राज्य सरकार और डी.पी.ई.पी. के आमंत्रण पर वह संगठन 'मिनी एन.सी.ई.आर.टी.' का रूप लेते हुए पूरे राज्य के लिए सीखने-सिखाने की सामग्री एवं शिक्षण पद्धति तैयार करने की प्रक्रिया की अगुआई करने के प्रलोभन को रोक नहीं सका। इसी तरह राष्ट्रीय साक्षरता मिशन से अनुदान प्राप्त गैर-सरकारी संगठनों ने केंद्रीकृत पद्धति से तैयार की गई ऐसी प्रवेशिकाओं का बेझिझक उपयोग किया जिनका वंचित तबके के शिक्षार्थियों के जीवन एवं आवश्यकताओं के साथ कोई लेना-देना नहीं था। जबकि ऐसे गैर-सरकारी संगठन ही एक लंबे अरसे से पाठ्यक्रम निर्धारण और सीखने-सिखाने की सामग्री की तैयारी में सामुदायिक भागीदारी की वकालत करते रहे हैं। अतः यह एक खतरनाक संकेत है कि सरकार पहले जो काम स्वयं करती थी, अब वही काम गैर-सरकारी संगठनों से करवा रही है।

सत्ता में जनभागीदारी का डर

73वें एवं 74वें संवैधानिक संशोधनों के बारे में चंद शब्द कहना जरूरी है। इन संशोधनों का उद्देश्य ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में विकास के विभिन्न आयामों के संदर्भ में स्थानीय निकायों को सशक्त करना था। लेकिन मैदानी रपटों ने इस पर कई प्रश्न खड़े किए हैं, जिनमें से कुछेक नीचे प्रस्तुत हैं :

(क) पंचायती राज संस्थाओं के निर्वाचित प्रमुखों और संबंधित क्षेत्रों के प्रशासकीय अध्यक्षों को दिए गए अधिकारों के बीच के अंतर अस्पष्ट हैं। इसके कारण जिला कलेक्टर और जिला पंचायत प्रमुखों या प्रखंड विकास अधिकारियों और प्रखंड-स्तरीय पंचायत प्रमुखों के बीच काफी भ्रमात्मक स्थिति तथा तनाव रहा है।

(ख) स्कूली शिक्षा के संदर्भ में ग्राम पंचायत को क्या अधिकार दिए गए हैं, यह अस्पष्ट छोड़ दिया गया है। पंचायत के पास स्कूल भवन की मरम्मत या शिक्षक की हाजिरी जांचने मात्र के अलावा भी क्या कोई अन्य अधिकार हैं? क्या उसे पाठ्यक्रम या शिक्षण पद्धति को प्रसारित करने की छूट है? ऐसे प्रश्नों के उत्तर अब मध्य प्रदेश से मिलने लगे हैं जहां एक गजट अधिसूचना के जरिए उन कामों की सूची जारी की गई है जो ग्राम् पंचायतों को सौंपे नहीं जा रहे हैं। इस सूची में पाठ्यक्रम निर्धारण, पुस्तक लेखन, मूल्यांकन तथा परीक्षा, निरीक्षण तथा मानीटरिंग, शिक्षक-प्रशिक्षण एवं स्कूल के वार्षिक कैलेंडर की तैयारी जैसे काम शामिल हैं। तो फिर ग्राम पंचायत को आखिर क्या अधिकार दिए गए हैं? जो सीमित अधिकार दिए गए हैं क्या उन्हें सामुदायिक भागीदारी के तुल्य माना जा सकता है? या ये कदम विकेंद्रीकरण की दिशा में माने जा सकते हैं?

(ग) 74वां संशोधन तो विशेष रूप से समस्याग्रस्त है। 73वें संशोधन के विपरीत इसमें केवल नगरपालिका अथवा नगर निगम तक ही अधिकार दिए गए हैं, न कि वार्ड स्तर तक अथवा शहर की किसी अन्य और भी छोटी इकाई तक। दिल्ली जैसे महानगर में इसका परिणाम देखा जा सकता है जहां दिल्ली नगर निगम के पास सारे अधिकार हैं लेकिन उससे नीचे की इकाई को कोई भी अधिकार नहीं सौंपे गए। इसी का दुष्परिणाम है कि स्कूली तंत्र में स्थानीय समुदायों के लिए अपनी भागीदारी हेतु गुंजाइश खोजना लगभग असंभव हो गया है।

एक वैकल्पिक दृष्टि

विकेंद्रीकरण, सामुदायिक भागीदारी एवं जवाबदेही की वैकल्पिक दृष्टि विकसित करने के लिए हमें ब्रिटिश राज से लेकर आज तक इस देश में इन मुद्दों पर संचित ऐतिहासिक अनुभवों से सबक सीखने होंगे। स्थानीय निकायों और समुदायों को सत्ता सौंपने हेतु राजनीतिक तैयारी न होने के लिए जिम्मेदार निहित स्वार्थों एवं मानस दोनों से कैसे जूझा जाएगा? यह उन बुनियादी प्रश्नों में से एक प्रश्न है जिसका उत्तर हमें खोजना होगा। क्या आप जन-अभिव्यक्ति की गुंजाइश बनाए बगैर विकेंद्रीकरण, जवाबदेही और पारदर्शिता की बात कर सकते हैं? दरअसल, विकेंद्रीकरण को एक ऐसी प्रक्रिया बतौर देखने की जरूरत है जो कि जन-अभिव्यक्ति के बढ़ते हुए क्रम की एक व्यवस्थित प्रक्रिया से समृद्ध होगी। शैक्षिक मुद्दों और उनके लिए आवश्यक कौशलों के संदर्भ में जन-अभिव्यक्ति के मायनों को अभी समझना भी शुरू नहीं किया गया है। इस प्रक्रिया में स्वैच्छिक संगठनों (जिन्हें गैर-सरकारी संगठनों यानी 'एन.जी.ओ.' से अलग करने की जरूरत है) की क्या भूमिका होगी? क्या हम छत्तीसगढ़ आंदोलन और नर्मदा बचाओ आंदोलन द्वारा स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में हाल में की गई पहलकदमियों से कुछ सीख सकते हैं?[2] लोकशाला कार्यक्रम द्वारा प्रस्तुत सशक्त स्कूल की

अवधारणा शायद हमारी समझ को आगे बढ़ाने में योगदान दे सके। जहां तक भारतीय अनुभवों का सवाल है ये सभी अनुभव नए रास्तों की ओर इशारा करते हैं। आजादी की पचासवीं वर्षगांठ का यह तकाजा है कि हम अपनी औपनिवेशिक मानसिकता की सीमाओं को तोड़ें और स्कूली प्रशासन के वैकल्पिक ढांचों को खड़े करने के प्रयोगों की साहसिक तैयारी करें। इसका स्पष्ट निहितार्थ होगा कि हम एन.सी.ई.आर.टी. या एस.सी.ई.आर.टी. जैसी संस्थाओं की भूमिका को बदलने के लिए तैयार हों जो कि अब तक केंद्रीकृत प्रक्रियाओं की मूल स्रोत रही हैं और साथ में ऐसी संस्थाओं (जैसे स्कूल इंस्पेक्टर) को पूरी तरह से छोड़ने को तैयार हों जो विकेंद्रीकृत ढांचे में निरर्थक हो जाएंगी। ऐसे साहसिक कदमों को उठाए बगैर विकेंद्रीकरण और सामुदायिक भागीदारी हमेशा ही मृगमरीचिका बनी रहेगी, जैसा कि प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण से संबंधित संवैधानिक निर्देश के मामले में होता रहा है।

प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण का सपना हमें ब्रिटिश भारत के पूर्वकाल के स्थानीय समुदायों द्वारा सिंचित उस 'खूबसूरत पेड़' से जोड़ता है जिसका ऐतिहासिक उल्लेख गांधी जी ने किया था। हमें उन समुदायों की ओर ध्यान देना होगा जो अपने बच्चों के भविष्य के लिए निर्णय प्रक्रिया में अपने वास्ते जगह मांग रहे हैं। क्या इस देश का राजनीतिक नेतृत्व ऐसी वैधानिक और प्रशासनिक पहलकदमी के लिए तैयार होगा जो जन अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक गुंजाइश बना सके और जिसके जरिए शिक्षा के प्रति नजरिए में भी परिवर्तन संभव हो? यदि ऐसा हो पाता है तो भारत की समृद्ध भू-सांस्कृतिक विविधता यह सुनिश्चित कर देगी कि देश के कोने-कोने में ऐसे 'खूबसूरत पेड़' पुनर्जीवित हो जाएंगे जिनमें स्थानीय समुदायों की निराली अभिव्यक्तियां अपने-अपने ढंग से प्रतिबिंबित होंगी।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. इसको न्यायोचित ठहराने के लिए सरकार कहती है कि इन आंकड़ों को प्रसारित करने से समाज में तनाव पैदा होगा. यानी, सरकार के अनुसार अल्पसंख्यकों की पिछड़ी शैक्षिक स्थिति बरकरार रहने से सामाजिक तनाव पैदा नहीं होगा लेकिन उसकी सचाई सार्वजनिक कर देने से होगा.
2. शहीद शंकर गुहा नियोगी के नेतृत्व में चले छत्तीसगढ़ आंदोलन की शुरुआत (1978) में ही दल्ली राजहरा (जिला दुर्ग, म.प्र.) के खदान मजदूरों ने अपनी दिहाड़ी में से पैसे बचाकर अपने बच्चों के लिए 11 स्कूल खड़े किए. इन स्कूलों का नियोजन, निर्माण एवं प्रबंधन पूर्णतः मजदूरों और उनमें भी विशेषकर महिला मजदूरों के नेतृत्व में संभव हुआ. इसी प्रकार हाल में नर्मदा बचाओ आंदोलन के विस्थापित आदिवासियों ने चार 'जीवन शालाएं' शुरू की हैं जिनमें पाठ्यक्रम को जीवन के यथार्थ से जोड़कर विकसित किया जा रहा है. इसी प्रकार भारत जन विज्ञान जत्था के लोकशाला कार्यक्रम में भी स्कूल तंत्र में गुणात्मक सुधार के लिए सामुदायिक हस्तक्षेप को सबसे महत्वपूर्ण एवं कारगर साधन के रूप में देखा गया है.

खंड पांच

शिक्षा नीति : विश्लेषण से विकल्प तक

13. शिक्षा नीति का संकट

मई 1990 में भारत सरकार ने राष्ट्रीय शिक्षा नीति—1986 की समीक्षा हेतु आचार्य राममूर्ति की अध्यक्षता में सत्रह-सदस्यीय समिति का गठन किया था। इस समिति का सदस्य होने के नाते मुझे अनुभव हुआ कि शिक्षा नीति के विश्लेषण की कोई वैज्ञानिक पद्धति विकसित नहीं हुई है। समिति का प्रत्येक सदस्य नीति के संबंध में अपनी निष्ठाओं, विचारों एवं अहसासों को व्यक्त करता है और इसी को विश्लेषण मान लिया जाता है। जब विभिन्न सदस्यों के मतों में अंतर होता है तो बात उसकी मानी जाती है जिसका अन्यान्य कारणों से ऊंचा दर्जा हो या राजनीतिक प्रभाव अधिक हो। जब नीति विश्लेषण की कोई मान्य वैज्ञानिक पद्धति विकसित ही नहीं हुई है तो आखिर और हो ही क्या सकता है। यह भी पता चला कि विगत शिक्षा आयोगों अथवा समितियों की कार्य शैली भी बुनियादी तौर पर पद्धति-विहीन कार्य शैली रही है। इस पृष्ठभूमि में आचार्य राममूर्ति समिति के काम के दौरान नीति विश्लेषण की पद्धति विकसित करने के कुछ प्रयोग किए गए। इसीलिए समिति के दस्तावेज में 1986 की नीति की विस्तृत समीक्षा करना और नाना प्रकार के विकल्प पेश करना संभव हो पाया है। समिति के काम के बाद नीति विश्लेषण की इस पद्धति को जब और आगे बढ़ाया गया तभी इसका एक व्यवस्थित रूप उभरकर आया है। कालांतर में इस पद्धति के जरिए राष्ट्रीय शिक्षा नीति—1986 के अलावा उत्तर-जोमतियन काल में विश्व बैंक द्वारा भारत में प्रतिपादित नीतियों और कार्यक्रमों का भी विश्लेषण किया गया है। इस विश्लेषण के फलस्वरूप हमें वर्तमान नीति का विकल्प खड़ा करने के वस्तुपरक आधार भी मिले हैं। नीति विश्लेषण की इस दृष्टि पर आधारित एक व्याख्यान जनवरी 1998 (दिगंतर, जयपुर) में दिया गया, जिसे उन्होंने *विमर्श* पत्रिका (अप्रैल 1998) में प्रकाशित भी किया। यह आलेख इसी व्याख्यान का संशोधित स्वरूप है।

काफी लंबे समय से देश में यह भ्रम चला आ रहा है कि नीति तो हमेशा ठीक ही होती है, गड़बड़ क्रियान्वयन के स्तर पर है। आम धारणा है कि बढ़िया से बढ़िया नीति बनाने के बावजूद हम उसके क्रियान्वयन में असफल होते रहे हैं। लेकिन यदि हमारी नीति तर्कसंगत नहीं है, वह हमारे समाज के यथार्थ के साथ मेल नहीं खाती और हम जिस प्रकार के समाज का निर्माण करना चाहते हैं उसके लिए उपयोगी भी नहीं है तो फिर आप कितनी ही ईमानदारी से उसका क्रियान्वयन क्यों न करें, सही रास्ता आपको कभी नहीं मिलेगा। इससे उलटा भी हो सकता है कि यदि नीति तार्किक आधारों पर बनी है और उसकी दिशा तथा मान्यताएं

मूल स्रोत : *सामयिक वार्ता*, मार्च-अप्रैल 1999, पृ. 15-22.

सही हैं, तब भी उसका गलत क्रियान्वयन हो सकता है। कुल मिलाकर नीति की तार्किकता, उसके सिद्धांत तथा मान्यताएं एक तरफ हैं और उसका क्रियान्वयन दूसरी तरफ। इन दोनों को अलग-अलग करके देखने की जरूरत है। इन बातों के कई सबूत और तथ्य हैं जिन्हें यहां पेश किया जाएगा, साथ ही यह भी दिखाया जाएगा कि नीति किस प्रकार विकृत हो जाती है।

गांधी जी ने बुनियादी शिक्षा (नई तालीम) का पूरा विचार बहुत स्पष्टता के साथ विकसित किया था कि किस तरह 'काम की दुनिया' और 'ज्ञान की दुनिया' के बीच एक अभिन्न रिश्ता स्थापित करने की जरूरत है। उन्होंने बताया था कि काम करते हुए हम किस प्रकार से ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं तथा काम और ज्ञान को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। इस संदर्भ में गांधी जी ने 1937 में *हरिजन* नामक पत्रिका के हर अंक में एक-एक कालम लिखा जिस पर देश के अनेक बुद्धिजीवियों ने सवाल खड़े किए। गांधी जी ने उनके उत्तर में अपने विचार प्रकट किए। 1937 की *हरिजन* पत्रिकाएं इस संवाद से भरी हुई हैं। गांधी जी ने इसमें बार-बार स्पष्ट किया है कि वे व्यावसायिक शिक्षा यानी 'वोकेशनल एजुकेशन' या रोजगार दिलाने वाली शिक्षा की बात नहीं कर रहे हैं। बल्कि बात हो रही है हिंदुस्तान में उत्पादन की जो पद्धति, शैली, कारीगरी और निपुणाताएं मौजूद हैं, उनके जरिए हम किस प्रकार से आधुनिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इन दोनों के बीच किस प्रकार का शिक्षाशास्त्रीय रिश्ता बनना चाहिए ? 1937 के वर्धा सम्मेलन में डॉ. जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक समिति का गठन हुआ। इस समिति ने आठ साल की बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम का एक दस्तावेज पेश किया, जिसमें किस प्रकार से इन सिद्धांतों को पाठ्यक्रम में अपनाया जा सकता है, इसका नजरिया प्रस्तुत किया। तब यह उम्मीद बनी थी कि हिंदुस्तान जब आजाद होगा तो इन सिद्धांतों को, जो आजादी की लड़ाई की विरासत के रूप में हमें मिले हैं, उन्हें हम सभी स्कूलों में लागू करेंगे, चाहे वे सरकारी स्कूल हों या निजी महंगे स्कूल। अमीर हों या गरीब, सभी बच्चे इस प्रकार की शिक्षा पाएंगे जिससे काम और ज्ञान का रिश्ता स्थापित हो सके।

लेकिन 1947 के बाद आजाद हिंदुस्तान की हमारी सरकार ने जो निर्णय लिए वे बहुत 'सोचे-समझे' निर्णय थे। इनमें विधिवत तरीके से आजादी की इस विरासत को नकारा गया और बहुत जल्द लगने लगा कि कुछ भी बदलने वाला नहीं है।[1] वही ब्रिटिश राज से मिली शिक्षा चलेगी जिसमें काम और उत्पादन एक तरफ होता था तथा ज्ञान दूसरी तरफ, एकदम कटा हुआ। ज्ञान और काम के इस विखंडन को बरकरार रखना, सरकार का सोचा-समझा निर्णय था, गलती नहीं। इस निर्णय के तहत गांधी जी के विचार को नकारा गया था। इतिहासकारों ने अब इस सवाल को उठाना शुरू किया है कि उस वक्त आखिर वे कौन से कारण रहे होंगे जिनकी वजह से काम और ज्ञान के इस रिश्ते को स्वीकारा नहीं गया। इस पर लोगों के अलग-अलग मत हो सकते हैं।

इसका स्पष्ट कारण राजनीतिक है। राजनीतिक से हमारा मतलब किसी दलगत राजनीति

से नहीं है, परंतु असली राजनीति के जो अर्थ हैं उससे है। सत्ता के द्वारा जब भी कोई निर्णय लिया जाता है तो किसी न किसी रूप में वह उन ताकतों की इच्छाओं और अपेक्षाओं को व्यक्त करता है जो उस समय सत्ता में रहती हैं। आप पूछेंगे कि आजाद हिंदुस्तान में जो नई सरकार बनी उसमें किसकी ताकत चलती थी, तो बहुत स्पष्ट जवाब है कि जिनके पास जमीनें थीं, उद्योग-धंधे थे, पूंजी थी। बहुत बड़ी-बड़ी जमीनों के मालिक तथा नए उभरते हुए उद्योगों के मालिक चाहे वे उद्योगों की पूंजी के मालिक हों या जमीनों की पूंजी के। इन लोगों का बड़ा भारी प्रभाव था। और वे लोग नहीं चाहते थे कि गांधी की शिक्षा का सिद्धांत हमारे स्कूलों में उतारा जाए। क्योंकि यह सिद्धांत अपने आप में इतना क्रांतिकारी था कि जो आम उत्पादन देश में चल रहा है, गांवों में कारीगरी चल रही है और नाना प्रकार की जो निपुणताएं विकसित हो रही हैं वे किस प्रकार से ज्ञान का स्रोत बनेंगी, यह बताया गया था। जिस दिन इस सिद्धांत को स्वीकार लिया जाएगा उस दिन से हमारे स्कूलों में केवल बी.एड. पास करने वाला शिक्षक नहीं रह जाएगा। बल्कि उसके साथ देश के वे लाखों कारीगर भी शिक्षक बनेंगे जो हर गांव में मौजूद हैं (लुहार, बढ़ई, बुनकर, चर्मकार, दाइयां आदि)। इसके अलावा तमाम प्रकार के वे लोग जो कि औपचारिक शिक्षा से तो वंचित हैं लेकिन उनके पास बहुत सारी निपुणाताएं हैं (रेडियो, मोटर, टी.वी. आदि की मरम्मत करने वाले) जिनकी संख्या भी लाखों में है लेकिन उनके पास कोई डिग्री नहीं है, उनके पास ज्ञान है। हमारे स्कूलों में ये कारीगर उस ज्ञान का स्रोत बन सकेंगे और तब स्कूली शिक्षा के ऊपर जो रूढ़िवादी शैक्षिक महंतों का आधिपत्य है, उसको चुनौती दी जा सकेगी। देश के तमाम बच्चे जब इस प्रकार की शिक्षा पाएंगे तो शिक्षा का चरित्र बदलेगा।

इस विचार का डर ही काफी था। इसलिए उस समय गांधी की इस नीति को नकारा गया। लेकिन इस देश में गांधी को नकारना हमेशा ही बहुत मुश्किल रहा है। तो गांधी के लेबल लगाकर नए-नए नाम बार-बार लाए गए। इसका सबसे सटीक उदाहरण कोठारी आयोग है। एक किलो से भी ज्यादा वजन की इस रपट में गांधी के शैक्षिक विचारों की जिस निर्ममता से हत्या की गई है, वैसी शायद ही किसी और ने कभी की हो। क्योंकि गांधी की बात करते-करते इस रपट (1964-66) में कह दिया गया है कि हम बुनियादी शिक्षा के उस सिद्धांत को तो नहीं ला पाएंगे लेकिन उसके लेबल को स्वीकारते हुए कार्यानुभव (वर्क एक्सपीरियंस) को अवश्य लाएंगे। इस 'वर्क एक्सपीरियंस' के इतिहास में यदि जाएं तो पता चलेगा कि यह हमारे देश की मिट्टी से उपजा विचार नहीं है। यह तो सोवियत रूस के इतिहास से जुड़ा हुआ है जहां कार्यानुभव के कुछ कार्यक्रम बरसों से चल रहे थे और उस समय हिंदुस्तान पर सोवियत रूस का बड़ा प्रभाव था। इस आयोग के सदस्यों में सोवियत रूस के एक शिक्षाशास्त्री भी मौजूद थे।

आपको शायद ही मालूम हो कि हिंदुस्तान का यह एकमात्र शिक्षा आयोग है जिसमें इंगलैंड, अमरीका, जापान, सोवियत रूस और फ्रांस इन पांच देशों के शिक्षाशास्त्री आयोग की रपट लिखने में शामिल थे। सोवियत रूस के शिक्षाशास्त्री ने जब अपने यहां के कार्यानुभव

का पूरा इतिहास प्रस्तुत किया और उसकी उपयोगिता बताई तब आयोग को लगा कि गांधी के विचारों से मुक्ति पाने का यही सबसे बढ़िया मौका है—हम नई तालीम की बात बंद करके कार्यानुभव की बात करें और कहें कि गांधी जी यही तो बोल रहे थे।

कार्यानुभव पर मैं और कुछ नहीं कहना चाहता क्योंकि हमारे देश में कार्यानुभव का पाठ्यक्रम एक भोंडा मजाक बन गया है, इसलिए नहीं कि उसे अमली जामा पहनाने में कोई अवधारणात्मक या सैद्धांतिक दिक्कत थी बल्कि इसलिए कि सरकार की यही इच्छा थी।[2] इसी के तहत कार्यानुभव के नंबरों का कॉलम हमारी अंक सूची के दाएं हाथ का आखिरी कॉलम होता है और इसे पूर्णांकों के बाद लिखा जाता है ताकि पूर्णांकों को प्रभावित न कर सके। इस तरह काम को बिलकुल एक किनारे, हाशिए पर खड़ा कर दिया जाएगा और ज्ञान को जिस रूप में ब्रिटिश राज के समय देखा गया था, उसी रूप में बरकरार रखा जाएगा। यह नीति की गड़बड़ है, क्रियान्वयन की नहीं। कोठारी आयोग के बड़े से पोथे में आप देख सकते हैं कि किस प्रकार से उस समय के हिंदुस्तान में जो विकास नीतियां तय हो रही थीं—खेती और उद्योग की नीतियां—उन नीतियों का प्रभाव इसमें है। इसका जो नाम रखा गया, 'एजुकेशन एंड नेशनल डेवलपमेंट' यानी 'शिक्षा और राष्ट्रीय विकास', यह बहुत सोच-समझकर रखा गया था। क्योंकि उस समय भारत में हरित क्रांति के नाम पर विकास का नया मॉडल बन रहा था जिसमें रासायनिक खाद, कीटनाशक दवाएं और कुछ खास प्रकार की प्रजातियों पर आधारित जो नई खेती होगी उसे और उसके लिए जरूरी उद्योगों को ठोस रूप देने के लिए नई निपुणाताओं और ज्ञान की जरूरत थी। आयोग के सामने यह एक प्रमुख मुद्दा था। इसलिए पूरी रपट इस मुद्दे के इर्द-गिर्द खड़ी हुई है। इसके कारण जो विरोधाभास उभरे हैं उनका विश्लेषण अलग से कभी होना चाहिए।

कोठारी आयोग का एक सकारात्मक पक्ष है जिसको मैं यहां पेश करना चाहूंगा। आयोग ने एक सिफारिश की थी, 'कॉमन स्कूल सिस्टम' या 'समान स्कूल व्यवस्था' की। यह साठ के दशक की शब्दावली है और उस समय अपने-आप में एक क्रांतिकारी विचार के रूप में सामने आई थी। कोठारी आयोग ने कहा है कि जब तक हिंदुस्तान में ऐसी स्कूल प्रणाली स्थापित नहीं होगी जिसके जरिए हर बच्चे को चाहे वह किसी भी वर्ग, जाति, संप्रदाय, क्षेत्र या लिंग का हो, समान गुणवत्ता वाली शिक्षा दी जा सके, तब तक हिंदुस्तान में सौहार्द और बराबरी का रिश्ता स्थापित नहीं हो पाएगा।

आयोग की 'समान स्कूल व्यवस्था' वाली अनुशंसा को हमारे देश की संसद ने बिना किसी मतभेद के तीन बार (1968 की पहली शिक्षा नीति तथा 1986 की दूसरी शिक्षा नीति और 1992 की संशोधित शिक्षा नीति) स्वीकारते हुए क्रियान्वित करने का संकल्प लिया। इसके बावजूद 1968 से लेकर आज तक क्या हुआ? आप सब अच्छी तरह से जानते हैं कि लगातार व्यवस्थित रूप से शिक्षा नीति का उल्लंघन हुआ है। इस नीति की अभी घोषणा ही हो रही थी कि सरकारी निर्णय की बदौलत केंद्रीय स्कूल प्रणाली स्थापित हुई, सैनिक स्कूल बने। जिस तेजी के साथ सत्तर के दशक में प्राइवेट स्कूल प्रणाली विकसित हुई, उस

तेजी के साथ तो ब्रिटिश राज में भी कभी नहीं हो पाई थी। 1986 की शिक्षा नीति के बनने तक हिंदुस्तान में जो सबसे खराब स्कूल प्रणाली मानी जाती थी वो सरकारी स्कूल प्रणाली थी। जिस भी मां-बाप के पास जरा सी अतिरिक्त आय हुई कि वह अपने बच्चे को सरकारी स्कूल से निकालकर प्राइवेट स्कूल में ले गया।

सन् 1990 में थाइलैंड के जोमतियन नामक शहर में 'सबके लिए शिक्षा' (*एजुकेशन फॉर ऑल*) का विश्वस्तरीय शिक्षा सम्मेलन हुआ। विश्व बैंक द्वारा आयोजित इस सम्मेलन को कई अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों का समर्थन प्राप्त था। इस विश्व सम्मेलन में भारत सरकार ने शिक्षा पर एक पर्चा पेश किया। इस पर्चे में हमारे देश की शिक्षा के बारे में जानकारी दी गई थी। उसमें एक पूरा अध्याय औपचारिकेतर (नॉन फार्मल) शिक्षा पर है, जिसमें लिखा है कि औपचारिकेतर शिक्षा केंद्र बच्चों के अनुकूल समय पर लगेंगे तथा उनकी पहुंच के भीतर होंगे। उसमें पढ़ाने वाले शिक्षक भी उसी गांव के होंगे ताकि बच्चों को उनकी संस्कृति के अनुरूप उनकी मातृभाषा में पढ़ा सके। इसका पाठ्यक्रम बच्चों के परिवेश से जुड़ा हुआ और लोचदार होगा। इसमें काम और ज्ञान को जोड़कर शिक्षा देने की व्यवस्था की जाएगी। इसका मतलब यह है कि विश्व शिक्षा सम्मेलन में भारत सरकार ने स्वीकार किया है कि *औपचारिक स्कूल* :

- ऐसे समय पर लगेंगे जो बच्चों के लिए अनुकूल नहीं होगा;
- बच्चों की पहुंच में नहीं होंगे;
- उनका पाठ्यक्रम लोचदार नहीं होगा, न ही स्थानीय परिवेश से जुड़ा होगा;
- उनमें स्थानीय शिक्षक नहीं होंगे;
- उनमें काम तथा ज्ञान को जोड़कर शिक्षा नहीं दी जाएगी;
- उनमें बच्चों को उनकी संस्कृति से जोड़कर मातृभाषा में शिक्षा नहीं दी जाएगी।

फिर सवाल उठता है कि हिंदुस्तान में जो साढ़े सात लाख स्कूलों (सवा पांच लाख प्राइमरी और सवा दो लाख मिडिल स्कूल) का विशाल तंत्र खड़ा है उसको कैसे बेहतर बनाया जाए। सरकार ने तो स्वीकार लिया कि ये स्कूल वैसे ही रहेंगे। अब फैसला हमें करना है कि इन स्कूलों को करोड़ों बच्चों के लायक कैसे बनाया जाए। उदाहरणतः आप कभी मध्य प्रदेश जाएं और वहां की सरकार से कहें कि हमें अपना एक अच्छा सा स्कूल दिखा दीजिए तो वे आपको कभी भी अपने किसी औपचारिक स्कूल में ले जाने की हिम्मत नहीं करेंगे। वे कहेंगे हां, यूरोपीय समुदाय द्वारा समर्थित जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम के तहत दिगंतर पद्धति पर चलने वाले वैकल्पिक स्कूल देखने के लिए चलते हैं और उनमें से भी कोई चुना हुआ स्कूल दिखा देंगे।

यह पूरी प्रक्रिया जिसको हम 'समानांतरीकरण' कहते हैं, भारतीय शिक्षा में समानांतर प्रणालियों को खड़ा करती जा रही है। हर तबके के लिए एक अलग प्रणाली और हर प्रणाली एक अलग ढंग की शिक्षा का नाम लेती है। हर प्रणाली के जरिए कुछ और कहने की

कोशिश की जाती है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण है 'राष्ट्रीय साक्षरता मिशन'।

सन् 1986 की शिक्षा नीति में एक पूरा पैराग्राफ है जिसका शीर्षक है 'एक संकल्प'। इसमें संकल्प लिया गया है कि हम इस प्रकार के प्रबंध करेंगे और रणनीतियां अपनाएंगे जिनके जरिए हिंदुस्तान के 11 वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों को 1990 तक प्राइमरी स्तर की तथा 1995 तक 14 वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों को मिडिल स्तर की शिक्षा उपलब्ध करा दी जाएगी। इस संकल्प से ऐसा लगने लगा था कि इस बार सरकार की सारी ऊर्जा प्राइमरी तथा मिडिल स्तर तक की शिक्षा उपलब्ध कराने में लगेगी। लेकिन 1986 की नीति में किए गए संकल्प के प्रति सरकार कितनी गंभीर थी? सातवीं पंचवर्षीय योजना में राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के लिए आठ सौ करोड़ रुपयों का प्रावधान रखा गया जबकि इसकी तुलना में केंद्रीय सरकार के एकमात्र कार्यक्रम जिसे औपचारिक स्कूलों को बेहतर बनाने के लिए शुरू किया गया था, यानी 'ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड' के लिए मात्र चार सौ करोड़ रुपयों का प्रावधान था। देखिए, प्राथमिकताएं किस तरह से बदलती हैं। 1986 की नीति में लिए गए संकल्प के तहत ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड को सर्वोच्च प्राथमिकता मिलनी चाहिए थी लेकिन प्राथमिकता मिली प्रौढ़ साक्षरता को।

इसके बाद जो हुआ वह और भी अजीबोगरीब है। प्रौढ़ साक्षरता की कक्षाओं में प्रौढ़ कम और बच्चे ज्यादा आते थे। 1993 में भारत सरकार ने निर्णय लिया कि अब प्रौढ़ साक्षरता (जो 15 से 35 वर्ष के आयु समूह के लिए थी) की कक्षाओं में 9-14 वर्ष आयु के बच्चे भी आ सकते हैं। जो व्यवहार में हो रहा था उसको न्यायोचित ठहराने के लिए यह आवश्यक हो गया था। इस तरह से प्रौढ़ साक्षरता में 9-14 वर्ष आयु समूह के बच्चे भी शामिल किए गए।

सन् 1993 में सबसे अधिक आबादी वाले नौ देशों का 'सब के लिए शिक्षा' सम्मेलन दिल्ली में हुआ। इसमें चीन, पाकिस्तान, बांग्लादेश, इंडोनशिया, मिस्र, नाइजीरिया, ब्राजील, मेक्सिको और भारत जैसे देशों ने हिस्सा लिया। हमारे प्रधानमंत्री ने इस सम्मेलन में बड़े गर्व के साथ घोषणा की कि हमारे देश में अब सभी बच्चों को शिक्षा देने की कोई समस्या नहीं रह गई है क्योंकि प्रौढ़ शिक्षा की कक्षाएं 9-14 वर्ष आयु के बच्चों के लिए खोल दी गई हैं।[3] एक और समानांतर प्रक्रिया। पहले से ही बदहाल सरकारी स्कूली परत के नीचे औपचारिकेतर केंद्रों की परत और उसके भी नीचे प्रौढ़ साक्षरता की एक और परत बिछाई गई। अब यदि भारत सरकार से कोई यह पूछे कि आप किस प्रकार से हर बच्चे को शिक्षा मुहैया करा रहे हैं तो वह सरकारी स्कूलों में जाने वाले बच्चों के अलावा औपचारिकेतर केंद्रों तथा प्रौढ़ साक्षरता में दर्ज 9 से 14 वर्ष आयु के बच्चों की संख्या जोड़कर बताएगी। इस तरह से जब भी कोई सरकार नीतियों को गलत ढंग से निरूपित करती है, क्रियान्वयन के लिए गलत कार्यक्रम बनाती है तथा अपनी आर्थिक प्राथमिकताओं को गलत ढंग से तय करती है तो इसके लिए उसे भ्रम फैलाने वाले आंकड़ों का सहारा लेना पड़ता है और इस तरह के आंकड़ों को बनाने तथा पेश करने में सरकार की बहुत ऊर्जा लगती है। आंकड़ों

के इस विज्ञान को समझे बिना आप नीतियों का विश्लेषण नहीं कर सकते।

सरकारी आंकड़ों के मुताबिक स्कूलों में बच्चों के नामांकन का 'सकल दर्ज अनुपात' सौ फीसदी तो 1986-90 में ही हो गया था। अब तो पिछले पांच-छह सालों में बढ़कर यह 105 प्रतिशत हो गया है। जबकि 1986 की शिक्षा नीति के बाद से अब तक कभी भी 'वास्तविक दर्ज अनुपात' (आयु-संबंधित दर्ज अनुपात) रिपोर्ट नहीं हुआ। सकल दर्ज अनुपात और वास्तविक दर्ज अनुपात के बीच का अंतर इस प्रकार है :

- प्राइमरी स्तर पर सकल दर्ज अनुपात (ग्रास इनरोलमेंट रेश्यो या जी.ई.आर.)

$$= \frac{\text{प्राइमरी स्तर पर दर्ज कुल बच्चों की संख्या}}{\text{स्कूल के विस्तार क्षेत्र में 6-11 वर्ष आयु के कुल बच्चों की संख्या}} \times 100$$

- प्राइमरी स्तर पर वास्तविक दर्ज अनुपात (नेट इनरोलमेंट रेश्यो या एन.ई.आर.)

$$= \frac{\text{प्राइमरी स्तर पर 6-11 वर्ष आयु के दर्ज बच्चों की संख्या}}{\text{स्कूल के विस्तार क्षेत्र में 6-11 वर्ष आयु के कुल बच्चों की संख्या}} \times 100$$

यह बात दावे से कही जा सकती है कि लोकसभा के साढ़े पांच सौ सदस्यों में से शायद ही एक-दो को सकल तथा वास्तविक दर्ज अनुपात में क्या अंतर है, इसकी जानकारी होगी, हालांकि इन आंकड़ों पर आधारित कार्यक्रम और बजट को वे पारित करते रहते हैं।

जब 1986 की शिक्षा नीति का कार्यक्रम बनाया गया तो उसमें बच्चों को स्कूल में टिकाए रखने की नीति बनाई गई, न कि बच्चों को स्कूल में दर्ज करने की। दर्ज करने की समस्या तो अब रही नहीं थी चूंकि सरकार के अनुसार सकल दर्ज अनुपात 105 प्रतिशत हो गया था। इसलिए उसके संदर्भ में कोई रणनीति बनाने की जरूरत नहीं समझी गई। सरकार का सारा फोकस ही बदल गया। अपने ही गलत आंकड़ों और गलत सांख्यिकी का उपयोग करते-करते सरकार स्वयं भ्रमित हो गई। या यों कहें कि सरकार ने तो वही किया जो उसे करना था—केवल उसने इन आंकड़ों का इस्तेमाल अपनी निष्क्रियता को न्यायोचित ठहराने के लिए कर लिया। इसके आधार पर उसने नीति में इतना बड़ा परिवर्तन कर दिया कि अब बच्चों को स्कूल में लाने की जरूरत नहीं है। अब तो केवल उन्हें वहां टिकाए भर रखना है। उसी तरह के कार्यक्रम बनाए गए। सरकार के इस निर्णय की बहुत आलोचना हुई।

आचार्य राममूर्ति समिति ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि गलत सांख्यिकी के आधार पर यह निर्णय लिया जा रहा है, अतः ठीक नहीं है। अंततः 1992 में नीति में संशोधन हुआ और कहा गया कि अभी भी हमें बच्चों को स्कूल लाने की जरूरत है। *वापस इस निर्णय तक पहुंचने में सरकार ने छह साल गंवा दिए*। इन छह सालों में लगभग 10 करोड़

बच्चे ऐसी नीति का इंतजार करते रहे जो उनको स्कूलों में दर्ज करने की गुंजाइश दे सके।

नीति का विश्लेषण कैसे करें? उसको कैसे समझें? इसके लिए भी तरीके विकसित करने होंगे। सरकार जब भी कोई नीति बनाती है तब उसे एक अंदरूनी प्रक्रिया चलानी पड़ती है। परिप्रेक्ष्य तैयार करना पड़ता है कि किन हालात की वजह से इस नीति की आवश्यकता महसूस की जा रही है। जैसे कि 1986 की शिक्षा नीति बनाते समय पहले एक परिप्रेक्ष्य पर्चा बनाया गया था। इस पर्चे का नाम 'शिक्षा की चुनौती' (*'चैलेंज ऑफ एजुकेशन'*) था। इस पर्चे में उस समय के तमाम हालात, दबावों और परिस्थितियों का जिक्र है जिसके कारण इस नीति की जरूरत महसूस की गई। इसलिए यदि नीति को समझना है तो पहले हमें उन दस्तावेजों को पढ़ना होगा। नीति बनाने के बाद उसे क्रियान्वित करने के पहले सरकार ने कार्यक्रम की रूपरेखा (*प्रोग्राम ऑफ एक्शन*) बनाई, यह एक अलग दस्तावेज था। 'कार्यक्रम' नीति का वह रूप है जिस रूप में सरकार नीति को आगे बढ़ाना चाहती है। इस तरह से देखें तो कार्यक्रम भी नीति का ही एक रूप है। क्रियान्वयन की तो अभी बात ही नहीं की है।

अब हम परिप्रेक्ष्य, नीति और कार्यक्रम की रूपरेखा, इन तीनों स्तरों की बात कर रहे हैं। कार्यक्रम की रूपरेखा एक प्रकार का डिजाइन है, जिस डिजाइन के जरिए सरकार नीति को अमली जामा पहनाना चाहती है। क्रियान्वयन तो बाद में होगा, पहले कार्यक्रम की रूपरेखा बनेगी। अब इसकी एक मिसाल देखिए। 1986 की शिक्षा नीति के दौरान नवोदय विद्यालय की एक और परत बिछाई गई थी। नवोदय विद्यालय के बारे में नीति का पैराग्राफ कहता है कि सरकार एक ऐसे स्कूल समूह का निर्माण करना चाहती है जिनको 'गति निर्धारक स्कूल' यानी *'पेस सेटिंग स्कूल'* कहा जाएगा। इसके जरिए ऐसी स्कूल प्रणाली का निर्माण किया जाएगा जो शिक्षा को 'गति' दे सके और पूरे देश के स्कूलों में सुधार लाने के कार्यक्रम में उत्प्रेरक का काम कर सके। नवोदय विद्यालय का दूसरा महत्वपूर्ण उद्देश्य यह था कि गांव के प्रतिभाशाली बच्चों के लिए विशेष शैक्षिक सुविधाओं का निर्माण करना। नीति के अनुसार इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाएगा कि अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के बच्चों के लिए भी यह सुविधा उपलब्ध हो। इसको करते हुए राष्ट्रीय एकता स्थापित करने की कोशिश भी की जाएगी। कार्यक्रम की रूपरेखा में कहा गया है कि बच्चे दो तरह के होते हैं, एक वे जो प्रतिस्पर्धा परीक्षा में ज्यादा नंबर लाते हैं, दूसरे वे जो कम नंबर लाते हैं। ज्यादा नंबर लाने वाले बच्चों के लिए आम बच्चों की बनिस्बत ज्यादा गुणवत्ता वाली शैक्षिक सुविधाएं होनी चाहिए। नीति के अनुसार इसके लिए नवोदय स्कूल प्रणाली स्थापित की जाएगी।

नीति क्या कह रही है ? और कार्यक्रम की रूपरेखा क्या कहती है ? नीति में प्रतिभाशाली बच्चों की कोई परिभाषा नहीं दी गई है, परिभाषा दी है कार्यक्रम की रूपरेखा में। उसके अनुसार प्रतिभा का मतलब परीक्षा में ज्यादा अंक लाना है। जबकि प्रतिभा और 'ज्यादा अंक' प्राप्त करने में फर्क है। नवोदय विद्यालय में भरती के लिए एन.सी.ई.आर.टी. बच्चों

का एक परीक्षण करके उनमें से प्रतिभाशाली बच्चों को छांटने का काम करेगी। प्रत्येक जिले में एक आवासीय नवोदय विद्यालय होगा और हरेक नवोदय विद्यालय में हर साल केवल अस्सी बच्चों को प्रवेश मिलेगा। पिछले कई सालों से यह सब हो रहा है। इस तरह के करीब 400 नवोदय विद्यालय देश भर में चल रहे हैं। प्रत्येक जिले की करीब 10-12 लाख वाली आबादी में से हर साल एन.सी.ई.आर.टी. परीक्षण के जरिए केवल 80 प्रतिभाशाली बच्चों को प्रवेश देकर बाकी बच्चों पर 'प्रतिभाहीन' का ठप्पा लगा देती है।

1985-86 में जब कार्यक्रम की रूपरेखा बन रही थी तब तत्कालीन मानव संसाधन विकास मंत्री श्री नरसिंह राव की अध्यक्षता में शिक्षाविदों की एक समिति गठित हुई। उस समिति की बैठक में शिक्षाविदों ने श्री नरसिंह राव को स्पष्ट शब्दों में सूचित किया कि प्रतिभा की न तो कोई मान्य परिभाषा है और न ही इसके मापन का कोई ऐसा तरीका मालूम है जो भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुकूल हो। इसके बावजूद श्री नरसिंह राव ने घोषित किया कि नवोदय विद्यालय बनाने का निर्णय शीर्षस्थ स्तर पर (यानी प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी के स्तर पर) लिया जा चुका है और अब विशेषज्ञों का काम सवाल उठाना नहीं है, बल्कि निर्णय को मात्र क्रियान्वित करना है। इसके मायने हैं कि नीति बात करती हैं ग्रामीण क्षेत्रों में प्रतिभा विकसित करने की लेकिन कार्यक्रम की रूपरेखा पूरे जिले से हर साल मात्र 80 बच्चों की प्रतिभा विकसित करने का प्रावधान बनाती है। इस छोटे से प्रावधान के लिए भी नवोदय विद्यालय में हरेक बच्चे के पीछे 12,000 रुपए प्रति वर्ष (1990 की कीमत पर) खर्च किए जाएंगे और स्कूल के भवन पर तीन करोड़ रुपए की पूंजी लगाई जाएगी। इसकी तुलना में सरकारी स्कूल में एक बच्चे पर औसतन 400-500 रुपए प्रति वर्ष (1990 की कीमत पर) खर्च का प्रावधान रखा जाता है और स्कूल भवन निर्माण के लिए बमुश्किल 20-30 हजार रुपए का। कार्यक्रम की यह रूपरेखा नीति का स्पष्ट उल्लंघन करती है चूंकि इसमें ग्रामीण क्षेत्रों के 'विशेष प्रतिभा या अभिरुचि' वाले सभी बच्चों के लिए अच्छी शिक्षा उपलब्ध कराने का कोई कार्यक्रम प्रस्तावित नहीं है। 'प्रतिभा' की न केवल संकीर्ण बल्कि विकृत परिभाषा देकर भी नवोदय विद्यालय की दृष्टि और नीति के उद्देश्यों के बीच गहरा अंतर्विरोध उभर आया है। दरअसल, प्रतिभा की इस संकीर्ण और विकृत परिभाषा के कारण वे अधिकांश बच्चे 'प्रतिभाहीन' घोषित हो जाते हैं जिनमें अन्यान्य प्रकार की प्रतिभाएं और अभिरुचियां विकसित हुई हैं। एक सवाल और भी है। शैक्षिक शोध साहित्य में इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि चंद बच्चों को शेष बच्चों और उनके अपने सामाजिक-सांस्कृतिक माहौल से अलग करके विशेष माहौल में रखा जाए तो इससे उनका बेहतर शैक्षिक विकास होगा। अतः नवोदय विद्यालय एक ऐसी मनगढ़ंत कल्पना है जिसका नीति के उद्देश्यों से कोई तालमेल नहीं है। इसके अलावा भी नवोदय विद्यालय की योजना निम्नलिखित मायनों में नीति के अन्य पक्षों का उल्लंघन करती है :

- जाहिर है कि इससे 1968 और 1986 की नीतियों में स्वीकारे गए 'समान स्कूल

व्यवस्था' का सिद्धांत टूटेगा।

- गांव के बच्चों को बगैर किसी वैज्ञानिक आधार के 'प्रतिभाशाली' और 'प्रतिभाहीन' श्रेणियों में बांट दिया जाएगा। इससे अधिकांश बच्चों की नाना प्रकार की प्रतिभाओं और अभिरुचियों (उदाहरणतः, सृजनात्मकता, चिंतनशीलता, संवेदनशीलता, ललित कलाओं या खेलकूद में दक्षता, नेतृत्व क्षमता, प्रकृति प्रेम, सामाजिक सरोकार आदि) की अवहेलना होगी। अतः इससे नीति और संविधान दोनों में निहित बराबरी और सामाजिक न्याय स्थापित करने के उद्देश्य का उल्लंघन होता है।
- ये अति सुविधासंपन्न स्कूल इस लायक नहीं रह जाएंगे कि आस-पड़ोस के सुविधाहीन सरकारी स्कूलों के लिए 'गति-निर्धारक' की भूमिका निभा सकें। न ही ये देश भर के स्कूलों में सुधार के लिए उत्प्रेरक की भूमिका निभा सकेंगे—ये मात्र गैर-प्रासंगिक टापू ही बन सकते हैं।

कुल मिलाकर यह स्पष्ट है कि नवोदय विद्यालय हेतु बनाई गई कार्यक्रम की रूपरेखा और संबंधित नीति के बीच एक गहरा विरोधाभास है। तो यह एक मिसाल हुई नीति विश्लेषण की। इसी प्रकार निम्नांकित विरोधाभासों के आधार पर नीति विश्लेषण की पद्धति विकसित की जा सकती है :

- सामाजिक-आर्थिक हालात (यानी परिप्रेक्ष्य दस्तावेज) और नीति के बीच विरोधाभास।
- नीति और संविधान के बीच विरोधाभास।
- नीति के अंदर ही विभिन्न हिस्सों या पक्षों के बीच विरोधाभास।
- शिक्षा नीति और देश की सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक नीतियों के बीच विरोधाभास।
- नीति/कार्यक्रम की रूपरेखा और शिक्षा तंत्र के बीच विरोधाभास।
- नीति और संसाधनों के वितरण के बीच विरोधाभास।
- एक ओर शिक्षा नीति एवं दूसरी ओर वैश्वीकरण व बाजारीकरण की नीतियों के बीच विरोधाभास।

एक और जरूरी बात। नवोदय विद्यालय के जरिए सरकार ने दो राजनीतिक उद्देश्य पूरे करने की एक साथ कोशिश की है। पहला, ग्रामीण क्षेत्रों में हरित क्रांति के फलस्वरूप विकसित नवधनाढ्य वर्ग की शहरी अभिजात वर्ग जैसी अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए एक लॉलीपॉप प्रस्तुत किया। दूसरा, प्रारंभिक शिक्षा (कक्षा 1 से 8) के लिए बने हुए आठ लाख स्कूलों के विशाल सरकारी स्कूली तंत्र की बदहाली से ध्यान विकर्षित करने की कोशिश की।

आचार्य राममूर्ति समिति ने इस बात पर बहुत ध्यान दिया और कहा कि अगर औपचारिक स्कूल में कोई कमी है, चाहे वह किसी भी प्रकार की कमी हो, उसको दूर करना हमारा प्राथमिक कर्तव्य है। यदि वे सही समय पर नहीं लगते तो हम समय बदलें, स्कूल

यदि बच्चों की पहुंच के बाहर हैं तो स्कूलों को बच्चों की पहुंच के दायरे में लाने के लिए आवश्यक परिस्थितियां बनाई जाएं, यदि पाठ्यक्रम बच्चों के परिवेश से कटा हुआ है तो उसे परिवेश से जोड़ा जाए, यदि वहां मातृभाषा की उपेक्षा होती है तो मातृभाषा को चिंतन तथा शिक्षण का आधार बनाया जाए। इसी प्रकार यदि शिक्षक दूरदराज से आते हैं तो यह नीति बदली जाए और स्थानीय शिक्षकों की नियुक्ति की जाए। वो तमाम चीजें जो सरकार औपचारिकेतर (नॉन-फार्मल) में करना चाहती है, मेहरबानी करके उसे यहां औपचारिक स्कूलों में करना शुरू कर दे। उस समय इसके लिए हमने एक नई शब्दावली ईजाद की—औपचारिकेतरकरण। हमने कहा कि 'फार्मल' स्कूल का 'नॉन-फार्मलाइजेशन' यानी औपचारिकेतरकरण किया जाए। उनको इतना सुंदर स्कूल बना दो जिसका विवरण सरकार ने जोमतियन सम्मेलन (थाइलैंड) में मार्च 1990 में औपचारिकेतर शिक्षा के नाम पर दिया था। वो सारा काम अब औपचारिक स्कूलों में शुरू कर दो।

लेकिन 1990 के जोमतियन सम्मेलन ने भारत की शिक्षा के पूरे इतिहास को एक नया और नकारात्मक मोड़ दिया। यह मोड़ इतना महत्वपूर्ण है कि जब भी हमारे देश की शिक्षा का इतिहास लिखा जाएगा तो इसे स्पष्ट रूप से दो चरणों में पहचाना जा सकेगा। पहला, पूर्व-जोमतियन चरण और दूसरा उत्तर-जोमतियन चरण। पूर्व-जोमतियन चरण वह था जिसमें भारत की शिक्षा नीतियों में किसी न किसी रूप में यह कोशिश होती थी कि वह देश के संविधान के अनुरूप काम करे, बावजूद इसके कि उसमें चाहे कितनी ही विकृतियां और विरोधाभास क्यों न हों। लेकिन नीति-निर्धारकों को मालूम था कि संविधान में शिक्षा और सामाजिक विकास के जो मूल उद्देश्य लिखे हुए हैं उनको पूरा करना उनकी प्राथमिकता बतौर जवाबदेही है। यानी नीति निर्धारण का नैतिक और वैधानिक आधार संविधान होता था। परंतु उत्तर-जोमतियन सम्मेलन के बाद संविधान के आधार की जगह वैश्वीकरण की बाजार-आधारित नीतियों ने ले ली तथा भारत सरकार का स्थान अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक ने।

इसके अलावा एक और फर्क भी आया जो चुपचाप हो गया। पूर्व-जोमतियन चरण में शिक्षा नीति या कार्यक्रम की रूपरेखा में संसद से पूछे बगैर कोई भी परिवर्तन नहीं किया जाता था। लेकिन उत्तर-जोमतियन चरण में संसद द्वारा तय की हुई नीति और कार्यक्रम की रूपरेखा में संसद से पूछे बगैर ही महत्वपूर्ण परिवर्तन होने लगे। यानी संसद को हाशिए पर खड़ा कर दिया गया और उसकी जगह हर सलाह-मशविरा विश्व बैंक, यूरोपीय समुदाय एवं अन्य अंतर्राष्ट्रीय वित्त एजेंसियों के साथ होने लगा। यह इसलिए संभव हो सका चूंकि हम अपने बच्चों की शिक्षा के लिए पूर्व में खर्च किए जा रहे 100 पैसों में 4 पैसे और जोड़ने की हिम्मत नहीं जुटा पाए।[4] विगत दो-तीन वर्षों में एक नई प्रवृत्ति उभरी है। अब अंतर्राष्ट्रीय वित्त एजेंसियां सीधे राज्य सरकारों के साथ समझौते करने लगी हैं जैसे कि केंद्र का कोई महत्व ही ना हो। वह दिन दूर नहीं, जब विश्व बैंक हमारे संविधान, संसद, केंद्र और राज्य सरकारों, इन सभी को लांघकर सीधे ग्राम पंचायतों के साथ समझौतों पर दस्तखत

करने लगेगा। विश्व बैंक की यह प्रक्रिया 'राज्य' की भूमिका को समाप्त करने की उसकी स्थापित नीति के अनुरूप है—राज्य की भूमिका को कमजोर करके ही सीधे बाजार पर कब्जा किया जा सकता है।

हमारे संविधान का खंड 4 (नीति निर्देशक तत्व) का अनुच्छेद 45 स्पष्ट रूप से कहता है कि 1960 तक यानी संविधान बनने के दस वर्षों के अंदर राज्य 14 वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान करेगा। '14 वर्ष की आयु तक' की व्याख्या भी 1950 में ही कर दी गई थी कि आम तौर पर बच्चे 5-6 वर्ष की आयु में पहली कक्षा में जाते हैं और यदि लगातार आठ वर्षों तक पढ़ते रहें तो 14 वर्ष की आयु तक आठवीं कक्षा की शिक्षा पूरी कर लेंगे। इसलिए प्राथमिक ('प्राइमरी') यानी पांचवीं और उत्तर-प्राथमिक या मिडिल यानी कक्षा 6-8 जोड़कर 14 वर्ष की आयु तक शिक्षा प्राप्त करें। 1950 से लेकर 1990 तक यानी चालीस वर्षों तक जब भी नीति निर्धारण हुआ तो उसमें प्राइमरी और मिडिल दोनों को जोड़कर पूरी प्रारंभिक ('एलिमेंट्री') शिक्षा की बात की जाती रही है। सरकार ने हमेशा ही इसे अपना संवैधानिक दायित्व माना है, भले ही पूरा न किया हो, वह अलग बात है।

लेकिन 1990 में जोमतियन सम्मेलन के बाद से सरकार की यह प्रतिबद्धता बहुत तेजी से खत्म हुई है। सम्मेलन में तीसरी दुनिया के अनेक देशों के साथ-साथ भारत ने भी उन दस्तावेजों पर दस्तखत किए जिनमें बच्चों को शिक्षा देने के लिए 'सब के लिए शिक्षा' कार्यक्रम के तहत अंतर्राष्ट्रीय मदद लेने की स्वीकारोक्ति लिखी गई थी। स्कूलों को बेहतर बनाने के लिए पहले भी यदा-कदा मदद ली गई थी लेकिन बतौर नीति ऐसा पहले कभी नहीं हुआ। नीति स्वीकारते ही अब भारत सरकार बड़े पैमाने पर अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय, शैक्षिक तथा तकनीकी संसाधन भी स्वीकारने लगी है। 1994 में जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (*डिस्ट्रिक्ट प्राइमरी एजुकेशन प्रोग्राम; डी.पी.ई.पी.*) के चालू होते ही मिडिल स्कूल की शिक्षा (यानी कक्षा 6 से 8 तक) की बात तक अब नहीं होती है। नीति-निर्धारक लोग अब सिर्फ प्राथमिक शिक्षा ('प्राइमरी एजुकेशन') को ही जानते हैं।

जो बच्चे अब पांच साल की शिक्षा पूरी करके निकलेंगे वे क्या करेंगे? पहले से ही हालत इतनी बुरी है कि औसतन पांच प्राइमरी स्कूलों के पीछे एक मिडिल स्कूल है। कुछ राज्यों में तो आठ-दस प्राइमरी स्कूलों के पीछे एक मिडिल स्कूल। सचाई तो यह है कि पांच प्राइमरी स्कूलों के पीछे एक मिडिल स्कूल वाला अनुपात बना ही इसलिए था चूंकि अधिकांश मिडिल स्कूल शहरी इलाकों में थे। यदि आप ग्रामीण इलाकों का अनुपात देखें तो हाल और भी बुरा है। अब चूंकि बड़े पैमाने पर केवल प्राइमरी शिक्षा को आगे बढ़ाया जा रहा है तो यह अनुपात और भी बिगड़ेगा। गांव के लोग इस बात को लेकर बहुत चिंतित हैं, खास तौर पर लड़कियों के मां-बाप।

संविधान के अनुच्छेद 45 के साथ यह कितना बड़ा मजाक है, इसका अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि यदि शहरी इलाकों के मिडिल स्कूलों को जोड़ लें तब

भी पांच प्राइमरी स्कूलों के पीछे सरकार एक मिडिल स्कूल खोलती है तो इसका मतलब क्या है? मान लीजिए कि पांचवीं कक्षा में औसतन 30 बच्चे होंगे। ग्रामीण इलाके के 150 बच्चे जब कक्षा 5 पूरी करके निकलेंगे तो उनके लिए केवल एक मिडिल स्कूल होगा जहां पर सिर्फ 30 या 35 बच्चे ही लिए जाएंगे। इसका मतलब है कि सरकार खुद ही कह रही है कि हमारी व्यवस्था में 120 बच्चों को 'ड्रापआउट' होना ही है। साफ संदेश है कि सरकार संविधान के अनुच्छेद 45 को नहीं मान रही है। जोमतियन सम्मेलन के बाद से यह और भी स्पष्ट हो गया है। अब पांच साल की शिक्षा के लिए विदेशी पैसा कर्ज के रूप में आसानी से मिल रहा है तो स्वाभाविक है कि मिडिल स्कूल की सुविधाएं दिन-प्रति दिन कम होती जाएंगी। चाहे वह स्कूल भवन हो, शैक्षिक साधन, टाट पट्टी, शिक्षकों की संख्या या शिक्षक-विद्यार्थी अनुपात का मामला हो, सब कुछ तेजी से बिगड़ता दिखेगा।

जब भी कोई नीति बनती है तो उसको बनाने वाले जो लोग सत्ता में होते हैं उनकी समझ और मान्यताएं उस नीति में प्रतिबिंबित होती हैं। नीति निर्माण की प्रक्रिया को सत्ताधारी सामाजिक ताकतों के निहित स्वार्थों और दीर्घकालीन उद्देश्यों को आगे बढ़ाने की प्रक्रिया के रूप में देखने की जरूरत है। इसलिए यह स्वाभाविक सवाल है कि विश्व बैंक जो इस समय भारत की प्राथमिक शिक्षा के लिए नीति निर्माण में प्रमुख भूमिका निभा रहा है, उसकी मान्यताएं, निहित स्वार्थ और दीर्घकालीन उद्देश्य क्या हैं। 1997 में जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डी.पी.ई.पी.) के तत्वावधान में दिल्ली में एक अखिल भारतीय प्राथमिक शिक्षा सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में भारत की प्राथमिक शिक्षा के बारे में विश्व बैंक द्वारा लिखी हुई एक पुस्तक[5] भारत सरकार ने सबको बांटी। गौरतलब है कि देश की शिक्षा के हालात पर भारत सरकार ने अपना कोई दस्तावेज नहीं बांटा। या यूं कहिए कि भारत सरकार ने शिक्षा के हालात का आकलन करने और भावी कदम तय करने की जिम्मेदारी विश्व बैंक को सौंप दी।

विश्व बैंक की उपरोक्त पुस्तक के पहले पन्ने पर ही शिक्षा के उद्देश्यों के बारे में उसकी समझ स्पष्ट रूप से उभरकर आती है। कुल मिलाकर दो प्रकार के उद्देश्यों का रेखांकित किया गया है। पहला, वैश्वीकरण और बाजारीकरण की जरूरतों के संदर्भ में शिक्षा के जरिए लोगों को प्रौद्योगिकी में तेजी से हो रहे परिवर्तनों के लिए तैयार किया जा सकेगा। शिक्षा मजदूरों की उत्पादन क्षमता और कमाई को बढ़ाएगी। नई प्रौद्योगिकी के लिए तैयारी, उत्पादन क्षमता और कमाई का बढ़ना आदि ऐसे उद्देश्य हैं जो उपभोक्तावाद और वैश्वीकरण की सफलता के लिए जरूरी हैं। शिक्षा का दूसरा उद्देश्य विश्व बैंक की जनसंख्या विस्फोट के बारे में चिंता से जुड़ा हुआ है। एक लंबे अरसे से यह स्थापित करने की कोशिश रही है कि गरीबी का मुख्य कारण जनसंख्या विस्फोट है, न कि समाज में व्याप्त गैरबराबरी एवं प्राकृतिक संसाधनों तथा पूंजी का विषमतामूलक वितरण।

अतः विश्व बैंक और उसके समर्थकों के लिए यह जरूरी हो गया है कि शिक्षा के जरिए दो लक्ष्य हासिल कर लिए जाएं। एक ओर तो सभी बच्चों के दिमाग में यह धारणा

स्थापित कर दी जाए कि गरीबी का मुख्य कारण आबादी का बढ़ना है ताकि वे संसाधनों और पूंजी के विषमतामूलक वितरण का सवाल कभी न उठाएं। दूसरी ओर आबादी बढ़ने की दर को नियंत्रित करना एक आवश्यक और अपने आप में संपूर्ण लक्ष्य बन गया है। इसके लिए लड़कियों को परिवार और समाज में यह संदेश फैलाने का प्रमुख जरिया माना गया है। अतः लड़कियों को शिक्षित करने का उद्देश्य उनका समग्र विकास करना नहीं, बल्कि उनके जरिए प्रजनन दर को नियंत्रित करने वाले साधनों का उपयोग बढ़ाने का होगा। विश्व बैंक की स्पष्ट समझ है कि महिलाओं के मानस पर नियंत्रण करके पूरे परिवार को उपभोक्तावाद से जोड़ा जा सकेगा।

इस सोच के अनुसार शिक्षा बच्चों के समग्र विकास की प्रक्रिया एवं उनके मानवीय हक के रूप में नहीं देखी जाती। इसी तार्किक क्रम में बच्चों को वैश्वीकरण और बाज़ार के लिए एक उपयोगी संसाधन की नजर से देखना जरूरी हो जाता है। अतः शिक्षा के जरिए एक बेहतर समाज का निर्माण करना कोई आवश्यक उद्देश्य नहीं रह जाता। इसीलिए विश्व बैंक की उपरोक्त पुस्तक में कहीं भी यह जरूरी नहीं समझा गया कि शिक्षा के दर्शन का संदर्भ दिया जाए। विश्व बैंक की शैक्षिक दृष्टि में गांधी, टैगोर, महर्षि अरविंद और गिजुभाई बधेका जैसे लोगों के शैक्षिक दर्शन के लिए कोई स्थान नहीं है। निस्संदेह, इसी बाज़ारीकृत और यंत्रवत सोच का परिणाम है कि 1985-86 में भारत के शिक्षा मंत्रालय का नाम बदलकर मानव संसाधन विकास मंत्रालय कर दिया गया। यानी ऐसा मंत्रालय जो विश्व बाजार के लिए इनसान को एक जरिया बनाने का काम करे। इस बिंदु पर आकर भारत सरकार और विश्व बैंक के शैक्षिक सोच में कोई फर्क ढूंढ़ना मुश्किल हो जाता है।

विश्व बैंक की नीति के कारण शिक्षकों का भविष्य भी खतरे में है। बैंक का एक दस्तावेज कहता है कि शिक्षक की नौकरी कभी भी स्थायी न हो और वे ठेके (कांट्रेक्ट) पर लिए जाएं। ठेका इस प्रकार से होना चाहिए कि स्कूल का मैनेजमेंट जब चाहे उनको खारिज कर दें। शिक्षक संगठनों के लिए यह भारी चिंता की बात है क्योंकि ठेके पर रखे गए शिक्षकों का वेतन भी कम होगा। पश्चिम के देशों में शिक्षक और विश्वविद्यालय या कालेज के बीच वेतन को लेकर सौदेबाजी होती है। यही अब हमारे शिक्षकों के साथ भी हुआ करेगा, बल्कि तीसरी दुनिया के सभी शिक्षकों के साथ। इसके बावजूद भारत सरकार के अफसर कहते हैं कि डी.पी.ई.पी. तो हमारे पूरे शैक्षिक बजट का मात्र 4.2 प्रतिशत देता है।

शैक्षिक बजट का मात्र 4.2 प्रतिशत देकर विश्व बैंक ने भारत में अपना इतना बड़ा तंत्र खड़ा कर लिया है। भारत सरकार से सवाल पूछना चाहिए कि 100 पैसों में सिर्फ 4 पैसे पाने के लिए उसने विश्व बैंक के सामने घुटने क्यों टेके? अगर यह मात्र 4 पैसे की बात थी तो क्या भारत सरकार अपनी आर्थिक प्राथमिकताओं का पुनर्गठन करके इतना पैसा उपलब्ध नहीं करा सकती थी ? चार पैसे का यह मामला बड़ा गंभीर है। हिंदुस्तान के प्राइमरी और मिडिल स्कूल की शिक्षा के स्तर पर लगभग 98 प्रतिशत खर्च वेतन और रखरखाव में होता है। केवल 2 प्रतिशत खर्च शिक्षक प्रशिक्षण में और शिक्षा के कुछ साधनों

पर। यानी शिक्षा की गुणवत्ता पर सिर्फ 2 प्रतिशत। तो जहां दो पैसा खर्च होता है, वहां विश्व बैंक ने चार पैसा और दे दिया। विश्व बैंक ने अपनी शर्तों में स्पष्ट रूप से कहा है कि उनके द्वारा दिए गए पैसों को केवल उन्हीं मदों में लगाया जा सकेगा जहां पर सरकार आम तौर पर पैसा नहीं लगा रही है। और वो मद है गुणवत्ता का जहां भारत सरकार 100 में से दो पैसे लगा रही थी।

यदि हम भविष्य में ऐसी नीतियां बनाना चाहते हैं जिनके जरिए हिंदुस्तान के हर बच्चे को उम्दा गुणवत्ता वाली और सार्थक शिक्षा मिले तो उसके लिए नीति के विश्लेषण का तरीका जानना और उसे लागू करना सीखना होगा। इस पद्धति के माध्यम से हम उन नीतियों को भी पहचान पाएंगे जिन्होंने विश्व बैंक को भारत की प्रारंभिक शिक्षा में हस्तक्षेप करने का मौका दिया। हमें यह भी समझना होगा कि हमारी शिक्षा नीति की वे क्या कमजोरियां हैं जिनके चलते भारत सरकार, विश्व बैंक और उसके साथ खड़ी अन्य अंतर्राष्ट्रीय वित्त एजेंसियों को इनकार नहीं कर पाई। इसी विश्लेषण से हमें ऐसी नीतियों का निर्माण करने का रास्ता भी दिखेगा जिनके सहारे हम *अपनी अर्थव्यवस्था की प्राथमिकताओं को पुनर्गठित करके भारत के सभी बच्चों के लिए समतामूलक और देशज नींव पर टिकी हुई लेकिन विश्व ज्ञान के सृजन में सक्रिय योगदान देने वाली शिक्षा की व्यवस्था कर पाएंगे।* उपरोक्त तथ्यों और विश्लेषण से यह स्पष्ट होना चाहिए कि ऐसी शिक्षा व्यवस्था का निर्माण न भारत सरकार करेगी और न ही विश्व बैंक या कोई और अंतर्राष्ट्रीय वित्त एजेंसी। इस प्रकार की शिक्षा व्यवस्था के निर्माण की पहल भारत के हर जन आंदोलन की प्राथमिकता बननी चाहिए। *जन आंदोलनों के मंचों पर यह तय करना होगा कि भारत की बाल-विरोधी और वैश्वीकरण की तर्ज पर चलने वाली शिक्षा नीति को बदलने और सरकारी स्कूली तंत्र को आम लोगों के जीवन के लिए सार्थक बनाने हेतु किस प्रकार का जन हस्तक्षेप किया जाए।*

संदर्भ और टिप्पणियां

1. आजादी के बाद यह नीति बनी कि अधिकांश राज्य परीक्षा मंडलों में ब्रिटिश प्रणाली चलती रहेगी. लेकिन जब गुजरात में बुनियादी शिक्षा (नई तालीम) को मुख्य धारा की शिक्षा पद्धति बनाने का दबाव बढ़ा तो शासन ने बुनियादी शिक्षा हेतु अलग से विशेष परीक्षा मंडल खड़ा कर दिया. किंतु मुख्यधारा को बदलने की अनुमति नहीं दी.
2. गांधी की अवधारणा के अनुसार हर विषय के केंद्र में 'उत्पादक काम' का स्थान होगा. उदाहरणतः ज्यामिति को बढ़ईगिरी के काम से या क्षेत्रफल की अवधारणा को खेती करने के दौरान सीखा जा सकता है. इसकी जगह सप्ताह में एकाध पिरियड 'वर्क एक्सपीरियंस' के नाम रख दिए गए.
3. इस प्रकार भारत सरकार ने शिक्षा और साक्षरता के भेद को खत्म करते हुए साक्षरता को शिक्षा का पर्याय बना दिया.
4. विश्व बैंक तथा अन्य वित्त-पोषक अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों द्वारा दिया गया तमाम कर्ज प्रारंभिक शिक्षा पर किए जा रहे सरकारी व्यय का मात्र 4.22 प्रतिशत है.
5. *प्राइमरी एजुकेशन इन इंडिया*, दि वर्ल्ड बैंक एवं अलाइड पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. 307, 1997.

14. नारी शिक्षा नीति : लिंग समता का भ्रम

पिछले आलेख में शिक्षा नीति के विश्लेषण की पद्धति पर विचार किया गया है। नीति और कार्यक्रम की रूपरेखा के बीच विरोधाभास, नीति के विभिन्न अवयवों के बीच विरोधाभास, सामाजिक-आर्थिक यथार्थ और नीति के बीच विरोधाभास आदि ऐसे विभिन्न विरोधाभासों के सहारे नीति विश्लेषण की एक वैज्ञानिक पद्धति विकसित करने की संभावना उभारी गई है। प्रस्तुत आलेख में उपरोक्त पद्धति को अपनाते हुए राष्ट्रीय शिक्षा नीति—1986 में महिलाओं की शिक्षा से संबंधित अंश का विश्लेषण करने की कोशिश की गई है। इस प्रयास का विशेष महत्व यह है कि इस नीति को बनाने वाले राजनेताओं, शैक्षिक नौकरशाहों एवं उनसे जुड़े हुए शिक्षाविदों की दृष्टि में महिलाओं की शिक्षा वाला यह अंश शिक्षा नीति का शायद सर्वाधिक प्रगतिशील अंश माना जा सकता है। आम धारणा यह रही है कि यदि इस अंश का निष्ठापूर्वक क्रियान्वयन किया जाता तो निश्चित ही महिलाओं का सामाजिक दर्जा बदलने और शिक्षा में उनकी भागीदारी सुदृढ़ करने में सफलता मिलती। लेकिन इस आलेख में प्रस्तुत विश्लेषण यह स्थापित करता है कि नीति के इस अंश में भी अनेक खामियां और आंतरिक विरोधाभास हैं जिनके चलते इसका क्रियान्वयन कभी भी अपेक्षित परिणामों की ओर नहीं ले जा सकता था। अतः जरूरत है महिलाओं की शिक्षा हेतु एक तर्कसंगत वैज्ञानिक नीति की।

अन्य सभी नीति संबंधी वक्तव्यों की भांति 'महिलाओं की समानता हेतु शिक्षा' के संबंध में राष्ट्रीय शिक्षा नीति—1986 (और इसी तरह 1992 की संशोधित नीति) में दिए गए वक्तव्य का भी विश्लेषण निम्नांकित तीन स्तरों पर किया जा सकता है :

- वह सामाजिक-सांस्कृतिक यथार्थ एवं शैक्षिक परिस्थिति जिसके संदर्भ में और जिसे बदलने के लिए संबंधित नीतिगत वक्तव्य जारी किया गया है;
- नीतिगत वक्तव्य का अपने-आप में औचित्य, पर्याप्तता और आंतरिक तार्किकता; एवं
- कार्यक्रम का स्वरूप जिसमें नीतिगत वक्तव्य के प्रतिबिंबित होने की अपेक्षा है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति—1986 के संबंधित अंश में लिखा है कि,

शिक्षा का उपयोग महिलाओं के सामाजिक दर्जे में बुनियादी परिवर्तन लाने के लिए

मूल स्रोत : अखिल भारतीय महिला शिक्षा कोष संघ द्वारा आयोजित 'महिलाएं प्रगति की ओर' सम्मेलन (12-14 अक्तूबर 1998) में प्रस्तुत पर्चा.

> एक साधन के रूप में किया जाएगा। अतीत से चली आ रही विकृतियों को खत्म करने के लिए महिलाओं के पक्ष में एक स्पष्ट तयशुदा झुकाव होगा। राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था महिलाओं के सशक्तीकरण हेतु एक सकारात्मक हस्तक्षेप की भूमिका निभाएगी,. . . . इस काम को कृत संकल्प होकर सामाजिक 'इंजीनियरिंग' के रूप में किया जाएगा. . .

'अतीत से चली आ रही विकृतियों' को स्वीकारने के बावजूद नीति में महिलाओं के दर्जे के व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ की अवहेलना की गई है। शिक्षा को नीति में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है जैसे कि वह अपने आप में महिलाओं के सामाजिक दर्जे में वांछनीय परिवर्तन लाने और उनकी समस्याओं का समाधान करने के लिए एक पर्याप्त तथा संपूर्ण कारक हो। यानी, नीति में यह मान लिया गया है कि शिक्षा की दिशा को सही मोड़ देने पर अपेक्षित सामाजिक बदलाव संभव हो जाएगा, चाहे अन्य सभी संबंधित कारक यथावत क्यों न बने रहें। महिला सशक्तीकरण में शिक्षा की भूमिका की यह खंडित, आधी-अधूरी और अति-सरलीकृत समझ सारी शिक्षा नीति को प्रभावित करती हुई दिखती है तथा, जैसा कि अपेक्षित भी है, नीति से उभरने वाले सभी कार्यक्रमों में झलकती है।

सन् 1986 में निर्धारित किए गए कार्यक्रम में महिला सशक्तीकरण तथा सामाजिक बदलाव के बीच संबंध पर आधारित 'सामूहिक चिंतन और निर्णय प्रक्रिया' और 'सामूहिक जुड़ाव. . .समान भागीदारी. . . सामूहिक कर्म' की भूमिका के महत्व का उल्लेख किया गया है। इससे ऐसा लगता है कि महिलाएं अपने 'व्यक्तिगत दमन' को 'सामाजिक दमन' के रूप में देखने के लिए जिस संघर्ष में शामिल होती हैं उसका बुनियादी महत्व नीति में स्वीकारा गया है। लेकिन इस समझ का कोई महत्व नहीं है चूंकि न तो नीति में और न कार्यक्रम की रूपरेखा में ऐसा कोई भी प्रावधान है जो ऐसी प्रक्रियाओं के पक्ष में समाज में समर्थक ढांचे विकसित करता है। इन प्रकियाओं को न तो स्कूल से और ना ही इसी नीति के तहत विश्वविद्यालयों में स्थापित किए जा रहे 'महिला अध्ययन केंद्रों' के साथ जोड़ने हेतु कोई सोच दिखता है। यदि ऐसे अनुभव उभरते हैं तो उन्हें स्कूली पाठ्यक्रम में शामिल करने की कोई कल्पना भी नहीं दिखती। नीति आगे यह भी अहसास देती है कि यह शैक्षिक संस्थाओं के अंदर सिमटकर काम करने की सीमाओं को तोड़ने एवं उनके दायरे के बाहर रहकर सामाजिक हस्तक्षेप करने के उद्देश्य के प्रति सचेत है। लेकिन नीति के अंतर्विरोध स्वयं ही उभर आते हैं जब लगभग सभी निर्धारित कार्यक्रम (मात्र 'महिला समाख्या' के शुरुआती दौर वाले अपवाद को छोड़कर) शैक्षिक संस्थाओं में ही सिमट जाते हैं। यह बात सभी कार्यक्रमों के लिए सच है, चाहे संदर्भ लड़कियों की स्कूलों में दर्ज संख्या या उनके टिके रहने की दर बढ़ाने का हो या किशोरियों के लिए रोजगारमूलक शिक्षा देने का अथवा विश्वविद्यालयीन स्तर पर युवतियों के लिए उम्दा गुणवत्ता वाले व्यावसायिक पाठ्यक्रम उपलब्ध कराने का हो। नीति में महिलाओं के सामाजिक दर्जे को बदलने से संबंधित मुद्दों पर शोध करने और ज्ञान का सृजन करने के लिए विश्वविद्यालयों में 'महिला अध्ययन केंद्रों'

की स्थापना के महत्व पर पर्याप्त जोर दिया गया है। लेकिन एक बार फिर नीति में इन केंद्रों द्वारा सृजन किए गए ज्ञान को विश्वविद्यालय के बाहर की सामाजिक प्रक्रियाओं से जोड़ने हेतु किसी ढांचे या प्रक्रिया का प्रावधान नहीं दिखता है। इस तथ्य को भी हमें नीति की खंडित और आधी-अधूरी दृष्टि का ही परिणाम मानना होगा।

नीति में महिलाओं के सामाजिक दर्जे में परिवर्तन लाने के लिए समाज के पितृसत्तात्मक ढांचों को चुनौती देने की जरूरत को एक पूर्व शर्त के रूप में देखने की चेतना का भी स्पष्ट अभाव है। ऐसी ढुलमुल नीति के आधार पर रचे गए कार्यक्रमों में इसीलिए यह मान लिया गया है कि पितृसत्तात्मक समाज में उपलब्ध सीमित गुंजाइश के अंदर ही महिलाओं के सामाजिक दर्जे में सुधार करना होगा। इस स्थिति को महिला सशक्तीकरण के रूप में कैसे स्वीकारा जा सकता है? इस अस्पष्टता का एक और दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम है कि प्रस्तावित कार्यक्रमों में संघर्ष और सामाजिक आंदोलन की प्रक्रिया में महिलाओं के जुड़ने के लिए कोई प्रावधान नहीं है। इस स्थिति का एकमात्र अपवाद शायद 'महिला समाख्या' (और वह भी उसके शुरुआती चरणों में) और उसका पूर्ववर्ती राजस्थान का 'महिला विकास कार्यक्रम' कहा जा सकता था। लेकिन जमीनी अनुभव साक्षी है कि जब-जब इन सरकारी महिला सशक्तीकरण कार्यक्रमों में विकास का वह चरण आया जब महिलाएं स्वयं संघर्षशील होने लगीं या अन्य आंदोलनों से जुड़ने लगीं तब इस प्रक्रिया को सरकार ने स्वयं रुकवा दिया।[1] नीति और वर्तमान कार्यक्रमों की यह 'पितृसत्तात्मक ढांचों को बरकरार रखते हुए महिला सशक्तीकरण करने' वाली भ्रामक मान्यता दुनिया भर के महिला आंदोलनों के ऐतिहासिक अनुभव से मेल नहीं खाती है। इस प्रकार यह विडंबना नीतिगत वक्तव्य में महिला सशक्तीकरण के तमाम उल्लेखों को मात्र आकर्षक मुहावरों का रूप दे देती है।

नीति के अंतर्विरोध, सातवीं पंचवर्षीय योजना से लेकर आज तक प्रस्तावित और क्रियान्वित कार्यक्रमों की निम्नलिखित कमियों के लिए जिम्मेदार हैं :

(1) सभी बच्चों के लिए 'शिशु देखभाल एवं शिक्षा' के मसले और इसे प्राथमिक शिक्षा के ढांचे में समन्वित करने की प्राथमिकता का अभाव रहा है। यदि बालिका शिक्षा को महिला सशक्तीकरण हेतु एक महत्वपूर्ण कदम माना जाता है तो फिर नीति या प्रस्तावित कार्यक्रमों में यह संकल्प क्यों नहीं दिखता कि देश की हर प्राथमिक शाला के साथ शिशु देखभाल की उचित व्यवस्था (उदा. क्रेश) की जाए। इसका अर्थ है कि नीति निर्धारकों ने यह कभी नहीं समझा कि शिशुओं की देखभाल से कम से कम कुछ समय के लिए मुक्त होना बालिका शिक्षा और महिला सशक्तीकरण के लिए जरूरी है।

(2) प्राथमिक शालाओं को स्थापित करने के संबंध में 'बस्ती से एक किलोमीटर की दूरी' और मिडिल स्कूलों के संबंध में 'बस्ती से तीन किलोमीटर की दूरी' के मापदंड को यंत्रवत लागू किया गया है; इसके दौरान लड़कियों की घरेलू या सामाजिक

जिम्मेदारियों और साथ-साथ उनके किशोरावस्था में प्रवेश करने पर होने वाले खतरों के प्रति कोई संवेदनशीलता नहीं दिखी है।

(3) ग्रामीण सामंती परिस्थिति में समाज के वंचित तबकों (दलित, अल्पसंख्यक, आदिवासी आदि) के लिए उच्च-वर्णीय मोहल्ले को पार करके जाना एक असंभव सा काम है, चाहे स्कूल और घर के बीच की दूरी 200-300 मीटर ही क्यों न हो। इसके प्रति भी नीति मौन है।

(4) ग्रामीण परिवेश में ईंधन, चारा एवं पानी जैसे सामूहिक संसाधनों के तेजी के साथ लुप्त होने के कारण लड़कियों के लिए स्कूली शिक्षा और भी दुष्कर होती जा रही है। नीति में इस मुद्दे के प्रति चेतना की निहायत कमी रही है।

(5) एक समतामूलक राष्ट्रीय आय एवं दिहाड़ी नीति के अभाव के कारण लड़कियों की बढ़ती हुई संख्या घरेलू काम करने या परिवार की आय बढ़ाने हेतु मजबूरन मजदूरी करने के लिए बाध्य होती है।

(6) नीति में इस बात की चेतना नहीं दिखती कि बालिकाओं के यौन शोषण एवं बाल विवाह को समाज में मिलने वाले प्रत्यक्ष या मौन समर्थन का बालिका शिक्षा और महिला सशक्तीकरण पर कितना गंभीर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। यदि यह चेतना होती तो नीति के वक्तव्य और प्रस्तावित कार्यक्रमों में जरूर झलकती।

(7) घोषित अथवा परोक्ष पाठ्यक्रम में लिंग परिप्रेक्ष्य का सर्वथा अभाव रहा है (लड़कों के नामों की जगह लड़कियों के नाम डालने जैसे सतही और हास्यास्पद परिवर्तनों से लिंग परिप्रेक्ष्य नहीं बन जाता)।

विश्व बैंक के तत्वावधान में आयोजित जोमतियन सम्मेलन (1990) ने भारतीय शिक्षा नीति के इतिहास को एक विवादास्पद मोड़ देकर चिन्हित किया, खासकर महिलाओं के शैक्षिक कार्यक्रमों के बारे में सरकारी दृष्टि के संदर्भ में। उत्तर-जोमतियन चरण के दौरान विश्व बैंक और अन्य अंतर्राष्ट्रीय वित्त-पोषक एजेंसियों द्वारा भारतीय अर्थव्यवस्था में 'संरचनात्मक समायोजन' के बहाने स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में खुलकर दखलंदाजी की गई है। इसके फलस्वरूप कई विकृतियां उभरी हैं। इनमें से लिंग समता को प्रभावित करने वाली चंद अधिक महत्वपूर्ण विकृतियों को नीचे सूचीबद्ध किया जा रहा है :

(क) न्यूनतम आठ साल की शिक्षा (प्रारंभिक शिक्षा) के प्रति संवैधानिक कटिबद्धता के शिथिल पड़ने के कारण मिडिल : प्राथमिक स्कूल का अनुपात और भी अधिक बिगड़ा है जिसके चलते लड़कियों के लिए मिडिल स्तर (उत्तर-प्राथमिक) की शिक्षा की उपलब्धता पर नकारात्मक असर पड़ा है। यह समझना जरूरी है कि आठ साल की प्रारंभिक शिक्षा को पांच साल की प्राथमिक शिक्षा तक सीमित करने का विश्व बैंक का प्रयास, लड़कियों के संदर्भ में उनके शिक्षित नागरिक के रूप में सामाजिक-आर्थिक भागीदारी करने के अवसर कुंद कर देता है।

(ख) शिक्षा की कई समानांतर धाराओं (उदाहरणतः औपचारिकेतर शिक्षा, वैकल्पिक स्कूल, प्रौढ़ साक्षरता कार्यक्रम के दायरे को बढ़ाकर उसमें 9-14 आयु समूह को शामिल करना) को प्रोत्साहन देने के कारण सरकारी स्कूल की भूमिका को दरकिनार किया जा रहा है, जिससे लड़कियों की शिक्षा की गुणवत्ता पर नकारात्मक असर पड़ा है।

(ग) शिक्षा के नाम पर महिला साक्षरता की सतही बात करके नीति ने 'महिलाओं की समानता के लिए शिक्षा' वाले पक्ष को मजाक बना दिया है।

(घ) महिलाओं की शिक्षा को एक खास दृष्टि से संकुचित करने का प्रयास रहा है जिसके चलते महिलाओं को मात्र 'उपयोगी उत्पाद', जनसंख्या शिक्षा की संदेशवाहिका या पारिवारिक आय के सक्षम स्रोत के रूप में देखा गया है। इस दृष्टि के कारण महिलाओं के शिक्षा पर मानवीय हक का हनन हुआ है।

(च) नीति इस तथ्य के प्रति सचेत नहीं है कि शिक्षा के अलावा अन्य सामाजिक प्रक्रियाओं के जरिए भी महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने के फलस्वरूप परिवार और समाज के अंदर के लिंग रिश्ते यकीनन बदलते हैं, यानी पितृसत्तात्मक ढांचों पर भी दबाव पड़ता है। नीति में यह कमी इस बात का सबूत है कि महिला सशक्तीकरण और लिंग समता के मामलों में नीति गंभीर नहीं है।

(छ) महिला सशक्तीकरण के उद्देश्य को लड़कियों की स्कूलों में दर्ज संख्या की सांख्यिकी को बढ़-चढ़कर दिखाने की प्रवृत्ति के चलते दोयम दर्जे का बना दिया है। इसी क्रम में महिला सशक्तीकरण का उद्देश्य, कार्यक्रमों के एजेंडा तक से गायब हो गया है जबकि जरूरत इस बात की थी कि लड़कियों की दर्ज संख्या और सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में उनकी भागीदारी को महिला सशक्तीकरण के एक आवश्यक परिणाम के रूप में देखा जाता। 'महिला समाख्या' कार्यक्रम को विश्व बैंक के तत्वावधान में चले 'जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम' में इसी प्रकार विकृत किया गया है।[2]

उपरोक्त विश्लेषण के फलस्वरूप महिलाओं की शिक्षा के बारे में एक सार्थक नीति का ढांचा बनाने हेतु चंदेक धारणाएं उभरती हैं :

- यह असंभव है कि महिलाओं का सामाजिक दर्जा यथावत बना रहे और इसके बावजूद लड़कियों को समान गुणवत्ता वाली शिक्षा उपलब्ध हो जाए।
- महिला सशक्तीकरण के उद्देश्य की ओर बढ़ने के लिए सामूहिक चिंतन, प्रखर सोच एवं महिलाओं की प्रत्यक्ष भागीदारी के जरिए सामूहिक कर्म जैसी कई पूर्व शर्तें हैं।
- *समाज के पितृसत्तात्मक ढांचों को तोड़े बगैर लिंग समता तक नहीं पहुंचा जा सकता। इसके लिए महिलाओं और पुरुषों की समान भागीदारी के सिद्धांत पर एक दीर्घकालीन संघर्ष चलाना आज की ऐतिहासिक जरूरत है।*
- भारत में लैंगिक संबंधों के मामले में व्यापक विविधता है। कई बार तो एक ही अंचल में बसे हुए विभिन्न समुदायों में भी इस मामले में विविधता है। अतः महिलाओं

की सामाजिक स्थिति को बदलने के लिए एक भू-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य विकसित करना होगा और उसे शैक्षिक कार्यक्रमों की नींव बनाना होगा।

- *महिला सशक्तीकरण, शैक्षिक कर्म का परिणाम मात्र नहीं है, यह शिक्षा के चरित्र को पुनर्परिभाषित करने का एक औजार भी है।*
- लिंग परिप्रेक्ष्य और महिला सशक्तीकरण की प्रक्रिया का प्रभाव विभिन्न शैक्षिक एवं विकास संबंधी प्रयासों के सभी आयामों पर दिखना चाहिए।

इक्कीसवीं सदी के मोड़ पर चुनौती इस बात की है की हम कम से कम उपरोक्त धारणाओं के बीच एक जीवंत रिश्ता बनाकर नीति का कारगर स्वरूप विकसित कर सकें। फिर इस स्वरूप के आधार पर ऐसे कार्यक्रमों को खड़ा किया जा सके जिनके जरिए *लिंग समता हेतु संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में महिला सशक्तीकरण और शिक्षा के बीच का आवश्यक द्वंद्वात्मक संबंध धरातल पर उतारा जा सकेगा।*

संदर्भ और टिप्पणियां

1. भंवरी देवी के विद्रोह की विख्यात घटना के बाद राजस्थान सरकार द्वारा 'महिला विकास कार्यक्रम' को बंद करना, इस अनुभव का एक उम्दा उदाहरण है. ऐसे ही कुछ अनुभव 'महिला समाख्या' के साथ भी विभिन्न प्रदेशों में हुए.
2. सन् 1995-96 में मध्य प्रदेश में जब महिला समाख्या को जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम से जोड़ा गया तो उसे महिला सशक्तीकरण की प्रक्रिया के रूप में नहीं देखा गया बल्कि उसे लड़कियों को स्कूलों में दर्ज करने का कार्यक्रम मान लिया गया. यह भी नहीं स्वीकारा गया है कि लड़कियों का स्कूल में पहुंच पाना स्वयं समाज में महिलाओं के दर्जे से जुड़ा हुआ मुद्दा है. यदि महिलाओं का सामाजिक दर्जा बदलेगा तो लड़कियों की स्कूल में भागीदारी भी स्वतः बढ़ेगी.

15. बाल अधिकार और शिक्षा नीति के बीच अंतर्द्वंद्व

सन् 1992 में भारत सरकार ने 'बाल अधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र सहमति-प्रपत्र' (कन्वेंशन ऑन चाइल्ड राइट्स) पर हस्ताक्षर किए। सहमति-प्रपत्र की अपेक्षानुसार दो वर्ष बाद प्रत्येक सरकार को इस क्षेत्र में हुई प्रगति पर अपनी रपट देनी थी। साथ में यह अपेक्षा भी थी कि प्रत्येक देश के स्वैच्छिक संगठन मिलकर एक स्वतंत्र रपट भी पेश करेंगे और ये दोनों रपटें संयुक्त राष्ट्र भेजी जाएंगी।

उपरोक्त संदर्भ में नवंबर 1994 में भारतीय बाल कल्याण परिषद (आई.सी.सी. डब्ल्यू.) ने यूनिसेफ तथा महिला एवं बाल विकास विभाग (मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार) के सहयोग से स्वैच्छिक संगठनों का राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया। इस सम्मेलन में सहमति-प्रपत्र के सभी पक्षों पर भारत की स्थिति तथा प्रगति पर विचार किया गया। सम्मेलन के शिक्षा समूह की अध्यक्षता करते हुए उपस्थित संगठनों के विचारों के आधार पर हमने[1] एक रपट तैयार की, जिसमें बाल अधिकार के सवाल को राष्ट्रीय शिक्षा नीति की कसौटी पर परखा गया। सम्मेलन में हमारी रपट का व्यापक स्वागत हुआ। लेकिन इस रपट में प्रस्तुत सचाई इतनी कड़वी थी कि यह भारतीय बाल कल्याण परिषद (एक 'सरकारी एन.जी.ओ') एवं यूनिसेफ के गले नहीं उतरी और उन्होंने इसकी जगह अपनी रपट जारी करने की पूरी कोशिश की। भारतीय बाल कल्याण परिषद ने यूनिसेफ से हमारी इस रपट का 'संपादन' (यानी आशय परिवर्तन) भी करवाया ताकि इस सच के तीखेपन को कुछ कम किया जा सके। इसके बावजूद परिषद इस 'संपादित' रपट को भी संयुक्त राष्ट्र को भेजने का साहस आज तक नहीं जुटा पाई है। यहां उसी संपादित रपट को ज्यों-का-त्यों पेश किया जा रहा है ताकि इस बात को समझा जा सके कि सरकार और सरकारी ढांचे में समाहित तथाकथित स्वैच्छिक संस्थाएं (यानी 'सरकारी एन.जी.ओ.') शिक्षा के सच से कितना और क्यों घबराती है।

बाल अधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र सहमति-प्रपत्र के व्यापक अनुच्छेदों में से अनुच्छेद 28 तथा 29 में शिक्षा के अधिकार पर ध्यान केंद्रित करते हुए चर्चा की गई है। अनुच्छेद 28-1 (ए) के अनुसार :

राज्य पक्ष[2] बच्चों के अधिकार को स्वीकारते हैं तथा समान अवसर के आधार पर

मूल स्रोत : भारतीय बाल कल्याण परिषद, नवंबर 1994 के दस्तावेज.

इसे संभव बनाने के लिए वे लगातार प्रयत्नशील रहेंगे, विशेषकर : (क) प्राथमिक शिक्षा को सबके लिए अनिवार्य बनाना तथा निःशुल्क उपलब्ध कराना।

भारत सरकार द्वारा दिसंबर 1992 में बाल अधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र सहमति-प्रपत्र की अभिपुष्टि दरअसल राज्य के उसी दायित्व को आंशिक रूप से दोहराती है जो भारतीय संविधान के अनुच्छेद 45 में मौजूद है, यानी '14 वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों को निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा देने का प्रावधान राज्य करेगा।' संविधान में यह कल्पना की गई थी कि यह लक्ष्य 1960 तक हासिल हो सकेगा।

बाल अधिकार सहमति-प्रपत्र इसी दायित्व को अधिक व्यापक और समृद्ध बनाते हुए 14 वर्ष के बजाए 18 वर्ष आयु तक के सभी बच्चों को बच्चे की परिभाषा में शामिल करता है। इस संदर्भ में निम्नांकित बिंदु विचारणीय हैं :

1. लेकिन भारत में शिक्षा पर हाल ही में छपे सरकारी वक्तव्य विपरीत स्थिति प्रस्तुत करते हैं। पिछले दो सालों में ऐसे प्रमाण मिले हैं जो यह संकेत देते हैं कि इस संवैधानिक जिम्मेदारी को निभाने के प्रति कटिबद्धता में लगातार कमी आई है। यह बात स्कूली शिक्षण की अवधि तथा शिक्षा की गुणवत्ता दोनों पर लागू होती है। सरकार की यह प्रवृत्ति जोमतियन (थाइलैंड) में मार्च 1990 में हुए 'सब के लिए शिक्षा' पर आयोजित विश्व सम्मेलन के बाद और भी साफ नजर आने लगी है।

2. कुछ समय पहले तक विकास की योजना बनाने वाले एवं नीति निर्धारक संविधान के अनुच्छेद 45 में बताए गए दायित्व का अर्थ यह लगाते रहे कि पहली से आठवीं कक्षा तक की प्रारंभिक शिक्षा आठ वर्ष में पूरी हो सकेगी और अधिकांश बच्चे छह वर्ष की आयु से स्कूल जाने लगेंगे। बाल अधिकार सहमति-प्रपत्र की भारत द्वारा अभिपुष्टि के बाद अपेक्षा यह थी कि बाल शिक्षा का राजकीय दायित्व अधिक सघन और समृद्ध होगा। दरअसल अनुच्छेद 45 और अन्य संबंधित अनुच्छेदों को निम्नलिखित रूप से व्यापक बनाने की जरूरत थी :

- अनुच्छेद 45 में 0-6 वर्ष के शाला-पूर्व आयु के बच्चों के लिए 'शिशु देखभाल एवं शिक्षा' को शामिल कर उसे भी राज्य का उत्तरदायित्व तथा बाल अधिकार मानना चाहिए था। वर्तमान में चल रहे 'शिशु देखभाल एवं शिक्षा' कार्यक्रम (मय समेकित बाल विकास कार्यक्रम के) कल्याण कार्यक्रम के रूप में चलाए जा रहे हैं तथा 1990 में लगाए गए अनुमान के अनुसार 0-6 वर्ष के आयु के बच्चों की कुल जनसंख्या में से मात्र 10.2 प्रतिशत बच्चों को ही यह सुविधा उपलब्ध है।[3] भविष्य में इसे विस्तृत बनाने का विचार अवश्य है पर सभी बच्चों को शामिल करने की बात अभी भी दूर की कौड़ी है।
- अनुच्छेद 45 में विकलांग बच्चों को शामिल करना। वर्तमान में चल रहे कार्यक्रम अत्यंत सीमित हैं तथा अनुमानित एक करोड़ (यह अनुमान भी वास्तविकता से कम

है) विकलांग बच्चों के एक छोटे से अंश को ही उपलब्ध हैं।

- माध्यमिक एवं उच्च माध्यमिक शिक्षण सुविधाओं को विस्तृत करना ताकि बाल अधिकार सहमति-प्रपत्र की नई परिभाषा में आने वाले बच्चों की बढ़ती संख्या को भी ये सुविधाएं उपलब्ध हो सकें (फिलहाल 14-18 वर्ष की आयु के मात्र 5 से 7 प्रतिशत बच्चों को ये सुविधाएं उपलब्ध हो पा रही हैं); पाठ्यक्रम में आवश्यक बदलाव करना ताकि अवधारणा निर्माण, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, कौशल विकास, सामाजिक वास्तविकता को समझने तथा उसमें हस्तक्षेप कर पाने की क्षमता और अन्य मान्य शैक्षणिक लक्ष्यों को सुनिश्चित किया जा सके। ताकि इस संदर्भ में इन लक्ष्यों को समता तथा न्याय के अत्यावश्यक औजारों के रूप में देखा जा सके, न कि ऐसे गुणों के रूप में जो केवल उन विद्यार्थियों में वांछनीय है जो शिक्षा की कीमत चुका सकते हैं; व्यावसायिक शिक्षा को अल्प सुविधा-प्राप्त विद्यार्थियों के लिए समानांतर प्रणाली के रूप में देखने के बजाए पाठ्यक्रम ही ऐसे बनाने चाहिए जिसमें माध्यमिक एवं उच्च माध्यमिक स्तर के सभी विद्यार्थियों के लिए सीखने के माध्यम के रूप में और उनके दृष्टिकोण बदलाव के लिए बौद्धिक ज्ञान के साथ-साथ उत्पादक कार्य भी जुड़ा हो। राममूर्ति शिक्षा समीक्षा समिति पहले से ही इसकी पैरवी करती आ रही है। लेकिन विगत दो वर्षों में अनुच्छेद 45 को उपरोक्त रूप से विस्तृत करने की दिशा में किसी भी प्रकार की प्रगति के कोई संकेत नहीं मिले हैं।

3. जोमतियन चरण के बाद सभी बच्चों के लिए आठ वर्ष की प्रारंभिक शिक्षा के वादे को कम करके पांच वर्ष की प्राथमिक शिक्षा (अर्थात केवल पांचवीं कक्षा) तक सीमित बनाकर, उच्च प्राथमिक स्तर (अर्थात कक्षा 6 से 8) की शिक्षा से लगभग काट ही दिया है। यह कटाव पाठ्यक्रम की दृष्टि से तो है ही, साथ ही भौतिक सुविधाओं के नियोजन तथा संसाधनों के आबंटन में भी नजर आता है। ये सारे उपाय न केवल संवैधानिक दिशा निर्देशों की अवहेलना करते हैं बल्कि बाल अधिकार सहमति-प्रपत्र के तहत उनके शिक्षा के अधिकार का हनन भी करते हैं। नीतिगत वादों के विरलीकरण का प्रमाण विदेशी पैसों से चलाए जाने वाले जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डी.पी.ई.पी.) से मिलता है जहां 6 से 11 वर्ष आयु के बच्चों की पांच वर्षों की शिक्षा को आज प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण की प्रभावी रणनीति के रूप में प्रोत्साहित किया जा रहा है। साथ ही प्राथमिक शिक्षा के स्थान पर अगर वह व्यवस्था लाई जाए जिसे राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) 'औपचारिकेतर प्रणाली से उपलब्ध करवाई गई समकक्ष शिक्षा' कहती है, तब भी सरकार द्वारा अधिकारिक रूप से यह मान लिया जाएगा कि इसका संवैधानिक दायित्व पूरा हो गया।

दायित्व में लगातार विरलीकरण की यह प्रक्रिया यहीं समाप्त नहीं होती। भारत सरकार द्वारा बाल अधिकार सहमति प्रपत्र की अभिपुष्टि के बाद राष्ट्रीय साक्षरता मिशन में 9 से 14 वर्ष की आयु के स्कूल न जाने वाले बच्चों को भी शामिल कर लिया गया है। *परिणामस्वरूप राज्य की जिम्मेदारी उस समय भी पूरी हुई मान ली जा सकती है जब बच्चा तीन वर्ष (पांच*

वर्ष भी नहीं) तक की प्राथमिक शिक्षा औपचारिकेतर धारा से, यानी 6 से 9-वर्ष की आयु तक, पा ले और तब अगले दो वर्ष 9 से 11 वर्ष की आयु तक (9 से 14 वर्ष तक भी) प्रौढ़ साक्षरता (जो 'शिक्षा' से भिन्न है) कार्यक्रम से जुड़ा रहे। बाल अधिकार सहमति-प्रपत्र के बाद उभरे 'शैक्षणिक' परिदृश्य में, *एक बाल मजदूर लड़की गांव के स्कूल में कदम रखे बगैर ही 'संवैधानिक रूप से शिक्षित' मान ली जाएगी अगर वह तीन साल तक औपचारिकेतर शिक्षा से जुड़ी रहे और अगले दो साल राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के प्रौढ़ साक्षरता कार्यक्रम से!* यह परिदृश्य राज्य को बड़े आराम से निम्न बातों के साथ सहअस्तित्व की स्थिति में रहने देगा :

- बाल-श्रम का कायम रहना;
- सामूहिक प्राकृतिक संसाधनों तक अधिकांश लोगों की घटती पहुंच से बच्चों पर ईंधन, चारा, पानी इकट्ठा करने तथा अपने छोटे भाई-बहनों को संभालने का बोझ बढ़ेगा, इससे लड़कियों के अधिकारों का और हनन होगा क्योंकि बाल विवाह प्रथा अब भी प्रचलित है;
- मजदूरी (दिहाड़ी), विकास योजनाओं से होने वाले लाभ और निर्णय प्रक्रिया की भागीदारी में लिंगभेद, क्षेत्रीय असमानताएं और विषमताएं बरकरार रहेंगी;
- स्थानीय स्कूल अप्रभावी होंगे तथा हाशिए पर बने रहेंगे; और
- समाज के विभिन्न तबकों को उनकी आर्थिक क्षमता के आधार पर भिन्न-भिन्न स्तर की स्कूल प्रणालियां उपलब्ध होंगी जो समाज में व्याप्त विषमताओं को और पुख्ता करेंगी।

4. चंद और घटनाएं हैं जिन्होंने उत्तर-जोमतियन चरण में शैक्षिक एजेंडा को और विकृत किया है, ये हैं :

- नीतिगत दस्तावेजों में शिक्षा तथा मुख्य पारिभाषिक शब्दों के अर्थों का धुंधला पड़ना। उदाहरण के लिए साक्षरता जो पहले शिक्षा का एक मापदंड हुआ करती थी, उत्तर-जोमतियन चरण में एक राष्ट्रीय ध्येय के रूप में कुछ इस प्रकार प्रचारित हो रही है मानो कि वही शिक्षा हो।
- 'न्यूनतम अधिगम स्तर' (एम.एल.एल.)[4] की अवधारणा राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (एन.सी.ई.आर.टी.) ने 1991 में प्रस्तुत की थी। 1993 से 'सबके लिए शिक्षा' ने मूल्यांकन तथा सीखने की प्रक्रिया को व्यवस्थित करने वाले औजार के रूप में इसे प्रचारित किया। न्यूनतम स्तरों की यह अवधारणा शिक्षा के संकुचित अर्थ को स्वीकार करके 'सामाजिक रूप से उपयोगी एवं योगदान देने वाले वयस्कों' को तैयार करने पर ध्यान केंद्रित करती है। एन.सी.ई.आर.टी. का दस्तावेज शिक्षा को निवेश एवं उत्पाद के नजरिए से देखता है। न्यूनतम स्तरों के मूल्यांकन के मापदंड

शिक्षार्थियों में 'समीक्षात्मक चिंतन', 'तार्किकता', 'परखने का विवेक', 'सृजनात्मकता' या 'संवेदनशीलता' जैसे गुणों पर बल नहीं देते, जो दरअसल शिक्षा का सारतत्व हैं। खासकर पर्यावरण शिक्षा का पाठ्यक्रम विशेष दक्षताएं बढ़ाने के लिए न होकर बच्चों के दिमाग में गरीब-विरोधी पूर्वग्रह ठूंसने वाला है। दस्तावेज में बाल विकास परिप्रेक्ष्य गायब है और वह बच्चों को मौजूदा अन्यायपूर्ण सामाजिक वास्तविकताओं और गैर-टिकाऊ विकास मॉडल को बिना आलोचना के स्वीकारने वाले इनसानों में बदलना चाहता है। और इस लक्ष्य को पाने के मकसद से बच्चों में आलोचनात्मक, सृजनात्मक क्षमताएं तथा मानवीय गुणों के विकास के बदले न्यूनतम अधिगम स्तर की चर्चा से भ्रम पैदा किया जा रहा है।

- लड़कियों की शिक्षा की चर्चा करते समय हाल के दस्तावेजों में लगातार 'सशक्तीकरण' और 'बदलाव' जैसे जुमलों का उपयोग किया जा रहा है। इन जुमलों को ध्यान से देखने पर साफ नजर आता है कि महिलाओं को जनसंख्या नियंत्रण के संदेशों को ग्रहण करने वालों के रूप में देखने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। महिलाओं को सशक्त बनाकर समाज में उनकी भूमिका को बराबरी के भागीदारों के रूप में देखने के बजाए उन्हें साक्षर माताओं के रूप में देखा जा रहा है ताकि ये संदेश प्रचारक हों। वे अधिक निपुण मजदूर तो बनें पर ऐसी मजदूर बनें जिनका उत्पादन की विधि पर कोई नियंत्रण न हो। यही कारण है कि महिला साक्षरता दरों में वृद्धि को एक ऐसे यंत्रवत लक्ष्य के रूप में पेश किया जा रहा है जिसे पाते ही तमाम सामाजिक तथा जनसांख्यिकीय मापदंडों में बेहतरी नजर जाएगी (बाल मृत्यु दर, जन्म दर, मृत्यु दर, परिवार का आकार, गर्भनिरोधक इस्तेमाल करने वाले सुरक्षित दंपतियों की दर आदि) मानो यह सब सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में या पितृसत्तात्मक समाज में बदलाव लाए बिना ही हासिल हो जाएगा। यह दृष्टि एक इनसान के रूप में लड़की के शिक्षा के अधिकार का हनन करती है।
- शिक्षा को, खासकर प्राथमिक शिक्षा को, साक्षरता के रूप में देखने की प्रवृत्ति लगातार बढ़ रही है और शिक्षा तथा अन्य सामाजिक-आर्थिक घटकों के सघन पारस्परिक रिश्तों की उपेक्षा की जा रही है।
- यह तलाशने और जानने में किसी की कोई रुचि नहीं है कि अधिकांश बच्चों के जीवन के लिए आज की शिक्षा किस कदर निरर्थक बन चुकी है। यह इस बात से स्पष्ट हो जाएगा कि बाल केंद्रित शिक्षा पर ही ध्यान केंद्रित किया जाता है (जो कि निस्संदेह एक प्रशंसनीय और महत्वपूर्ण लक्ष्य है) लेकिन बाल मजदूरों के जीवन में शिक्षा की सामाजिक प्रासंगिकता की कमी पर चर्चा तक करने की तैयारी नहीं होती है।
- राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के तहत संसाधन आबंटन की प्राथमिकताओं को समाज के कमजोर तबकों के पक्ष में बदलने की इच्छा की कमी आज की सचाई है। इसे प्राथमिक

> शिक्षा के क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय निवेश को आमंत्रित करने का तर्क बना कर प्रस्तुत किया जा रहा है। यह प्रवृत्ति, व्यवस्था के तहत संसाधनों के पुनर्विभाजन के सिद्धांत की मूलभूत भूमिका की उपेक्षा करती है। समस्या इसलिए और पेचीदा हो रही है क्योंकि राष्ट्रीय लक्ष्यों पर स्पष्टता के बिना ही अंतर्राष्ट्रीय मदद ली जा रही है। इस सब से दानदाताओं को शिक्षा की दिशा तथा भूमिका को अपने अनुसार मोड़ने का भरपूर अवसर मिल रहा है।

प्रारंभिक स्कूल प्रणाली में ऐसे बदलावों को लाना ताकि यह सभी बच्चों तक पहुंच सके (इसमें विकलांग बच्चे और दूरस्थ क्षेत्र भी शामिल हैं जहां ये सेवाएं उपलब्ध नहीं हैं), यह राष्ट्रीय प्राथमिकता होनी चाहिए। यदि हमें प्रारंभिक शिक्षा और 'शिशु देखभाल तथा शिक्षा' का लोकव्यापीकरण करना हो तो किसी भी रणनीति के केंद्र में स्कूल को ही रखा जाना चाहिए। इसी क्रम में औपचारिकेतर शिक्षा और राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के प्रौढ़ साक्षरता कार्यक्रम में 9 से 14 वर्ष आयु के बच्चों को शामिल करने जैसे समानांतर प्रयासों . 'व्यावहारिक रणनीतियां' कहकर प्रारंभिक स्कूल प्रणाली को हाशिए पर धकेलने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए और ना ही उपलब्ध संसाधनों को वहां से हटाकर अन्य प्रयासों में लगाना चाहिए। इस कार्य का महत्व प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण के घोषित लक्ष्यों और क्षेत्र की वास्तविकताओं के बीच विद्यमान खाई से ही स्पष्ट हो जाता है। जनगणना के ताजे आंकड़े बताते हैं कि 6 से 11 वर्ष आयु के देश के कुल बच्चों में से आधे से कुछ कम बच्चे और तकरीबन एक तिहाई लड़कियां ही स्कूल जा पाती हैं। शिक्षा की यह स्थिति, लिंग भेद तथा क्षेत्रीय विषमताओं से और अधिक विकृत हो जाती है।

अगर समान अवसरों के आधार पर बच्चों के शिक्षा के अधिकार को सुनिश्चित करना हो, जैसा कि बाल अधिकार सहमति-प्रपत्र की अपेक्षा भी है, तो देश भर में समान स्कूल व्यवस्था की अवधारणा लागू करनी होगी। स्वतंत्रता संग्राम से विरासत में मिली इस अवधारणा की कोठारी आयोग (1964-66) ने भी पैरवी की थी। 1968 तथा 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति तथा 1992 की संशोधित नीति में भी बार-बार इस बात पर बल दिया गया था। यद्यपि 'सामाजिक एकजुटता तथा राष्ट्रीय एकता' को प्रोत्साहित करने एवं समाज में समता और न्याय का पक्ष मजबूत करने के लिए इसको आवश्यक माना गया है फिर भी पूर्व में इसका पालन कम, अवहेलना अधिक हुई है। सरकार नई-नई स्कूली धाराएं (केंद्रीय विद्यालय, सैनिक स्कूल, नवोदय विद्यालय आदि) खोलकर और पहले से मौजूद निजी अनुदान वाले संभ्रांत स्कूलों के मार्फत समाज के संपन्न वर्गों की महत्वाकांक्षाएं पूरी कर रही है। प्रारंभिक शिक्षा के स्थान पर हाल में औपचारिकेतर शिक्षा पर जो बल दिया जा रहा है या बाल अधिकार सहमति-प्रपत्र के बाद राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के प्रौढ़ साक्षरता कार्यक्रमों में 9 से 14 वर्ष आयु के बच्चों को शामिल किया गया है, वह सरकारी नीतियों का संकेत है। गरीब तबके के बच्चों के लिए उच्च प्राथमिक स्तर पर व्यावसायिक शिक्षा को समानांतर प्रणाली के रूप में बढ़ावा देना भी ऐसे ही सरकारी उपायों की श्रेणी में आता है। दरअसल, ये तमाम

नीतियां समान स्कूल व्यवस्था के विचार को व्यवस्थित रूप से हाशिए पर धकेलने के लिए ही हैं।

शिक्षा की इस स्थिति को तमाम सरकारी आयोगों, समीक्षा समितियों तथा परामर्शी समूहों ने न केवल पहचाना है बल्कि स्वीकारा भी है और शिक्षा में व्याप्त विसंगतियों तथा विषमताओं को दूर करने के लिए अनेक सुझाव दिए गए हैं। लेकिन इन सुझावों ने भी सरकारी एजेंडा पर कोई प्रभाव नहीं डाला। सरकार के शैक्षिक दृष्टिकोण को समझने के लिए हमने वर्तमान शिक्षा नीति के दस्तावेजों का विश्लेषण किया है जिससे साफ नजर आता है कि राज्य की नीतियां शैक्षिक लक्ष्यों को फिर से परिभाषित करने या वर्तमान शिक्षा प्रणाली में आमूल-चूल बदलाव लाने के पक्ष में नहीं हैं। इन नीतिगत वक्तव्यों का विश्लेषण दरशाता है कि राज्य, शिक्षा को महत्वपूर्ण नहीं मानता और न ही वह बच्चे की संभावनाओं के संपूर्ण विकास को मूलभूत मानवाधिकार के रूप में देखता है; बल्कि उसके सहायक-मूल्य (जैसे आर्थिक विकास या जनसांख्यिक लक्ष्यों पर शिक्षा के प्रभाव) को ही स्वीकारता है। इससे हम राज्य के शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण के एक सिद्धांत तक तो पहुंचते ही हैं, यह सिद्धांत है—वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने का सिद्धांत। इसे 'सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए शिक्षा' कहा जा सकता है जो 'शिक्षा एक मानव अधिकार' जैसे सिद्धांत से बहुत दूर है।

अगर बाल अधिकार सहमति-प्रपत्र को गंभीरता से स्वीकारना है तो तार्किक रूप से संपूर्ण शैक्षिक उपक्रम में ढांचागत बदलाव आवश्यक होगा तथा शिक्षा को मानव अधिकार के रूप में देखना होगा। सरकार को भारत के 18 वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों के लिए समान शिक्षा व्यवस्था के मार्फत उचित गुणवत्ता वाली निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध करवानी होगी, क्योंकि यह प्रत्येक बच्चे का मूलभूत अधिकार है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि ऐसी शिक्षा प्रणाली गढ़ी जाए जो लोगों को समता तथा सामाजिक न्याय हेतु सशक्त बना सके। *स्कूल राज्य द्वारा नियंत्रित होने के बजाए समुदाय द्वारा नियंत्रित हों जहां बच्चे पहले उस दुनिया को समझ सकें जिसमें वे रहते हैं, तब फिर उसमें भागीदार बन सकें और अंततः हस्तक्षेप कर उसको पुनर्परिभाषित कर सकें।*

स्कूल प्रणाली के हालात

भारत सरकार ने 1990 में राष्ट्रीय शिक्षा नीति की समीक्षा समिति (जो आचार्य राममूर्ति समिति के नाम से जानी जाती है) गठित की। समिति ने स्कूल प्रणाली के हालात का विश्लेषण किया तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीति लागू होने के बाद की प्रक्रियाओं पर विचार किया। इस विश्लेषण को तथा हाल में हुए अन्य अध्ययनों को आधार बनाकर स्कूल प्रणाली को देखें तो मौजूदा स्थिति कुछ इस तरह नजर आती है :

(क) *नामांकन*

- हाल ही में राष्ट्रीय एप्लाइड आर्थिक शोध परिषद द्वारा (सितंबर 1994 में) किए गए एक राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (सैंपल सर्वे) ने यह स्थापित किया है कि गैर-नामांकित बच्चों का प्रतिशत न केवल सरकारी आंकड़ों से कहीं अधिक है बल्कि विभिन्न व्यवसायों में कार्यरत परिवारों में भी भिन्न-भिन्न है। रिपोर्ट बताती है कि नामांकन तथा स्कूल में ठहराव, दोनों से संबंधित सरकारी आंकड़ों में विश्वसनीयता की कमी है।
- सन् 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति के बाद हुए तमाम हस्तक्षेपों के कारण 1992 में जो संशोधित कार्ययोजना बनी उसने इस स्थिति को स्वीकारा और नामांकन को फिर से प्राथमिकता दी।

(ख) *नामांकन में विषमताएं*

शिक्षा में लिंग-विषमताओं का संकेत इस तथ्य से मिलता है कि स्कूल जाने वाले लड़कों की संख्या लड़कियों से 1.5 गुना अधिक है। यह विषमता ग्रामीण क्षेत्रों में और भी अधिक है।

- प्राथमिक स्तर पर अनुसूचित जाति/जनजाति के बच्चों का प्रतिशत उनकी आबादी के अनुपात में है पर माध्यमिक तथा उच्च माध्यमिक स्तर पर उनकी भागीदारी में भारी गिरावट आती है। अनुसूचित जाति/जनजाति की महिलाओं का साक्षरता प्रतिशत चिंताजनक रूप से कम है। देश भर के प्रतिशत देखें तो अनुसूचित जाति की मात्र 10.9 प्रतिशत तथा अनुसूचित जनजाति की मात्र 8 प्रतिशत महिलाएं साक्षर हैं।
- दरअसल, आचार्य राममूर्ति समिति (1990) के अनुसार 1961 से 1981 के दौरान अन्य जातियों तथा अनुसूचित जाति/जनजाति की साक्षरता दरों में अंतर बढ़ा है।[5]
- एक अध्ययन के द्वारा देश के 123 ऐसे जिलों की पहचान की गई है जहां प्राथमिक स्तर पर लड़कियों का कुल नामांकन अनुपात 50 प्रतिशत से भी कम है और ग्रामीण महिला साक्षरता दर 10 प्रतिशत से भी कम है।[6]

(ग) *ठहराव*

- प्रारंभिक शिक्षा के शुरुआती चरण में भारी संख्या में बच्चे स्कूल से बाहर हो जाते हैं। नामांकित बच्चों में से लगभग 50 प्रतिशत कक्षा 5 के बाद और 65 प्रतिशत (लड़कियों में यह 70 प्रतिशत है) कक्षा 8 तक पढ़ाई छोड़ देते हैं। अनुसूचित जाति/जनजाति जनसंख्या समूहों में ये आंकड़े और भी चिंताजनक हैं।

(घ) *स्कूल तक पहुंच*

- पांचवें अखिल भारतीय शैक्षिक सर्वेक्षण (1986) में पाया गया था कि 94 प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या को एक किलोमीटर की परिधि में प्राथमिक स्कूल तथा 85 प्रतिशत जनसंख्या को तीन किलोमीटर की परिधि में मिडिल स्कूल उपलब्ध हैं।
- पैदल दूरी के ये सरकारी मापदंड भौगोलिक कठिनाइयों तथा सामाजिक-सांस्कृतिक वास्तविकताओं पर विचार किए बिना बनाए गए हैं। आचार्य राममूर्ति समिति की रिपोर्ट बताती है कि जो लड़कियां घर में और घर के बाहर काम में जुटी हैं, उनके लिए ये मापदंड उचित नहीं हैं। पैदल दूरी के मापदंड पर भी सवाल उठाए जाने चाहिए क्योंकि लड़कियों की स्कूल तक पहुंच तमाम कारणों से सीमित होती है, खासकर कमजोर तबको की बालिकाओं की क्योंकि यौन-हिंसा की घटनाओं में वृद्धि हो रही है।
- अतः यह जानना जरूरी है कि कितनी प्रतिशत जनता को अपनी बस्तियों में प्राथमिक स्कूल उपलब्ध हैं। अगर इस नजरिए से देखें तो 20 प्रतिशत ग्रामीण आबादी (लगभग 12 करोड़) को उनकी बस्तियों में स्कूल उपलब्ध नहीं थे। लगभग आधी बस्तियां स्कूलविहीन थीं।[7]
- पांचवें अखिल भारतीय शैक्षिक सर्वेक्षण (1986) ने क्षेत्रीय विषमताओं को उजागर करने के लिए सभी राज्यों के आंकड़े प्रस्तुत किए हैं। इससे साफ नजर आता है कि विभिन्न राज्यों में बस्तियों में प्राथमिक स्कूल की उपलब्धता में भारी अंतर हैं।

(च) *स्कूलों तथा शिक्षकों की उपलब्धता*

यद्यपि 1965 से 1986 के बीच स्कूलों और शिक्षकों की कुल संख्या में लगातार वृद्धि हुई है परंतु यह वृद्धि दर जनसंख्या वृद्धि दर की तुलना में कम रही। अतः प्रति दस हजार की आबादी के लिए स्कूलों और शिक्षकों की उपलब्धता में इस दौरान लगातार कमी आई है (आचार्य राममूर्ति समिति, 1990)[8]:

- सरकार की एकमात्र महत्वपूर्ण पहल, आपरेशन ब्लैकबोर्ड का स्कूली ढांचों को बेहतर बनाने में क्या असर रहा, इसे अभी तक जांचा नहीं गया।
- ग्रामीण इलाकों के लगभग एक तिहाई स्कूल अभी भी एकल-शिक्षक स्कूल हैं, एक तिहाई स्कूल मात्र दो शिक्षकीय हैं अर्थात दो-तिहाई स्कूलों में दो या उससे कम शिक्षक हैं। कई प्राथमिक स्कूलों में उतनी न्यूनतम सुविधाएं भी उपलब्ध नहीं हैं जो शिक्षा में गुणवत्ता के स्वीकार्य स्तरों के लिए अनिवार्य हैं।

(छ) *पाठ्यक्रम एवं शिक्षण पद्धति*

प्रारंभिक शिक्षा के वर्तमान पाठ्यक्रम में निम्नलिखित कमियां हैं :

- हमारी शिक्षा, जानकारी-आधारित है तथा परीक्षाओं में तथ्यों पर अनावश्यक बल दिया जाता है;
- स्थानीय आवश्यकताओं तथा परिवेश के प्रति संवेदनशीलता तथा लोच की कमी है;
- कौशल निर्माण का पक्ष पूरी तरह छूट गया है;
- इसमें समुदाय द्वारा सामाजिक-सांस्कृतिक योगदान हेतु प्रावधान नहीं है;
- शिक्षा 'काम-काज की दुनिया' से पूरी तरह अलग-थलग है। इससे 10-11 साल से बड़े अधिकांश बच्चों के भावी जीवन पर नकारात्मक असर पड़ता है;
- सामान्यतः शिक्षण, व्याख्यानों के जरिए एवं गैर-सहभागी ढंग से चलता है;
- गतिविधि-आधारित सीखने की प्रक्रिया लगभग न के बराबर है;
- शिक्षण विधि, शिक्षार्थियों में किसी भी तरह की खोजबीन, जांच-पड़ताल, सृजनात्मकता और पहल को निरुत्साहित करने वाली है।

आचार्य राममूर्ति तथा हाल की यशपाल समिति (1993) की रिपोर्ट में स्कूली बस्ते के बोझ (जिसमें बोध-ज्ञान का वजन भी शामिल है) को कम करने का जो सुझाव दिया गया उसकी कमोबेश उपेक्षा ही की गई है। दोनों ही समितियों की रिपोर्टों के बाद दूसरी समितियां नियुक्त की गईं जिन्होंने यथास्थिति बनाए रखने का समर्थन किया है।

(ज) *शिक्षक तथा प्रशासक*

आचार्य राममूर्ति समिति की रिपोर्ट समाज में शिक्षकों के निम्न स्तर की ओर पुरजोर ध्यान दिलाती है :

- प्रशासकीय पदानुक्रम में शिक्षक सबसे निचले स्तर पर स्थित हैं।
- शिक्षकों की क्षमताओं के विस्तार पर ध्यान नहीं दिया जाता। जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान या राज्य शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान भी इस आवश्यकता को पूरा नहीं कर पाए हैं।
- शिक्षकों के सशक्तीकरण के प्रयोगों—जैसे आंध्र प्रदेश शिक्षक स्रोत केंद्रों, होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम या मध्य प्रदेश का शिक्षक समाख्या—को हाशिए पर चल रही स्थानीय पहलों के रूप में देखा जा रहा है। प्रारंभिक शिक्षा को बदलने के विचार से इन अनुभवों से कुछ सीखने का कोई प्रयास नहीं किया गया है।

(झ) *संसाधन*

कोठारी आयोग (1964-65) ने सुझाया था कि 'शिक्षा के लिए 1965-66 में सकल राष्ट्रीय उत्पाद का जो 2.9 प्रतिशत आबंटित किया गया है उसे 1985-86 तक 6 प्रतिशत तक बढ़ना चाहिए।' ये सुझाव इन दो दशकों में अपेक्षित आर्थिक वृद्धि के अनुपात पर आधारित थे, जबकि दरअसल यह वृद्धि अपेक्षा से कहीं कम रही। इसके बावजूद सकल राष्ट्रीय उत्पाद का मात्र 4 प्रतिशत ही 1985-86 में शिक्षा को आबंटित किया गया। 1986-87 में यह निवेश कुछ और घटकर 3.9 प्रतिशत कर दिया गया।

- सन् 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में फिर से संसाधन उपलब्ध करवाने के प्रति कटिबद्धता को दोहराते हुए यह आश्वासन दिया गया था कि 'आठवीं पंचवर्षीय योजना से राष्ट्रीय आय का 6 प्रतिशत शिक्षा के लिए उपलब्ध करवाया जाएगा।' फिर भी 1986-87 से आज तक शिक्षा के लिए आबंटन लगातार लगभग 3.9 प्रतिशत के आसपास बना रहा। 'सब के लिए शिक्षा' के दस्तावेजों में भी संकेत दिया गया था कि नौवीं पंचवर्षीय योजना तक अर्थात 1997 से 2002 तक यह आबंटन अपेक्षित स्तर तक पहुंचाया जा सकेगा। विगत तीन दशकों में शिक्षा में बन रही निवेश की इस चौड़ी खाई को मद्देनजर रखते हुए स्पष्ट है कि सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 6 प्रतिशत शिक्षा में निवेश करने की वह पुरानी अनुशंसा अब पर्याप्त नहीं है और इसे काफी अधिक बढ़ाने की जरूरत है।
- पंचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा के मद पर आबंटित हिस्सा लगातार घटता गया है। *प्रथम पंचवर्षीय योजना में यह राशि 7.86 प्रतिशत थी जो घटते-घटते सातवीं पंचवर्षीय योजना में 3.55 प्रतिशत रह गई।*
- राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) के बाद इस सुझाव से भी चिंता उत्पन्न हुई है कि समुदाय स्वयं प्रारंभिक शिक्षा के लिए संसाधन जुटाने में अपना योगदान दें। लेकिन यह संवैधानिक दृष्टि से उचित नहीं होगा कि सरकार को उसके आर्थिक व अन्य दायित्वों से ही मुक्त कर दिया जाए और गरीब जनता पर इसका अतिरिक्त बोझ डाला जाए।
- सन् 1970-71 से 1980-81 के बीच प्राथमिक शिक्षा में प्रति शिक्षार्थी आवर्ती व्यय 27 रुपए से घटकर 20 रुपए मात्र (1950-51 की कीमतों के आधार पर) रह गया है। आठवें दशक में जो क्रमशः वृद्धि प्रारंभ हुई उसे भी पिछले दशकों में की गई कटौती के संदर्भ में ही देखना चाहिए। एक सरकारी दस्तावेज यह स्वीकारता है कि 'शिक्षा की गुणवत्ता के वर्तमान स्तर को बनाए रखने के लिए भी शिक्षा के लिए आबंटित कुल संसाधनों में वृद्धि की जरूरत है।'[9]
- उत्तर-जोमतियन चरण में प्राथमिक शिक्षा के लिए अंतर्राष्ट्रीय कर्ज-अनुदान की

उपलब्धता में तेजी से वृद्धि हुई है। आठवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में बिहार, आंध्र प्रदेश, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश आदि में चल रही चंद परियोजनाओं के लिए विदेशों से 2,500 करोड़ रुपए का कर्ज-अनुदान आने की अपेक्षा है। संसाधनों में इस वृद्धि के फलस्वरूप प्राथमिक शिक्षा के प्रति सरकारी सरोकार में वृद्धि दिखाई पड़ती है। सरकार की इस बढ़ती रुचि तथा ध्यान को भी निम्नलिखित मुद्दों के संदर्भ में देखा जाना चाहिए :

बाहरी पैसों की यह बाढ़ 'सब के लिए शिक्षा' के दस्तावेज में सरकार के नीति वक्तव्य के विपरीत है। वहां कहा गया था कि अगर 'सब के लिए शिक्षा' के लक्ष्यों तक पहुंचना है तो आंतरिक संसाधनों में वृद्धि के अलावा कोई विकल्प नहीं है।

संपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय सहायता की कुल मात्रा को शामिल करने के बाद भी यह राशि प्रारंभिक शिक्षा पर अनुमानित सार्वजनिक व्यय का मात्र 4.22 प्रतिशत होती है। जाहिर है कि अगर शिक्षा के प्रति कटिबद्धता होती तो संसाधन आबंटन की प्राथमिकताओं को बदलकर यह राशि देश में ही जुटाई जा सकती थी।

बाहरी अनुदान का एक खतरा यह भी है कि वह राष्ट्रीय नीतियों, रणनीतियों, यहां तक कि शिक्षा की दिशा तक को प्रभावित कर सकता है। यह बात बाह्य सहायता-प्राप्त परियोजनाओं के संबंध में केंद्रीय शिक्षा सलाहकार मंडल (सी.ए.बी.ई. या 'केब')[10] द्वारा बनाए गए दिशा निर्देशों में पुरजोर उभरकर आई है। यह विशेष चिंता का मुद्दा इसलिए बन जाता है चूंकि विश्व बैंक के जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम के तहत लगाई जाने वाली राशि का केंद्र बिंदु शिक्षा की गुणवत्ता है जिसके लिए सरकारी शिक्षा बजट का बमुश्किल 1-1.5 प्रतिशत उपलब्ध हो पाता है। अतः अंतर्राष्ट्रीय अनुदान शिक्षा की विषयवस्तु और अंततः दिशा को प्रभावित कर सकता है।

शिक्षा नीति के उपरोक्त विश्लेषण ने सरकारी स्कूली तंत्र में एक राष्ट्रव्यापी सामाजिक हस्तक्षेप की प्रक्रिया को प्रेरित किया जिसे आज जनविज्ञान के एक संगठन (भारत जन विज्ञान जत्था) द्वारा आयोजित 'लोकशाला प्रक्रिया' के नाम से जाना जाता है (देखिए खंड छह, अध्याय अठारह)।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. डॉ. जानकी राजन, रीडर, मौलाना आजाद प्रारंभिक एवं सामाजिक शिक्षा केंद्र, शिक्षा विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय के साथ.
2. संयुक्त राष्ट्र की भाषा में 'राज्य-पक्ष' का अर्थ 'राष्ट्र' होता है.
3. आचार्य राममूर्ति समिति रपट, भारत सरकार (1990), अध्याय 5, तालिका क्र. 1.

4. 'मिनिमम लेवल्स ऑफ लर्निंग', एन.सी.ई.आर.टी., 1991.
5. आचार्य राममूर्ति समिति रपट, भारत सरकार (1990), अध्याय 4, तालिका क्र. 4 एवं चित्र क्र. 1.
6. वही, अध्याय 4, तालिका क्र. 2.
7. जलालुद्दीन, ए.के. एवं अन्य (1990) द्वारा 'बेसिक एजुकेशन एंड नेशनल डेवलपमेंट' शीर्षक से प्रसारित यूनिसेफ रपट के आधार पर आचार्य राममूर्ति समिति (1990) ने ये आंकड़े अपनी रपट में प्रस्तुत किए हैं (देखिए, अध्याय 6, तालिका क्र. 6). लेकिन भारत सरकार ने जनार्दन रेड्डी रपट (1992) की अनुशंसा पर इन आंकड़ों को स्वीकारने से इनकार कर दिया. विडंबना यह है कि 1997-98 में मध्य प्रदेश सरकार ने अपनी बहु-प्रचारित 'शिक्षा गारंटी योजना' के तहत लगभग बीस हजार केंद्र ऐसी बस्तियों में खोलने का दावा किया है जहां एक किलोमीटर के अंदर कोई स्कूल नहीं था. तब किसी ने यह नहीं पूछा कि ये स्कूलविहीन बस्तियां कहां से निकल आईं चूंकि सरकारी निष्कर्षों के अनुसार ऐसी बस्तियों का प्रतिशत लगभग शून्य होना चाहिए था. 1999-2000 में केंद्रीय मानव संसाधन मंत्री ने संसद में घोषणा कर दी कि अब भारत सरकार भी पूरे देश में शिक्षा गारंटी योजना को फैलाएगी. तब भी किसी ने नहीं पूछा कि यह योजना किन बस्तियों में लागू होगी जबकि 1990 से भारत सरकार लगातार दावा कर रही है कि 98 प्रतिशत से अधिक बस्तियां ऐसी हैं जिन्हें एक किलोमीटर के अंदर प्राथमिक स्कूल उपलब्ध हैं. काश, मंत्री महोदय विगत दस वर्षों से लगातार प्रचारित इस सरकारी झूठ को वापिस लेते हुए जनता एवं संसद से क्षमा मांग लेते.
8. आचार्य राममूर्ति समिति रपट, भारत सरकार (1990), अध्याय 6, तालिका क्र. 8.
9. 'एजुकेशन फॉर ऑल बाई 2000—इंडियन पर्सपेक्टिव', राष्ट्रीय शैक्षिक नियोजन एवं प्रशासन संस्थान (नीपा), मार्च 1990, पृ. 99.
10. केंद्रीय सरकार में शिक्षा नीति पर विचार करने हेतु शीर्षस्थ निकाय जिसकी अध्यक्षता केंद्रीय मानव संसाधन विकास मंत्री करते हैं. सभी राज्यों एवं केंद्र-शासित क्षेत्रों के शिक्षा मंत्री इसके सदस्य होते हैं.

खंड छह

शिक्षा और जन आंदोलन

16. जन आंदोलन में विज्ञान की भूमिका

विगत तीन दशकों में 'केरल शास्त्र साहित्य परिषद' की पहलकदमी से शुरू हुए जनविज्ञान आंदोलन ने विज्ञान और समाज के अंतर्संबंधों से जुड़े अनेक प्रश्नों को एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में उभारा है। 1986-87 में केरल के अनुभवों के आधार पर पहली बार इस आंदोलन का एक राष्ट्रीय स्वरूप खड़ा करने की कोशिश हुई। लेकिन इस कोशिश के साथ-साथ यह सवाल भी आंदोलन की प्रक्रिया से जुड़ गया कि ऐसे आंदोलन में सरकारी अनुदान एवं समर्थन की क्या भूमिका है। 1987 से ही भारत सरकार एवं कई राज्य सरकारों ने इस आंदोलन को खुलकर समर्थन दिया। जनविज्ञानकर्मियों द्वारा यह प्रश्न कई मंचों से उभारा गया है कि जो सरकार विज्ञान और प्रौद्योगिकी के जनविरोधी स्वरूप को पोषित करती है, वही सरकार जनविज्ञान प्रक्रिया की समर्थक कैसे बन गई। यह प्रश्न तब और भी गहराया जब 1989-90 में इस आंदोलन की एक प्रमुख धारा की ओर से सरकार के राष्ट्रीय साक्षरता मिशन का हिस्सा बनने की पहलकदमी की गई। कई लोगों के अनुसार इस दिशा परिवर्तन से जनविज्ञान आंदोलन सरकारी प्रक्रिया में समाहित होने लगा। लेकिन द्वंद्वात्मकता के सिद्धांत के अनुसार इसी आंदोलन में से एक नई धारा निकली जिसने सरकार में समाहित होने की इस प्रक्रिया से आंदोलन को अलग किया और एक बार फिर जनविज्ञान को सामाजिक आंदोलन के रूप में पुनर्गठित करने की कोशिश की। मैं जनविज्ञान आंदोलन की इसी धारा के साथ जुड़ा हूं। मेरे द्वारा 1981 में दिया गया यह व्याख्यान आज नए संदर्भों में यह समझने में मदद करेगा कि जनविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में जनशिक्षण के मायने क्या हैं और किस प्रकार इस परिप्रेक्ष्य में स्कूली तंत्र को बदलने हेतु जनहस्तक्षेप की कोशिश की जा सकती है।

इस व्याख्यान में प्रस्तुत विचारों की शृंखला की शुरुआत मध्य प्रदेश के शहडोल जिले के अनूपपुर प्रखंड में सक्रिय स्वैच्छिक कार्यकर्ता श्री दुनू राय के 'साइंस टुडे' (अक्तूबर 1979) में प्रकाशित 'ए सर्च फॉर दी मीनिंग आफ साइंस' (विज्ञान के अर्थ की खोज में) शीर्षक लेख से हुई थी। हाल में जनविज्ञान आंदोलन की तरफ देश भर में लोगों के बढ़ते हुए झुकाव को दृष्टिगत रखते हुए जन आंदोलनों के विकास में विज्ञान की भूमिका को समझने की जरूरत विशेष रूप से महसूस हो रही है। आशा है, यहां पर प्रस्तुत विचारों से कार्यकर्ताओं के बीच जन आंदोलन के कार्यक्रमों और जनशिक्षण पद्धतियों के विषय पर चल रहे संवाद को और अधिक प्रखर करने में मदद मिलेगी।

इस व्याख्यान में व्यक्त किए गए विचार व्यवस्थित रूप से पहली बार अप्रैल 1980 में बंबई की प्रख्यात एशियाटिक सोसाइटी के तत्वावधान में आयोजित 'विज्ञान और समाज' शीर्षक

मूल स्रोत : *दिनमान* के 8, 15 और 22 नवंबर 1981 के अंको से.

की व्याख्यानमाला में अंग्रेजी में प्रस्तुत किए गए थे। लोगों की प्रतिक्रियाओं के आधार पर इस व्याख्यान के तार्किक क्रम में संशोधन करके कुछ ज्यादा सटीक अनुभव जोड़कर ये विचार दोबारा इंदौर में अभ्यास मंडल संस्था के तत्वावधान में आयोजित व्याख्यानमाला के अंतर्गत मई 1981 में हिंदी में पेश किए गए। इसी व्याख्यान का एक सुधरा हुआ स्वरूप अगस्त 12, 1981 को भारतीय समाज विज्ञान अनुसंधान परिषद (इंडियन कौंसिल ऑफ सोशल साइंस रिसर्च) के तत्वावधान में नई दिल्ली में विक्रम साराभाई स्मारक व्याख्यान के रूप में प्रस्तुत किया गया। इसी भाषण का साधना सक्सेना के सहयोग से किया गया हिंदी रूपांतरण कुछ ताजे व अधिक सशक्त उदाहरणों और परिमार्जित तर्कों के साथ 'दिनमान' के तीन अंकों में प्रकाशित किया गया था।

यहां मैं जो विचार व्यक्त करने जा रहा हूं वे किशोर भारती दल द्वारा 1972 से अब तक ग्रामीण विकास और सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र में किए गए काम से संचित अनुभवों और समझ पर आधारित हैं। किशोर भारती संस्था मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले के पूर्वी छोर पर बनखेड़ी प्रखंड के पलिया पिपरिया गांव में स्थित है। इस संस्था के माध्यम से किशोर भारती ग्रुप ने आर्थिक विकास, युवक प्रशिक्षण एवं संगठन, स्वास्थ्य और स्कूलों में तथा स्कूलों के बाहर शिक्षा के कई प्रयोग किए हैं। यद्यपि स्वास्थ्य और आर्थिक विकास के कार्यक्रमों का असर बनखेड़ी प्रखंड तथा उसके आसपास के इलाकों तक ही सीमित रहा है परंतु युवक प्रशिक्षण तथा संगठन और शिक्षा के कार्यक्रमों के माध्यम से हमें केवल जिले भर में नहीं वरन मध्य प्रदेश के कई भागों में सक्रिय और जागरूक लोगों से संपर्क बढ़ाने और उनके साथ काम करने का मौका मिला है। इन सभी गतिविधियों का प्रमुख उद्देश्य समाज में व्याप्त भयंकरी गरीबी, शोषण और विषमता के मूल कारणों को समझना और इन सामाजिक अंतर्विरोधों से जूझने के तरीके खोजना रहा है। कोई भी काम उठाने के पीछे हमारी हमेशा यह समझ रही है कि अपने हरेक अनुभव का वैज्ञानिक विवेचन किया जाए ताकि इससे कुछ सामान्य सिद्धांत निकलें जिनका समाज में व्यापक उपयोग हो सके। अनुभव से सिद्धांत बनाने की इस प्रक्रिया से हमने जो कुछ सीखा है, उसे देश के विभिन्न भागों में सक्रिय सरकारी एजेंसियों, स्वैच्छिक संस्थाओं और जन संगठनों के अनुभवों से जोड़कर लगातार समृद्ध किया है। हम उन सभी समाजकर्मियों एवं विचारकों के आभारी हैं जिन्होंने समय-समय पर अपने अनुभव और समझ को हमारे सामने रखकर हमें सामाजिक न्याय व विकास के लिए चल रहे राष्ट्रव्यापी संघर्ष का अंग बनने में मदद की है।

आगे बढ़ने से पहले मैं एक बात कहना जरूरी समझता हूं कि मैं जो कुछ भी कहने जा रहा हूं, उसका काफी अंश विभिन्न सरकारी व स्वैच्छिक संस्थाओं और जन संगठनों द्वारा किए गए काम के अनुभवों पर आधारित होगा। इन अनुभवों का जिक्र समाज में व्याप्त अंतर्विरोधों को उभारने और ऐसी परिकल्पनाओं को विकसित करने के उद्देश्य से किया गया है जिन्हें भविष्य में परखा जा सके। इन अनुभवों को प्रस्तुत करने का उद्देश्य सामाजिक परिवर्तन के काम में जुटे हुए किसी भी व्यक्ति या संस्था की आलोचना करना

नहीं है। मैं उन सभी लोगों को अपना साथी मानता हूं जो हमारी ही तरह अपने-अपने तरीकों से विभिन्न संस्थाओं और संगठनों में सामाजिक अन्याय, गैरतार्किकता, रूढ़िवादिता और पिछड़ेपन के अन्य कारणों के खिलाफ संघर्ष में जूझ रहे हैं। आशा है कि यहां पर प्रस्तुत किए जा रहे विचारों के माध्यम से मैं अलग-अलग जूझ रहे इन लोगों के संघर्ष को राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में रख पाने में कुछ मदद दे पाऊंगा।

पांच अनुभव

सबसे पहले मैं एक ऐसी सरकारी गोष्ठी की कहानी सुनाना चाहता हूं, जो छठी पंचवर्षीय योजना के संदर्भ में विज्ञान और तकनालॉजी की शिक्षा के स्वरूप का पुनरावलोकन करने के लिए पिछले साल लगभग इसी समय बुलाई गई थी। इस गोष्ठी का उद्देश्य योजना आयोग को यह सुझाव देना था कि विज्ञान और तकनालॉजी की शिक्षा को भारत की आर्थिक और सामाजिक परिस्थिति के अनुसार कैसे अधिक सार्थक बनाया जाए। गोष्ठी में देश भर से कई प्रख्यात शिक्षाविद और विशेषज्ञ बुलाए गए थे। अध्यक्ष ने गोष्ठी की शुरुआत विशेषज्ञों से सुझाव आमंत्रित करके की। विशेषज्ञों ने अलग-अलग विचारों व योजनाओं के क्रियान्वयन के लिए एक के बाद एक अपने सुझाव देने शुरू कर दिए। जब सुझावों की झड़ी लग गई तब हममें से कुछ लोग धैर्य खो बैठे और हमने गोष्ठी को रोककर पूछा कि क्या विज्ञान और तकनालॉजी शिक्षा के मामले पर पिछली पांच पंचवर्षीय योजनाओं की कोई समीक्षा उपलब्ध है। जैसा कि अपेक्षित था, वहां कोई भी ऐसी किसी समीक्षा का संदर्भ नहीं दे पाया। तब हमने सुझाया कि पहले हम सबको यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि विज्ञान और तकनालॉजी की शिक्षा को समाज की जरूरतों के अनुकूल बनाने में पिछली पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान सफलता क्यों नहीं मिली। हमारा तर्क था कि जब तक यह नहीं समझ लिया जाएगा तब तक हमारे पास नए सुझाव देने के लिए कोई तार्किक या वैज्ञानिक आधार नहीं होगा। हमें यह देखकर अत्यंत आश्चर्य और दुःख हुआ कि वहां इकट्ठे हुए चोटी के विशेषज्ञों और शिक्षाविदों के उस दल को न तो हमारे द्वारा उठाए गए प्रश्नों में कोई रुचि थी और न ही उन पर चंद मिनट भी लगाने की तैयारी थी। लोगों की इस अरुचि को देखकर अध्यक्ष महोदय ने बात बढ़ाने का रास्ता निकाला और कहा 'पिछली पंचवर्षीय योजनाओं में क्या गलतियां हुई हैं, ये तो सभी जानते हैं। इसलिए हमें अब नई शुरुआत करनी है।' इसके बाद वह गोष्ठी लगभग चार घंटे तक आराम से चली। हर विशेषज्ञ ने अपने-अपने सुझाव दिए, जिनका अकसर न तो आपस में और न ही किसी और के सुझावों से कुछ भी लेना-देना होता था। सुझाव देने वालों को यह भी ध्यान नहीं रहा कि वे जो कह रहे थे, उसका ठीक वही या थोड़ा सा फर्क स्वरूप पहले ही अन्य पंचवर्षीय योजनाओं के तहत क्रियान्वित हो चुका था। जब भी किसी ने ऐसी बातों पर सवाल उठाने का प्रयत्न किया तो उन सवालों को जल्दी से यह कहकर रफा-दफा कर दिया गया कि

'हमें विशेषज्ञों के कीमती समय का अधिकतम लाभ उठाना है।' गोष्ठी की समाप्ति पर मैं सोच रहा था कि क्या ये वैज्ञानिक और शिक्षाविद अपने विषय की किसी शोध समस्या पर भी उस समस्या से संबंधित पिछला साहित्य पढ़े बिना अनुसंधान शुरू कर देंगे। स्वाभाविक है कि ऐसा नहीं होगा।

किसी भी नए काम को उठाने के पहले पुराने अनुभवों का विवेचन करने की वैज्ञानिक पद्धति को इस गोष्ठी में इतनी बुरी तरह क्यों नकारा गया? विज्ञान और तकनालॉजी की शिक्षा को सुधारने के उद्देश्य से इकट्ठे हुए ये राष्ट्रीय स्तर के विशेषज्ञ इस निहायत गैर-वैज्ञानिक प्रक्रिया से आखिर परेशान क्यों नहीं हुए? इस गोष्ठी की कहानी उन सभी गोष्ठियों के अनुभवों से फर्क नहीं है जिनमें मुझे या मेरे साथियों को गत कई वर्षों से भाग लेने का मौका मिला है। चाहे वे गोष्ठियां प्रौढ़ शिक्षा की रही हों, चाहे ग्रामीण विकास की, चाहे बंधुआ मजदूरों की समस्याओं की, चाहे सहकारिता की, चाहे अनुकूल तकनालॉजी की और चाहे स्वैच्छिक संस्थाओं की भूमिका की। इन सभी गोष्ठियों की एक सामान्य बात यह रही है कि इनमें अपने और दूसरों के अनुभवों का विश्लेषण करने में कोई रुचि नहीं दिखी और न ही इतिहास से सीखने की तैयारी ही दिखी। सचमुच अचरज होता है कि भारतीय नौकरशाही और तकनीकी विशेषज्ञों के इतने वरिष्ठ कर्ता-धर्ता वैज्ञानिक पद्धति के बुनियादी सिद्धांतों से इतने अछूते कैसे रह गए हैं। इस अंतर्विरोध को कैसे समझा जाए?

अब मैं एक और उदाहरण लेता हूं। 1968 में मैंने नई दिल्ली के अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में यूनेस्को द्वारा आयोजित जैव-वैज्ञानिकों और जैव-रसायनशास्त्रियों की कार्यगोष्ठी में भाग लिया। हमारे अनुरोध पर उसी कार्यगोष्ठी के दौरान एक विशेष चर्चा का आयोजन किया गया जिसका उद्देश्य यह समझना था कि भारत और तीसरी दुनिया के अन्य देशों में चल रही मलेरिया निवारण की नीति पर आनुवांशिकी (जनेटिक्स) की नई अवधारणाओं का क्या असर हुआ है। इस चर्चा के लिए एक राष्ट्र-स्तरीय संस्था से मलेरिया निवारण के कुछ अग्रणी विशेषज्ञों को आमंत्रित किया गया। आप सबको याद होगा कि यह वह समय था जब मलेरिया के वापस आ जाने की अत्यंत चिंताजनक खबरें चारों ओर से मिलने लगी थीं। भारत को मलेरिया से मुक्त कर पाने का सपना तभी से टूटना शुरू हो गया था। यह वह समय था, जब डी.डी.टी. से न मर पाने वाले मच्छरों की बढ़ती हुई संख्या के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हो चुके थे और इस कटु सत्य को नकारना असंभव सा हो गया था। चर्चा में जैव-वैज्ञानिकों ने आनुवांशिकी के उन सिद्धांतों का उल्लेख किया जिनके आधार पर डी.डी.टी. से न मर पाने वाले मच्छरों की उत्पत्ति के बारे में समझा जा सकता था। जैव-वैज्ञानिकों ने 'उत्परिवर्तन' (म्यूटेशन) की उस प्रक्रिया का संदर्भ दिया जिसके कारण लगभग हर दस लाख मच्छरों में से एक ऐसा मच्छर हो सकता है, जिस पर डी.डी.टी. का कोई असर न हो। ऐसी परिस्थिति में डी.डी.टी. छिड़कने से वे सभी मच्छर मर जाएंगे जिन पर डी.डी.टी. का असर होता है परंतु हर दस लाख में एक उस मच्छर के बच जाने की संभावना है जो उत्परिवर्तन के कारण डी.डी.टी. का असर सह पाने की

क्षमता पा चुका है। ऐसा मच्छर फिर प्रजनन करेगा और उसकी संतानें भी ऐसी होंगी जिन पर डी.डी.टी. का कोई असर नहीं होगा। यह भी स्पष्ट किया गया कि किस प्रकार दो या दो से अधिक कीटनाशक दवाइयों का एक साथ उपयोग करने से प्रतिरोधक मच्छर के बच जाने की संभावना दस लाख या उससे भी कई गुना अधिक कम हो जाएगी। इस सिद्धांत का व्यावहारिक उपयोग यह बताया गया कि डी.डी.टी. के साथ एक या दो अन्य कीटनाशक दवाइयां मिलाकर छिड़की जाएं और इस प्रकार देश को प्रतिरोधक मच्छरों से बचा लिया जाए। यह सब सुनकर भी मलेरिया विशेषज्ञों के कानों पर जूं तक नहीं रेंगी।

उनमें से वरिष्ठतम विशेषज्ञों ने नम्रतापूर्वक कहा कि उनका लेना-देना मलेरिया निवारण के व्यावहारिक कार्यक्रमों से है न कि जीवविज्ञान के सिद्धांतों से, जो वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित जरूर होंगे परंतु उनकी उपयोगिता प्रयोगशाला की चहारदीवारी तक ही सीमित है। उन्होंने आगे कहा कि राष्ट्रीय मलेरिया निवारण कार्यक्रम को विश्व स्वास्थ्य संगठन (वर्ल्ड हेल्थ आर्गेनाइजेशन) की स्वीकृति मिली है और उसका वित्तीय तथा तकनीकी समर्थन भी प्राप्त है। उनके अनुसार डी.डी.टी. छिड़कने का कार्यक्रम जोर-शोर से देश भर में चालू है और उसमें मात्र सिद्धांतों के आधार पर परिवर्तन करना संभव नहीं है। जब जैव-वैज्ञानिकों ने अपने तर्क पर जोर दिया तो विशेषज्ञों ने आश्वासन दिया कि यदि कुछेक प्रतिरोधक मच्छर बच भी जाएंगे तो भी खास फर्क नहीं पड़ने वाला चूंकि कार्यक्रम राष्ट्रव्यापी है! 'मात्र कुछ प्रतिरोधक मच्छरों के कारण हमें अपने दृढ़ निश्चय से डगमगाना नहीं चाहिए', विशेषज्ञों ने जोर देकर कहा। स्पष्ट है कि जैव-वैज्ञानिक इस तर्क-वितर्क में हार गए परंतु जैसा कि सभी जानते हैं कि प्रतिरोधक मच्छर जंग जीत गए। ऐसा क्यों हुआ कि मलेरिया निवारण के काम में जुटे हुए देश के अग्रणी विशेषज्ञों ने वैज्ञानिक तर्कों और जैव-वैज्ञानिक तथ्यों की अवहेलना की? ऐसा मानना बहुत मुश्किल है कि ये विशेषज्ञ आनुवांशिकी के इन तर्कों और तथ्यों से अनभिज्ञ थे। सवाल उठता है कि विश्व स्वास्थ्य संगठन जैसी विख्यात और सक्षम संस्था ने आखिर क्यों डी.डी.टी. के छिड़काव का कार्यक्रम जारी रखा जबकि वैज्ञानिक सिद्धांतों ने इस कार्यक्रम के आधार को ही चुनौती दे दी थी। इस गैरतार्किक निर्णय का बुनियादी कारण क्या हो सकता है? यह अचरज की बात है कि डी.डी.टी.-प्रतिरोधक मच्छरों की संख्या के तेजी से बढ़ने की जानकारी वैज्ञानिकों तक तो क्या, आम-पढ़ी लिखी जनता तक पहुंच जाने के बावजूद आज भी गांवों में डी.डी.टी. के छिड़काव बेरोकटोक जारी हैं। उतना ही अविश्वसनीय तथ्य यह भी है कि सहायता देने वाली अंतर्राष्ट्रीय स्तर की एक सुप्रसिद्ध संस्था अभी भी देश के संसाधनों और मानव शक्ति की इस बरबादी का न केवल समर्थन भर कर रही है वरन इस प्रक्रिया को प्रोत्साहन भी दे रही है। इससे भी अधिक परेशानी की बात तो यह है कि देश के जाने-माने तकनीकी विशेषज्ञों और शीर्षस्थ राष्ट्र नेताओं ने स्वास्थ्य की ऐसी भयंकर समस्या के निवारण कार्यक्रम की स्पष्ट गड़बड़ियों को देखकर भी अनदेखा कर दिया है।

अब तक की बात से कहीं यह भ्रम न हो जाए कि हम मात्र कुछ इनी-गिनी घटनाओं के बल पर तिल का ताड़ बना रहे हैं। वास्तव में हमारा यह दावा है कि ये अनुभव देश में चल रही अनेक प्रक्रियाओं के संकेत मात्र हैं। आइए, अब एक तीसरा उदाहरण लें।

एक अग्रणी राष्ट्र-स्तरीय संस्था (एन.सी.ई.आर.टी.) द्वारा तैयार की गई एक नई पाठ्यपुस्तक में जनसंख्या के विषय पर अध्याय हैं, जिनका उद्देश्य बच्चों में देश की इस महत्वपूर्ण समस्या के प्रति जागरूकता पैदा करना है। हमने इन अध्यायों का बहुत बारीकी से अध्ययन और विवेचन किया है। इन अध्यायों में तर्क दिया गया है कि जनसंख्या तेजी से बढ़ने के कारण बढ़ते हुए उत्पादन का कोई खास लाभ देश को नहीं मिल पाता और गरीबी बढ़ती रहती है। इन अध्यायों में यह समझाने का प्रयत्न किया गया है कि भारत की गरीबी का प्रमुख कारण बढ़ती हुई आबादी है और इन्हीं तर्कों के आधार पर यह कहा जाता है कि गरीबी की समस्या जनसंख्या की वृद्धि पर नियंत्रण करके और उत्पादन बढ़ाकर ही हल की जा सकती है। इन पाठ्यपुस्तकों में कहीं भी यह समझाने का प्रयास नहीं है कि भारत के गोदाम अनाज से भरे रहने के बावजूद ऐसा क्यों है कि अनाज उगाने वाले कराड़ों मेहनतकश लोग स्वयं कुपोषित रहते हैं और अकसर भूख से मर भी जाते हैं। इन पाठ्यपुस्तकों में संसाधनों के असमान वितरण, समाज में व्याप्त विषमताओं और गरीबी की रेखा के नीचे बसर करने वाले लोगों की क्रय शक्ति की अत्यंत सीमित क्षमता जैसी बातों का कहीं जिक्र नहीं है।

इस संदर्भ में आपको अपना एक अनुभव सुनाता हूं। लगभग दो वर्ष पहले होशंगाबाद जिले के 400 शिक्षकों के लिए आयोजित एक विज्ञान प्रशिक्षण शिविर में हमने कुछ शिक्षकों से होशंगाबाद शहर और आसपास के गांवों में कुपोषण की समस्या का सर्वेक्षण करने को कहा। इस सर्वेक्षण का उद्देश्य शिक्षकों को अपने परिवेश की किसी समस्या के आधार पर वैज्ञानिक तरीके से आंकड़े इकट्ठे करने और उनका विवेचन करने का प्रशिक्षण देना था। शिक्षकों को जब यह काम करने का सुझाव दिया गया तो उन्हें यह मजाक लगा क्योंकि उन्होंने सुन रखा था कि होशंगाबाद जिला गेहूं के विपुल उत्पादन का क्षेत्र है और यहां से भारी मात्रा में गेहूं का निर्यात होता है। यदि यह सच है तो कुपोषण की समस्या और वह भी जिले के मुख्यालय के आसपास कैसे हो सकती है? 'हो सकता है कि कुपोषण की समस्या दूर-दराज के किसी आदिवासी गांव में दिखे, पर होशंगाबाद शहर से इसका क्या लेना-देना?' एक शिक्षक ने अपना मत प्रकट किया। इस सबके बावजूद हमने शिक्षकों को सर्वेक्षण करने के लिए मनवा ही लिया। कुछ ही घंटों में ठीक होशंगाबाद शहर में ही भयंकर रूप से कुपोषित बच्चे मिलने की जानकारी इकट्ठी होने लगी। दिन ढलते-ढलते शिक्षकों के पास यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त आंकड़े इकट्ठे हो गए कि कुपोषण की समस्या विशेष रूप से दलित और आदिवासी मुहल्लों में व्याप्त है। इन आंकड़ों के आधार पर हमने अगला प्रश्न उठाया, 'यह कैसी अजीब बात है कि इस इलाके का लगभग हर गांव गेहूं का निर्यात करता है जबकि उन्हीं गांवों में बच्चे कुपोषण से पीड़ित हैं?'

अब मामला कुछ साफ हो चला था और कुछ तेज शिक्षकों ने बुनियादी सवाल उठा ही दिया, 'तब क्यों हमारी पाठ्यपुस्तकों में लिखा रहता है कि भारत की गरीबी का मुख्य कारण बढ़ती हुई आबादी है।' क्या यह जरूरी नहीं है कि हमारी पाठ्यपुस्तकों में यह स्पष्ट किया जाए कि बढ़ते हुए उत्पादन का लाभ गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले लोगों तक नहीं पहुंच पाता? ऐसा क्यों है कि इन पुस्तकों में समाज के इस बुनियादी अंतर्विरोध का संकेत मात्र भी नहीं है? क्या आपको आश्चर्य नहीं होता कि उत्पादन-आबादी की जिस भ्रांति को होशंगाबाद जिले के शिक्षकों ने एक वैज्ञानिक सर्वेक्षण में ही पकड़ लिया, उसे राष्ट्र-स्तर की एक अग्रणी संस्था, जिसे देश भर के बच्चों के लिए शिक्षा प्रणाली विकसित करने की जिम्मेदारी सौंपी गई है, आज तक नहीं पकड़ पाई है?

अब तक जो मुद्दे उभरे हैं, उनकी पुष्टि के लिए मैं एक और उदाहरण आपके सामने पेश करता हूं। तीन साल पहले राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (एन.सी.ई.आर.टी.) के एक विभाग के अध्यक्ष के कमरे में मेरा परिचय ब्रिटिश कौंसिल के एक विशेषज्ञ से हुआ। उस विशेषज्ञ ने मुझे बताया कि वह एन.सी.ई.आर.टी. को दृश्य-श्रव्य साधनों, विशेषकर स्लाइड-टेप सिरीज बनाने के बारे में परामर्श देने भारत भेजे गए हैं। मैंने उनसे जानना चाहा कि क्या वह भारतीय स्कूलों की दशा के बारे में कुछ जानते हैं—जहां चाक व टाट-पट्टी तक खरीदने के लिए पैसे नहीं होते या जहां बिल्डिंग के नाम पर पांच कक्षाओं के लिए मात्र एक कमरा होता है और वह भी कई बार भूतपूर्व जमींदार की दया से उधार मिला होता है—ऐसी परिस्थिति में बिजली का सवाल ही कहां उठता है। ब्रिटिश कौंसिल के विशेषज्ञ यह सब पहले से ही जानते थे। स्वाभाविक था कि तब मैंने उनसे यह जानना चाहा कि भारतीय स्कूलों पर इतनी असंगत सी योजना थोपने के पीछे ब्रिटिश कौंसिल का मकसद क्या है। मेरे इस सवाल का विशेषज्ञ महोदय के पास कोई जवाब नहीं था।

इसके बावजूद अजीब बात यह है कि ब्रिटिश कौंसिल के इस कार्यक्रम को आगे बढ़ाया गया। इस प्रकार विज्ञान शिक्षण और प्रशिक्षण के क्षेत्र में कार्यरत देश भर के सैकड़ों कार्यकर्ताओं को इस काम के लिए प्रशिक्षित किया गया है और वे आजकल विभिन्न प्रशिक्षण संस्थाओं और विज्ञान शिक्षण के केंद्रों में महंगी स्लाइड-टेप सीरीज बनाने के काम में अंधाधुंध जुटे हुए हैं। गत माह जबलपुर में आयोजित शिक्षण प्रशिक्षकों की एक राज्य-स्तरीय गोष्ठी में ऐसी कई स्लाइड-टेप सीरीज बहुत शान से प्रदर्शित की गईं।

विदेशी सहायता से प्राप्त महंगे कैमरे, प्रोजेक्टर और टेप रिकार्डर जैसे आधुनिकतम उपकरणों से लैस होकर ये शिक्षक प्रशिक्षक इस भ्रम में पड़ गए लगते थे कि जैसे वे वास्तव में एक उन्नत तकनालॉजी की दुनिया में पहुंच गए हैं—बिना यह सोचे-समझे कि आखिर इस सब साज-सज्जा का लाभ क्या है। जब किसी ने भी यह पूछने की कोशिश की कि इन बहुमूल्य प्रदर्शनों का उपयोग क्या है तो इन शिक्षक प्रशिक्षकों से कोई उत्तर नहीं बन पड़ता था।

आधुनिक तकनालॉजी के भुलावे की दुनिया में ये विशेषज्ञ इतने खो गए थे कि उन्हें इस बात का अहसास भी नहीं था कि उनके द्वारा निर्मित स्लाइड-टेप सीरीज की भाषा इतनी संस्कृतनिष्ठ हो गई थी कि उसे प्राथमिक शालाओं के बच्चे समझ तक नहीं पाते। जबलपुर गोष्ठी में बच्चों के प्रति देखी गई संवेदनशीलता की इस हद तक की कमी आधुनिकीकरण की इस दौड़ पर गहरे सवाल खड़े कर देती है।

बात यहां ही खत्म नहीं हुई। स्लाइड-टेप द्वारा बच्चों को सलाह दी गई थी कि वे खूब फल-सब्जी, दूध, मक्खन, अंडा और मांस जैसी चीजें खाएं। इससे साफ था कि सलाह देने वालों को गरीबी की उस परिस्थिति का आभास तक नहीं है जिससे वे अधिकतर बच्चे आते हैं।

जब विशेषज्ञों का ध्यान उपदेशों और यथार्थ के बीच इस खाई की ओर आकर्षित किया गया तो एक ग्रामीण शिक्षक ने बीच में टोककर कहा, 'आप नाहक परेशान हो रहे हैं। यह सब शानदार सामान हमारे स्कूलों तक कभी नहीं पहुंचेगा।' यह सीधी-सच्ची बात जिसे गांव का एक शिक्षक इतनी अच्छी तरह समझता है, वह इस कार्यक्रम को चलाने वाले राष्ट्र-स्तरीय विशेषज्ञों और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के पल्ले नहीं पड़ पाई। इस पूरे कार्यक्रम की निरर्थकता और भी ज्यादा उभर आती है, जब यह पता चलता है कि इन शानदार तथा महंगी स्लाइड-टेप सीरीज को बनाने वाले अधिकांश लोगों ने बच्चों के लिए दीवार पर टांगने वाले सीधे-साधे चार्ट तक बनाने में न तो पहले कभी कोई रुचि ही दिखाई है और न ही इस साधारण काम में अपनी योग्यता का कोई सबूत दिया है। मान लीजिए कि यदि राष्ट्रीय संसाधनों और शक्ति की इस बरबादी पर लोकसभा में प्रश्न उठाया जाए तो देश की सामाजिक तथा आर्थिक सचाई को नकार कर चलाए जाने वाले ऐसे कार्यक्रमों के पक्ष में कहने के लिए एन.सी.ई.आर.टी. के पास क्या होगा।

मैंने अभी तक जो कुछ भी कहा है, उससे शायद ऐसा लगने लगा होगा कि ऐसी गैर-वैज्ञानिक परंपराएं और गैर-तार्किक सोच केवल उच्च शिक्षा प्राप्त और अभिजात तबके के लोगों की खासियत है और इसलिए इसका असर केवल राष्ट्र-स्तरीय संस्थाओं पर ही दिखता है परंतु यह सही नहीं है। गैर-तार्किक प्रक्रियाएं तो ऊपर से नीचे तक पूरे समाज में ही व्याप्त हैं। एक उदाहरण लीजिए। आज से दस साल पहले मुझे नासिक में आयोजित एक सर्वोदय सम्मेलन में भाग लेने का मौका मिला जिसकी अध्यक्षता स्वर्गीय श्री जयप्रकाश नारायण स्वयं कर रहे थे। इस सम्मेलन में ग्रामदान आंदोलन को सशक्त (पुष्टीकरण) करने के लिए कुछ चुने हुए इलाकों में सघन काम करने का निर्णय लिया गया। हर राज्य को सघन प्रयास के लिए तीन-तीन जिले चुनने को कहा गया ताकि उनमें ग्रामदान के कुछ सफल परिणाम दिखाए जा सकें।

इसके बाद हर राज्य-स्तरीय इकाई की बैठक अलग-अलग हुई। उत्तर प्रदेश इकाई की बैठक में राज्य-स्तरीय सचिव ने कार्यकर्ताओं को तीन जिलों का नाम सुझाने को कहा। लेकिन किसी की भी कुछ बोलने की हिम्मत नहीं हुई। तब सचिव ने स्वयं ही बोलना शुरू

कर दिया। उन्होंने प्रस्ताव दिया कि सबसे पहले बलिया जिले को चुनना चाहिए 'क्योंकि जे.पी. का जन्म वहां हुआ था।' उन्होंने बेहिचक अगला प्रस्ताव दिया कि दूसरा जिला आगरा होना चाहिए क्योंकि राज्य-स्तरीय इकाई के अध्यक्ष वहां के ही थे और स्वाभाविक था कि तीसरा जिला वह होना चाहिए जहां से वे स्वयं आए थे।

इस चयन के आधार पर न तो कोई चर्चा हुई और न कोई प्रश्न पूछे गए। तीन सौ सर्वोदय कार्यकर्ताओं द्वारा तत्काल उत्साहपूर्वक हाथ उठाकर दिए गए समर्थन ने मुझे चकित कर दिया। हैरत की बात तो यह थी कि किसी इलाके की आर्थिक व सामाजिक परिस्थिति का आकलन किए बिना, वहां के स्थानीय कार्यकर्ताओं की तैयारी के बारे में सोचे-समझे बिना और ग्रामदान के प्रति उस क्षेत्र के लोगों का रुख जाने बिना एक पूरे वर्ष का कार्यक्रम तय कर लिया गया। सवाल उठता है कि श्री जयप्रकाश नारायण का जन्म भर हो जाना उस जिले के चयन का सही आधार कैसे मान लिया गया। आखिर क्यों सर्वोदय के मंजे हुए सैकड़ों कार्यकर्ताओं ने इस पर बिना कोई सवाल उठाए इसे स्वीकार लिया? क्या उन्हें सचिव द्वारा प्रस्तुत तर्कों में कोई कमी नहीं दिखी? क्या यह सर्वोदयी कार्यकर्ताओं को दिए गए प्रशिक्षण की पद्धति में या यों कहिए कि पूरी सर्वोदयी परंपरा में एक बहुत बड़ी कमी नहीं दिखाता है?

अनुभवों से सिद्धांतों का विकास

आइए, अब हम अपने समाज के इस गैर-तार्किक रवैए की जड़ें पहचानने का प्रयत्न करें। इन जड़ों को पहचानकर और इनकी गहराई का अंदाजा पाकर ही हम ऐसे कार्यक्रम सोच सकते हैं जिनसे आज की अंतर्विरोधों से भरी परिस्थिति का कुछ हल निकल सके। इस समय मुझे हमारे द्वारा 1972 में 40 ग्रामीण शिक्षकों के लिए आयोजित पहले विज्ञान प्रशिक्षण शिविर की याद आ रही है। हमने शिविर के पहले दिन ही शिक्षकों से उनके सामने पड़ी हुई एक मेज की लंबाई बारी-बारी से नापने को कहा। शिक्षकों ने पैमाने से एक-एक करके बहुत सावधानीपूर्वक मेज की लंबाई नापी और अपने-अपने आंकड़े कागज की पर्चियों पर लिख लिए। प्रयोग के अंत में सभी शिक्षकों के आंकड़े श्यामपट्ट पर लिख दिए गए। परंतु आंकड़े सामने आते ही शिक्षकों में अचानक खुसुर-पुसुर शुरू हो गई। शिक्षकों के नाप 98 सेंटीमीटर से लेकर 108 सेंटीमीटर तक फैले हुए थे। आंकड़ों का यह फैलाव शिक्षकों को परेशान कर रहा था और उनमें से कुछ ने 'इसने सही नहीं नापा' या 'उसने सही नहीं नापा' कहकर विरोध प्रकट किया। प्रयोग दोहराया गया। आंकड़ों का फैलाव कुछ कम हुआ—अब आंकड़े 100 सेंटीमीटर से 106 सेंटीमीटर तक थे। तीसरी बार यह फैलाव कुछ और घटकर 101 सेंटीमीटर से 105 सेंटीमीटर तक रह गया। परंतु सचाई यह थी कि फैलाव बना रहा, शून्य नहीं हुआ। निष्कर्ष निकल रहा था कि अभ्यास करके और अपना प्रायोगिक कौशल बढ़ाकर फैलाव को घटाया जरूर जा सकता है परंतु उसे

शून्य नहीं किया जा सकता।

शिक्षकों में तो हलचल मच गई। ऐसा कैसे हो गया? 'विज्ञान तो शाश्वत सत्य है', एक शिक्षक ने दार्शनिक अंदाज में कहा। 'सत्य एक से अधिक तो हो ही नहीं सकता। विज्ञान में एक प्रश्न के अनेक उत्तर कभी आ ही नहीं सकते', एक अन्य शिक्षक ने अपनी गहरी परेशानी व्यक्त की। अधिकांश ने जोर देकर कहा कि न तो पैमाने की और न ही मेज की लंबाई बदल रही है, फिर आंकड़ों में घट-बढ़ कैसे हो सकती है? अवलोकनों में कुछ घट-बढ़ तो होगी ही, यह मानना शिक्षकों के लिए अपने एक गहरे पैठे हुए मूल्य को चुनौती देने जैसा सिद्ध हुआ है। 1972 से आज तक हम लगभग हर साल शिक्षकों के नए-नए दलों को यह प्रयोग करवाते रहे हैं। हर बार वही अनुभव रहा है। इस अनुभव को पचा पाने में हमारे विज्ञान शिक्षकों को सांस्कृतिक स्तर पर दिक्कत आई है, परंतु अब धीरे-धीरे लग रहा है कि होशंगाबाद जिले के 200 से भी ज्यादा मिडिल स्कूलों में पढ़ाने वाले लगभग 600 विज्ञान के शिक्षकों के जीवन में एक नया मूल्य विकसित हो रहा है—कुछ न कुछ अंतर, यानी घट-बढ़ किसी भी वैज्ञानिक अवलोकन की प्रक्रिया में निहित है।

अब सवाल उठता है कि अवलोकनों में इस प्रकार के अंतर क्या केवल विज्ञान में ही होते हैं या समाज विज्ञान में भी। हमारे पास अब तक समाज विज्ञान के अवलोकनों में होने वाले दो तरह के अंतर सामने आए हैं। एक तरह का अंतर अध्ययन के तरीके में गलती होने के कारण होता है। इसके लिए मैं आपको एक कहानी सुनाता हूं। आज से लगभग दो साल पहले जब मध्य प्रदेश में भयंकर सूखा पड़ा था, तब आसपास के क्षेत्रों में सूखे का असर पता करने के लिए हमने स्थानीय नवयुवकों का एक शिविर आयोजित किया था। कुछ नवयुवकों ने बेरोजगारी की समस्या पर सूखे के प्रभाव का सर्वेक्षण किया। कामती गांव के एक युवक ने कहा कि उसके गांव में बेरोजगारी की कोई समस्या नहीं है और उसके आंकड़ों से यह पता चल रहा था कि गांव में कुएं खोदने के लिए मजदूर नहीं मिल रहे हैं। उसने अधूरे खुदे कुओं की जानकारी सबके सामने रखी। पर उसी गांव के एक अन्य युवक ने तुरंत पहले वाले युवक द्वारा दी गई जानकारी से अपनी असहमति जाहिर की। उसने बताया कि काम न मिलने के कारण उसी गांव के अधिकांश छोटे किसान तथा खेतिहर मजदूर रेलवे लाइनों और पी.डब्ल्यू.डी. की सड़कों पर रोजगार की तलाश में गांव से बाहर जा चुके थे। अपने इस कथन की पुष्टि के लिए उसने आंकड़े भी पेश किए। इसके बाद आंकड़ों का विवेचन हुआ। दोनों युवकों से प्रश्न पूछे गए और पता चला कि दोनों के आंकड़े सही थे। फिर गड़बड़ कहां थी? आखिर रोजगार की सही परिस्थिति क्या थी?

इन प्रश्नों का उत्तर ढूंढ़ने के लिए कुछ लोग उन्हीं युवकों के साथ फिर कामती गांव गए। उसके बाद धीरे-धीरे बात समझ में आनी शुरू हुई—फर्क दोनों युवकों की आर्थिक और सामाजिक पृष्ठभूमि में था, जिसका असर उनके अवलोकनों में साफ झलक रहा था। उनमें से पहला युवक एक बड़े किसान का लड़का था। दूसरा युवक एक छोटे किसान

के घर का था—उसका घर गांव के गरीब मुहल्ले में था। बड़े किसान या अगल-बगल के घरों में मजदूर मिलने की समस्या इसलिए उठी क्योंकि उन लोगों के यहां या तो मजदूरी बहुत कम मिलती थी या बिलकुल ही नहीं मिलती थी और लगातार काम मिलने की गारंटी भी नहीं थी। दूसरा युवक गरीबी के ज्यादा निकट था और रोजगार जैसी समस्या उसकी अपनी समस्या भी थी। पहले युवक के अवलोकन उसकी अपनी विशेष सामाजिक पृष्ठभूमि से प्रभावित होकर सीमित हो गए थे—उनका आधार संपन्न किसानों के आईने से दिखने वाला यथार्थ था। दूसरे शब्दों में, उस युवक को दिखता वही था जो उसके अपने और उसके आसपास के संपन्न परिवारों में घट रहा था।

सवाल नजरिए का था। इस प्रकार समाज विज्ञान में अवलोकनों में अंतर इस बात पर निर्भर करेगा कि किस पृष्ठभूमि के लोगों को ध्यान में रखकर आंकड़े इकट्ठे किए गए हैं और यह सब अवलोकनकर्ता की अपनी सामाजिक तथा आर्थिक पृष्ठभूमि से जुड़ा होगा। हमारा मत है कि अवलोकन की ऐसी गलतियां वैज्ञानिक पद्धति के प्रशिक्षण से ठीक की जा सकती हैं, जैसा कि दो वर्ष पूर्व नवयुवकों के इस शिविर में प्रश्न पूछकर, अवलोकन दोहरा कर और उनका विवेचन करके करना संभव हुआ था।

समाज विज्ञान के अवलोकनों में अंतर का एक अन्य कारण भी है जिसे वैज्ञानिक पद्धति के प्रशिक्षण से दूर करना संभव नहीं है। मैं इसका भी एक उदाहरण देकर अपनी बात स्पष्ट करने की कोशिश करूंगा। 1978 में भारत सरकार के विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग (डिपार्टमेंट ऑफ साइंस एंड टेक्नोलॉजी) ने एक दल उड़ीसा के पुरी जिले में भेजा था। मुझे भी इस दल के सदस्य के रूप में उड़ीसा जाने का मौका मिला था। इस दल को पुरी जिले के पांच गांवों के एक समूह के विकास के लिए योजना बनाने का काम दिया गया था। हम लोग भुवनेश्वर में कुछ समय के लिए रुके और उसी दौरान सरकारी विशेषज्ञों ने उनके द्वारा किए हुए उन्हीं पांच गांवों के सर्वेक्षण की संक्षिप्त जानकारी हमें दी। हमें बताया गया कि उस क्षेत्र की सबसे प्राथमिक जरूरत एक आधुनिक गोसंवर्धन या पशुविकास कार्यक्रम की है जिसके तहत कृत्रिम गर्भाधान, हरा चारा उगाने, पशु चिकित्सा और पशु आहार की सुविधाएं उपलब्ध कराई जाएं। परंतु जब हम उस क्षेत्र में पहुंचे तो वहां की भयंकर गरीबी और सूखे की परिस्थिति देखकर चक्कर में पड़ गए।

हमें समझ में नहीं आया कि ऐसे सूखाग्रस्त और गरीब क्षेत्र के लोगों की प्राथमिक जरूरत गोसंवर्धन जैसा कार्यक्रम कैसे हो सकता है। खेतिहर मजदूरों या गरीब किसानों की प्राथमिकता क्या है, यह समझने के उद्देश्य से हमने खेतों पर मजदूरी कर रहे कुछ मजदूरों से पूछा, 'मान लीजिए कि सरकार आपकी गरीबी दूर करने के लिए कुछ करना चाहे तो आप सरकार से क्या मांग करेंगे?' उनमें से एक ने सामने की वीरान पहाड़ी की तरफ इशारा करके कहा कि बहुत ही अच्छा हो यदि उस पहाड़ी पर जंगल लगा दिया जाए। उन्हीं में से एक अन्य व्यक्ति ने सुझाया कि महुआ जैसी वनोपज के ठेके छोटे-छोटे हिस्सों में बांट कर बैंकों से ऋण दिलवा कर सीधे गरीब लोगों को दिए जाएं ताकि उत्तर भारत

के बड़े-बड़े ठेकेदार उस क्षेत्र की दौलत लूट कर न ले जा पाएं। एक तीसरे व्यक्ति ने कहा कि बड़े किसानों की वह खाली पड़ी हुई अतिरिक्त सरकारी जमीन को भूमिहीन लोगों में बांट देना चाहिए। उनमें से एक ने भी गोसंवर्धन या पशु विकास कार्यक्रम का जिक्र तक नहीं किया। अब आप ही सोचिए कि भुवनेश्वर में हमें दी गई जानकारी का आधार क्या रहा होगा। जब हमने सरकारी विशेषज्ञों को फिर कुरेदा तो उन्होंने झुंझलाकर कहा कि आप तो 'गलत लोगों' से बात कर रहे हैं। वे हमें उस इलाके के कुछ संपन्न किसानों के घर ले गए जहां हमारी खूब खातिरदारी हुई और हमसे कहा गया कि हम नई दिल्ली की सरकार को इस इलाके में एक अच्छा सा गोसंवर्धन कार्यक्रम चलाने का सुझाव दें।

समाज विज्ञान में अवलोकनों में अंतर क्यों हो जाता है, यह बात शायद इस उदाहरण से कुछ उभर पाई हो। यदि संपन्न किसानों, सरकारी विशेषज्ञों तथा अन्य निहित स्वार्थों के नजरिए से देखा जाए तो उच्च तकनालॉजी व बड़े बजट वाले आर्थिक विकास के कार्यक्रम ग्रामीण इलाकों की प्राथमिकता लगने लगते हैं। परंतु जब इसी समस्या को भयंकर गरीबी के आईने से देखा जाए तो प्राथमिकता वर्तमान स्रोतों के पुनर्वितरण और उनके उपयोग तथा प्रबंध की प्रणाली को बदलने की बन जाती है। हमारे पास ढेरों सबूत हैं, जिनसे यह पता चलता है कि अवलोकनों में ऐसे अंतर समाज पर हावी निहित स्वार्थों के कारण हैं। वैज्ञानिक पद्धति का प्रशिक्षण इस मामले में आखिर क्या कर सकता है?

हमारा अनुभव रहा है कि जब भी आर्थिक हितों और राजनीतिक सत्ता का सवाल उठता है तो वैज्ञानिक पद्धति की सीमाएं अपने-आप आ जाती हैं। हमने इस विषय की गहराई में उतरकर पूरी बात समझने की कोशिश की है और हमें यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ है कि अवलोकनों में होने वाले ऐसे अंतरों का ग्रामीण विकास की प्रमुख दिशा और प्राथमिकताओं पर किस कदर असर पड़ता है। हमें इस गड़बड़ी का पहला अहसास अपने ही एक अनुभव से हुआ। 1972 में हमने बनखेड़ी प्रखंड में गोसंवर्धन का एक छोटा सा कार्यक्रम शुरू किया जिसके तहत एक उत्तम नस्ल के संकर सांड की सेवाएं उपलब्ध करा दीं। उस समय पशु विकास के कुछ अग्रणी विशेषज्ञों ने हमें सलाह दी कि ग्रामीण बेरोजगारी की भयंकर समस्या से जूझने और उसे हल करने के लिए 'संकर गाय पालने से बेहतर कोई और कुटीर उद्योग नहीं है।' हमें बार-बार बताया जाता था कि गुजरात के खेड़ा जिले में अमूल और महाराष्ट्र के पुणे जिले में उरूलिकांचन गांव में स्थित भारतीय कृषि उद्योग प्रतिष्ठान जैसी संस्थाओं को दूध उद्योग के माध्यम से ग्रामीण विकास करने में कितनी सफलता मिली है। इस कार्यक्रम को तीन साल चलाने के बाद हम लोगों ने आंकड़े इकट्ठे करके यह समझने का प्रयास किया कि संकर गायों का लाभ किस तबके के लोगों तक पहुंचा था।

हमें पता चला कि इस कार्यक्रम का लाभ उठाने वाले अधिकतर लोग संपन्न किसान और पास के एक शहर के धनी वकील, व्यापारी इत्यादि थे। कुछ मध्यमवर्गीय किसानों ने भी इसका लाभ उठाया, परंतु एक भी गरीब किसान या खेतिहर मजदूर इसका लाभ

नहीं उठा पाया। ऐसा कार्यक्रम गरीबी दूर करने में कैसे मददगार होगा यह हमारी समझ के परे था। अपने इन आंकड़ों से हम इतने परेशान हुए कि हमने होशंगाबाद जिले में ही गोसंवर्धन कार्यक्रम में कार्यरत एक अन्य संस्था के आंकड़ों का विवेचन किया। हमारे क्षेत्र की तुलना में इस संस्था के लिए शहर के निकट होने के कारण दूध बिक्री तथा सिंचित क्षेत्र के बीच में होने के कारण हरे चारे जैसी समस्याओं का हल ढूंढ़ना अधिक आसान था। इसके बावजूद हमने यह पाया कि इस संस्था के और हमारे अनुभव लगभग एक जैसे थे। परंतु उस दौरान अखबारों में लगातार ऐसी रपटें छप रही थीं और देश भर में ग्रामीण विकास की गोष्ठियों में सुनने को मिलता था कि एक सुप्रसिद्ध संस्था का यह दावा था कि गोसंवर्द्धन का लाभ गांव के हर तबके को समान रूप से मिलता है। सचाई का पता लगाने के लिए हमने खोजबीन शुरू की। हमने इस संस्था के कृत्रिम गर्भाधान केंद्रों पर रखे हुए रजिस्टरों को देखा। इस संस्था द्वारा सार्वजनिक रूप से किए जा रहे दावों और उनके रजिस्टर के आंकड़ों में जमीन-आसमान का अंतर था। यहां भी गांवों का गरीब तबका गोसंवर्धन कार्यक्रम के दायरे से बाहर छूट गया था। फिर आखिर राष्ट्र की यह संस्था और अनेक महत्वपूर्ण सरकारी एजेंसियां गोसंवर्धन या संकरीकरण कार्यक्रम को गांव की गरीबी दूर करने के लिए रामबाण के रूप में क्यों प्रस्तुत करती रहती हैं? क्या कभी आपको आम तौर पर यह विवेचन पढ़ने या सुनने को मिलता है कि गोसंवर्धन कार्यक्रम का असर गांव के अगल-अलग वर्गों पर अलग-अलग है।

ऐसा लगता है कि सामाजिक अध्ययनों में जानबूझ कर कुछ खास तरह के अवलोकनों को या तो दबा दिया जाता है या उन्हें तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रवृत्ति के अनेक प्रमाण मिल रहे हैं। उदाहरण के लिए पिछले वर्ष आकाशवाणी भोपाल ने मेरा एक साक्षात्कार लिया। इस साक्षात्कार के दौरान मैंने किशोर भारती के गोसंवर्धन कार्यक्रम के अनुभव सुनाए, जो दो हिस्सों में थे। पहले हिस्से में मैंने हमारे कार्यक्रम से लाभान्वित लोगों की संख्या के आंकड़े दिए और हरा चारा उगाने व पशुओं की देख-रेख की जानकारी फैलाने के विषय में किए गए अपने प्रयासों से अवगत कराया। वक्तव्य के दूसरे हिस्से में मैंने आंकड़े देकर यह स्पष्ट किया कि किस प्रकार इस कार्यक्रम से गांव की गरीबी दूर करने के उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती। एक सप्ताह बाद जब आकशवाणी पर टेप किया हुआ यह साक्षात्कार प्रसारित हुआ, तब उसे सुनकर हम सब भौचक्के रह गए। मेरे वक्तव्य का पहला हिस्सा जिसमें मुख्यतः उपलब्धियों की बात हुई थी प्रसारित किया गया, परंतु दूसरा हिस्सा बहुत सफाई से दबा लिया गया। वैज्ञानिक अवलोकनों को दबाने का यह एक सटीक उदाहरण था। इस उदाहरण से शायद उड़ीसा वाले अनुभव को समझने में मदद मिले। स्पष्ट है कि समस्या वैज्ञानिक पद्धति की कमी की नहीं है। यहां यह मुद्दा निहित स्वार्थों से टकराव का है जिसके कारण वैज्ञानिक प्रक्रियाएं रुक जाती हैं, आगे नहीं बढ़ पातीं।

अभी तक हमने वैज्ञानिक अवलोकन की बात की है। इसके अलावा वैज्ञानिक पद्धति का एक अन्य पहलू है तार्किक चिंतन। समाज विज्ञान में तार्किक चिंतन की भूमिका को

समझने की जरूरत है। एक बार फिर मैं आपके सामने अपना एक अनुभव रखता हूं। 1972 में गोसंवर्धन कार्यक्रम के साथ-साथ हमने उस इलाके में सिंचाई के कुएं खोदने की एक नई तकनीक की शुरुआत की। यह तकनीक रिंग के कुओं के नाम से प्रसिद्ध है। ऐसे कुओं को बनाने के लिए पहले से बनी-बनाई सीमेंट कंक्रीट की रिंगों को जमीन खोदकर एक के ऊपर एक रखकर तब तक बिठाते चले जाते हैं जब तक कि नीचे पानी का स्रोत न मिल जाए। नलकूप की तुलना में रिंग के कुएं ग्रामीण इलाकों के लिए अनुकूल तकनालॉजी के उपयुक्त उदाहरण हैं क्योंकि ये न केवल सस्ते पड़ते हैं और केवल दो हफ्तों में तैयार हो जाते हैं बल्कि तकनीकी दृष्टि से गांव के लोगों की पहुंच के भीतर हैं।

हमारे काम के फलस्वरूप बनखेड़ी प्रखंड और आसपास के इलाके के 100 से भी अधिक गांवों में रिंग के कुओं का प्रसार हुआ है और आज लगभग ऐसे 450 कुओं से करीबन 5,000 एकड़ जमीन की सिंचाई हो रही है। इससे न केवल इस एकफसली क्षेत्र में अब दो या तीन फसलें उगाई जाने लगी हैं बल्कि रोजगार भी बढ़ा है। ग्रामीण विकास की आम समझ के अनुसार ये आशाजनक परिणाम थे। इसके बावजूद हम लोगों ने रिंग के कुओं के असर का और गहराई से विवेचन किया। इस अध्ययन से पता चला कि रिंग के कुओं के कारण 1977 में इस इलाके के वार्षिक कृषि उत्पादन में साढ़े बारह लाख रुपए की वृद्धि हुई। इस अतिरिक्त वार्षिक आय में से लगभग साढ़े नौ लाख रुपए कुओं के मालिक 300 किसानों को मिले, जबकि शेष तीन लाख रुपया लगभग 2,000 खेतिहर मजदूरों में बंटा। स्पष्ट है कि मुट्ठी भर किसानों को अतिरिक्त आय का एक बड़ा अंश मिला जबकि थोड़े से अंश में बहुत सारे खेतिहर मजदूरों की भागीदारी हुई। हमने इससे यह निष्कर्ष निकाला कि यद्यपि रिंग के कुओं से यह इलाका समृद्ध हुआ है, परंतु इससे गरीबी और अमीरी की खाई और बढ़ी है।

रिंग के कुओं की तकनीक का विकास होशंगाबाद शहर के पास स्थित मित्र मंडल केंद्र रसूलिया नामक संस्था ने लगभग 20 वर्ष पहले किया था। यह तकनीक होशंगाबाद के आसपास के ग्रामीण इलाके में तेजी के साथ फैली परंतु अन्यान्य कारणों से 1972 तक इसका फैलाव होशंगाबाद जिले के पूर्वी क्षेत्र में नहीं हो पाया था।

रिंग के कुओं का सामाजिक प्रभाव भी विचारणीय है। हमने देखा कि जो छोटे किसान कुओं के मालिक बनने के पहले गरीब तबके के साथ सहानुभूति रखते थे, उनकी सहानुभूति में कुओं के मालिक बनने के बाद महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। उन्होंने न केवल गरीब लोगों के साथ उठना-बैठना कम कर दिया और मध्यमवर्गीय व बड़े किसानों के साथ संबंध बढ़ाना शुरू कर दिया, बल्कि अपने पड़ोसी गरीब किसानों तथा बटाई पर खेती करने वाले मजदूरों को महंगे से महंगे भाव पर पानी बेचा। 1976 में एक बार गांव के बहुत सारे लोग मिलकर हमारे पास आए और उन्होंने गांव के अंदर बस्ती में बिजली लगवाने के काम में हमारी सलाह मांगी। हमने इस सामूहिक प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने की कोशिश की परंतु जैसे ही ग्राम पंचायत से सहयोग पाने में कुछ दिक्कतें आईं तो कुछ लोगों ने जल्दी से अपने

घरों में निजी कनेक्शन अलग से लगवा लिए। खोज करने पर पता चला कि जिन लोगों ने सामूहिक प्रयास से अपने को अलग करके अपना काम करवा लिया था, उनमें अधिकांश वे लोग थे जिन्होंने हाल में रिंग के कुओं से खूब पैसा बनाना शुरू कर दिया था।

कुछ ज्यादा समर्थ लोगों के अलग हो जाने से पंचायत से सहयोग पाने की सामूहिक प्रक्रिया कमजोर पड़ गई। परिणाम यह हुआ कि गांव के गरीब किसानों तथा मजदूरों के मुहल्ले आज भी दिन ढलने पर अंधेरे में डूब जाते हैं। उस समय रिंग के कुओं वालों के जगमगाते घर कृषि विकास की दिशा पर बुनियादी सवाल खड़े कर देते हैं। दो माह पहले जब इसी गांव में एक मजदूर संगठन बना तब रिंग के कुओं वालों ने इस प्रक्रिया में रत्ती भर सहयोग नहीं दिया। रिपोर्ट तो यह है कि कुछ ने तो सक्रिय विरोध भी किया और सामंतवादी शक्तियों का साथ दिया चूंकि उन्हें डर था कि कहीं संगठन मजदूरी बढ़ाने की मांग न शुरू कर दे। इस प्रकार साफ पता चलता है कि आर्थिक विकास के कार्यक्रम कैसे कुछ ज्यादा समर्थ गरीब लोगों को गरीबी की रेखा के ऊपर ले जाकर शोषण करने वाली ताकतों को और मजबूत कर देते हैं तथा गरीब तबके के संघर्ष को क्षीण कर देते हैं।

गरीबी की समस्या का निराकरण करने में कृषि विकास की सीमा को हमने पहचाना। अतः इस समस्या से जूझने के लिए हमने वैकल्पिक रास्तों की खोज शुरू की। यह पता लगाने की कोशिश की कि कुटीर उद्योगों के माध्यम से रोजगार पैदा करने की संभावनाएं क्या हैं। इसके लिए ट्यूब लाइट के 'चोक' बनाने व बढ़ईगिरी के काम उठाए। 1974-75 में स्थानीय बाजारों का सर्वेक्षण करके यह पता लगाया कि साबुन, अगरबत्ती, रस्सी, टीन के बरतन जैसे करीब 20 कुटीर उद्योगों के उत्पादन की कितनी बिक्री हो सकती है। 1976 में यह भी खोज की गई कि बनखेड़ी प्रखंड और आसपास के ग्रामीण बाजारों में देसी जूतों और सिले-सिलाए कपड़ों की कितनी खपत है। इस अध्ययन से पता चला कि 125 गांव और एक लाख आबादी वाले बनखेड़ी ब्लाक में यदि कुल मिलाकर 20-25 प्रकार के कुटीर उद्योग शुरू किए जाएं तो मात्र 100 परिवारों को रोजगार मिल सकेगा। यह तो ऊंट के मुंह में जीरा डालने जैसी बात हुई।

हमने यह भी देखा कि ग्रामीण बाजारों की अधिकांश खरीद-फरोख्त में केवल संपन्न और मध्यम तबके के ही लोग भाग लेते हैं। गरीबों की बहुत बड़ी संख्या होने के बावजूद खरीद-फरोख्त में उनकी भागीदारी बहुत कम होती है। उस समय 10+2 शिक्षा प्रणाली की बहस गरम थी और भारत सरकार का शिक्षा मंत्रालय + 2 के चरण में व्यावसायिक प्रशिक्षण की जरूरत पर जोर दे रहा था। एन.सी.ई.आर.टी. भी स्कूली शिक्षा में उत्पादक कामों को जोड़ने की योजना (सोशली यूज़फुल प्रोडक्टिव वर्क) देश भर में क्रियान्वित करने की कोशिश में था। इसी संदर्भ में हमने प्रश्न उठाया कि यदि बनखेड़ी के हायर सेकेंडरी स्कूल में व्यावसायिक प्रशिक्षण शुरू किया जाए तो उसकी संभावनाएं क्या होंगी। सर्वेक्षण से पता चला कि यदि चार-पांच युवकों को विद्युत पंप सेट की मरम्मत का प्रशिक्षण दे दिया जाए तो उन्हें बनखेड़ी तथा पिपरिया प्रखंडों में साल भर में मात्र कुछ महीने ही काम मिलेगा

और उसी में दोनों प्रखंडों की जरूरत पूरी हो जाएगी। इसी प्रकार वर्कशाप और रेडियो मरम्मत के काम में मुश्किल से दो-तीन और युवकों को रोजगार मिलने की संभावना थी। हम आज तक यह नहीं समझ पाए कि शिक्षा मंत्रालय 10+2 योजना के +2 के चरण में और एन.सी.आई.आर.टी. की उत्पादक काम की योजना में किस प्रकार के रोजगार के प्रशिक्षण की कल्पना रही होगी।

हमारे अनुभवों, सर्वेक्षणों और विवेचन से पता चला है कि गांवों में कुटीर उद्योग व व्यावसायिक प्रशिक्षण की सीमित संभावना का आधार, आधुनिक तकनालॉजी की जानकारी की कमी या सीखने की क्षमता की कमी या व्यवस्था करने की कुशलता की कमी जैसे कारण नहीं हैं, वरन इसका आधार बाजार में माल बिक पाने की सीमा है। गरीबी रेखा के नीचे बसर करने वाले लोगों की सीमित क्रय शक्ति और गांव के बाजारों पर शहरी बड़े उद्योगों द्वारा निर्मित सामान का प्रभुत्व ऐसे कारण हैं जो ग्रामीण बाजारों की सीमाएं तय कर देते हैं। यह सारी कटु सचाई आंखों के एकदम सामने होने के बावजूद आज तक सरकारी और स्वैच्छिक संस्थाओं ने ग्रामीण विकास में कुटीर उद्योगों तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण की भूमिका को बढ़ा-चढ़ाकर बताना बंद नहीं किया है।

पिछले कई दशकों से देश के इस यथार्थ की इतने सारे विशेषज्ञों, नेताओं तथा संस्थाओं ने लगातार अवहेलना क्यों की है? क्या कारण है कि गरीबी के निराकरण में कुटीर उद्योगों की इस सीमित भूमिका को सार्वजनिक रूप से स्वीकारा नहीं जा रहा है? इस महत्वपूर्ण मुद्दे पर योजना आयोग की रहस्यमय चुप्पी का क्या कारण हो सकता है? क्या यह संभव है कि इस तरह का तार्किक विवेचन देश के शिक्षित व अभिजात तबके और राष्ट्र-स्तरीय नेताओं के बस के बाहर की बात है या सचाई कुछ और है? कहीं सचाई यह तो नहीं कि पूरे अभिजात और शासक वर्ग के लिए आज के सामाजिक तथा आर्थिक संकट और बढ़ती हुई गरीबी जैसे विकट समस्याओं के वैज्ञानिक आधार को स्वीकार कर लेना अपने निहित स्वार्थों को स्वयं चोट पहुंचाना होगा?

इस चर्चा में हमारी प्रमुख चिंता यह नहीं है कि गोसंवर्धन, सिंचाई, कुटीर उद्योग या व्यावसायिक प्रशिक्षण जैसे कार्यक्रम भारत की गरीबी दूर करने के लिए उपयुक्त साधन हैं या नहीं। परेशानी तो इस बात से है कि कई दशकों के अनुभव के बाद भी ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों की सीमा के बारे में एक विवेचनात्मक दृष्टिकोण आम जनता से छिपा लिया जा रहा है। अपने कुछ ही वर्षों के अनुभव से हमें समझ में आ गया है कि गांव का समाज एक विखंडित समाज है। एक ओर तो बड़े तथा मध्यमवर्गीय किसान, साहूकार और व्यापारी हैं जो समस्त विकास कार्यक्रमों का लाभ हथिया लेते हैं और इसीलिए ऐसे कार्यक्रमों की मांग तथा समर्थन करते हैं। दूसरी ओर खेतिहर मजदूर, गरीब किसान तथा छोटे-मोटे कारीगर हैं जो विकास की प्रक्रिया के दायरे के बाहर छूट जाते हैं। योजना आयोग एवं भारत सरकार के उद्योग, ग्रामीण विकास और विज्ञान तथा तकनालॉजी जैसे विभागों द्वारा बनाई गई लुभावनी योजनाओं का इस गरीब वर्ग के जीवन से कुछ लेना-देना नहीं

है। जब कभी भी कोई ग्रामीण विकास की पैरवी करता है तो हमारा उससे तत्काल पूछने का मन करता है कि वह किसके विकास की पैरवी कर रहा है—मुट्ठी भर संपन्न लोगों की या गांव की आम गरीब जनता की? योजना बनाने वाले विशेषज्ञ और नेतागण इस स्पष्ट विवेचन को नकार कर विकास के नाम पर समाज में भ्रम फैलाते हैं और गांव और शहर की खाई, विकेंद्रीकरण, सहकारिता, सामुदायिक योजना, पंचायती राज तथा जन सहयोग जैसी बातें दोहराकर देश को इस भुलावे में रखते हैं कि गरीबी दूर करने के लिए बहुत कुछ हो रहा है। ऐसा लगने लगता है कि विकास के इन तकियाकलामों का उपयोग करके जानबूझकर यह धारणा फैलाई जा रही है कि गांव के समाज में एकरूपता है और जैसे कि शहर में गरीब नहीं रहते या गांव में अमीर नहीं रहते। हमारा यह मत है कि जब तक भारत में विकास की योजनाओं के अनुभवों के वैज्ञानिक विवेचन को टाला या दबाया जाएगा, तब तक न तो विकास की सार्थक योजनाएं ही बन पाएंगी और न ही गरीबी दूर होगी।

जब कभी भी तार्किक चिंतन या वैज्ञानिक दृष्टिकोण की बात उठती है, तब शिक्षित कहे जाने वाले अभिजात वर्ग के लोग अधिकतर यह कहते हुए पाए जाते हैं कि 'ये अनपढ़ और गंवार लोग इन बातों को क्या समझेंगे', जैसे कि वैज्ञानिक कौशल केवल उनकी बपौती हो। इन्हीं अनपढ़ और गंवार कहे जाने वाले लोगों के बीच काम करके हमें पता चला है कि ऐसी धारणाएं कितनी निराधार हैं। इस संबंध में मुझे खादी ग्रामोद्योग कमीशन के उस प्रतिनिधि की याद आती है जो मुझे कुछ वर्ष पहले अचानक एक बैंक में मिल गए थे। वह काफी परेशान दिख रहे थे। पूछने पर उन्होंने बताया कि उनकी उस समय प्रमुख जिम्मेदारी कुम्हारों को विद्युत चालित चाक, यानी पावर चाक की सुविधा दिलवाना है। उनकी परेशानी का कारण यह था कि उनकी मेहनत के बावजूद एक भी कुम्हार ने पावर चाक में रुचि नहीं दिखाई। यद्यपि उन्होंने कुम्हारों को आकर्षित करने के लिए पावर चाक की कीमत में छूट, कम ब्याज पर ऋण, प्रशिक्षण, बिजली कनेक्शन इत्यादि सब तरह की सुविधाएं दिलवाने का आश्वासन दिया था। मैंने उनसे पूछा कि उनकी दृष्टि में पावर चाक जैसी अनुकूल तकनालॉजी कुम्हारों में लोकप्रिय क्यों नहीं हो पा रही है। उन्होंने तुरंत उत्तर दिया कि इस जिले के लोग अनपढ़ व पिछड़े हुए हैं और आधुनिक तकनालॉजी के फायदों को समझते नहीं हैं। यह बिलकुल उसी तरह का निष्कर्ष था जिसे शिक्षित और उच्च वर्ग में व्यापक मान्यता मिली हुई थी।

उनके साथ बात आगे बढ़ाने पर पता चला कि वह यह जानते थे कि इस जिले के कुम्हार साधारण चाक पर बनाए हुए सारे बरतन भी बेच नहीं पाते और इसलिए उन्हें अकसर उत्पादन का काम रोक देना पड़ता था। तब मैंने उनसे पूछा कि वे ही समझाएं कि जब कुम्हारा साधारण चाक से निर्मित सामान को नहीं बेच पाता, तो वह ऐसे चाक का क्या करेगा जिससे उत्पादन और भी बढ़ जाएगा। आखिर कुम्हार की समस्या असल में क्या है—मिट्टी के बरतन बेच पाने की या उनका उत्पादन बढ़ाने की? खादी ग्रामोद्योग कमीशन के प्रतिनिधि धीरे-धीरे बात पकड़ने लगे थे। उनकी समझ में आने लगा था कि

कमीशन के द्वारा प्रस्तुत अनुकूल तकनालॉजी का यह उदाहरण वास्तव में अनुकूल नहीं था। अनपढ़ कुम्हारों ने स्वयं ही अपनी परिस्थिति का विवेचन करके यह समझ लिया था कि उनकी आय न बढ़ पाने के कारण क्या हैं और इसीलिए उनके पास पावर चाक की उपयोगिता का आकलन करने के लिए सही आधार था। इतनी सीधी-साधी बात भी खादी कमीशन के विशेषज्ञ समझ नहीं पा रहे थे।

अब हाल की एक और घटना पर विचार करें। दो माह पहले हमारे नजदीक के एक गांव से लगभग 100 भूमिहीन मजदूर और गरीब किसान हमारे पास अपनी गरीबी से छुटकारा पाने के रास्ते ढूंढ़ने आए थे। उन्होंने जमीन, वनोपज के अधिकार और सरकारी शक्कर के सही वितरण की मांग की। उन्होंने संगठित होकर सामंतवादी शक्तियों के प्रभुत्व को चुनौती देने का निर्णय किया। हमने उन्हें याद दिलाया कि उनके इस रास्ते में कितने बड़े जोखिम हैं और किस प्रकार स्थानीय जमींदार, सरकारी अधिकारीगण और पुलिस सब मिलकर उनके इस प्रयास को खत्म कर सकते हैं। वे लोग यह सब खूब अच्छी तरह जानते थे। तब हमने उनसे यह जानने की कोशिश की कि इस सामंतवादी गठबंधन का मुकाबला करने के लिए उनके पास क्या ताकत थी। इस पर उनके एक मुखिया ने, जो दस्तखत तक करना नहीं जानता था, कहा, 'हम उगात हैं, वे खाउत हैं, हम उगाना बंद कर दें तो वे भूखे मर जाएं। यही हमारी ताकत है।' हमारे पास ढेर ऐसे अनुभव हैं जिनसे पता चलता है कि गरीब और शोषित लोगों में विवेचनात्मक प्रक्रिया में भाग लेने की गजब की क्षमता होती है और अपने विकास के रास्ते में आने वाले अवरोधों को वे खूब अच्छी तरह पहचानते हैं।

उभरती परिकल्पनाएं

मैंने अभी तक जो कुछ कहा है, उससे पांच प्रमुख परिकल्पनाएं उभरती हैं। ये परिकल्पनाएं इस उम्मीद से प्रस्तुत कर रहा हूं कि इनके आधार पर और इनको परखने के लिए अन्य लोग प्रयास करेंगे और अनुभव इकट्ठे करेंगे :

1. सही अवलोकन और वैज्ञानिक विवेचन हमारे आसपास के सामाजिक तथा राजनीतिक यथार्थ को समझने के लिए आवश्यक साधन हैं।
2. समाज विज्ञान में यथार्थ का अवलोकन कई नजरियों से किया जाता है। यथार्थ का कौन सा पहलू किसे दिखेगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि देखने वाले की अपनी पृष्ठभूमि क्या है। इसकी तुलना में विज्ञान में यथार्थ का अवलोकन और विवेचन करने की प्रक्रिया कार्यकर्ता के मात्र वैज्ञानिक कौशल पर निर्भर करती है। उसकी वर्ग पृष्ठभूमि पर नहीं।[1]
3. विज्ञान में सही अवलोकन और विवेचन करने की क्षमता प्रशिक्षण द्वारा विकसित की जा सकती है। परंतु समाज विज्ञान में यह हमेशा संभव नहीं होता क्योंकि बात

निहित स्वार्थों के टकराव तक पहुंच जाती है। इस प्रकार समाज विज्ञान में कई ऐसे मुद्दे हैं जिनके कारण वैज्ञानिक पद्धति को लागू करने की सीमाएं आ जाती हैं।

4. वैज्ञानिक प्रक्रियाओं का उपयोग करने की क्षमताएं केवल शिक्षित व अभिजात तबके तक ही सीमित नहीं हैं। अनपढ़ व शोषित लोगों में भी ये क्षमताएं होती हैं और प्रशिक्षण तथा अनुभव द्वारा उन्हें और अधिक आगे बढ़ाया जा सकता है।
5. समाज के विकास के लिए सार्थक और उपयोगी योजनाएं तभी बन सकती हैं जब योजना बनाने वाले विशेषज्ञ शोषित लोगों के साथ जुटकर वैज्ञानिक पद्धति सीखेंगे। यदि ऐसा नहीं किया गया तो विकास तथा सामाजिक परिवर्तन के वर्तमान कार्यक्रमों और शोषित लोगों के जीवन के बीच की खाई कभी नहीं पटेगी।

शिक्षा की परिभाषा

इन परिकल्पनाओं से हमें जन आंदोलनों में विज्ञान की भूमिका समझने में मदद मिलती है। हमारी आज की समझ के अनुसार विज्ञान की प्रमुख भूमिका शोषित लोगों को अपने सामाजिक तथा आर्थिक यथार्थ को वैज्ञानिक पद्धति से समझने के लिए तैयार करने में है ताकि विकास और न्याय के लिए उनके संघर्ष ठोस आंकड़ों व तार्किक चिंतन पर आधारित हों। अतः वैज्ञानिक पद्धति को अधिक से अधिक लोगों तक ले जाने की प्रक्रिया ही सही शिक्षा है जिससे लोग अपने विकास के अवरोधों को पहचान सकें और न्याय के लिए अपने संघर्षों को और मजबूत कर पाएं।[2]

यदि जन आंदोलन में विज्ञान की यह भूमिका और शैक्षणिक प्रक्रिया की यह परिभाषा मान ली जाए तो कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण और जन संगठन बनाने के लिए वैज्ञानिक पद्धति को व्यापक रूप से फैलाना जरूरी होगा। इस सैद्धांतिक समझ का व्यावहारिक रूप क्या होगा? इस दिशा में जो काम हुए हैं, उनसे क्या सीखा जा सकता है? शैक्षणिक प्रक्रिया को विकसित करने में क्या अवरोध आते हैं? इन सब प्रश्नों का उत्तर ढूंढ़ने के लिए हमें पहले यह समझ लेना चाहिए कि वैज्ञानिक पद्धति के अलग-अलग तत्व क्या हैं। जिज्ञासा, अवलोकन, आंकड़े इकट्ठे और व्यवस्थित करना, विवेचन करना और निष्कर्ष निकालना इत्यादि ये सब वैज्ञानिक पद्धति के ऐसे तत्व हैं जिनके आधार पर शैक्षणिक कार्यक्रम विकसित किए जा सकते हैं। आइए, इस बात को हम एक ठोस उदाहरण द्वारा समझें। गत वर्ष दिसंबर में हमने गांव में टी.बी.(क्षय रोग) की समस्या को लेकर एक तरुण शिविर का आयोजन किया। शिविरार्थियों की कई टीमें बनाई गईं। इन टीमों ने कई दिनों तक अलग-अलग गांवों में जाकर टी.बी. रोग का सर्वेक्षण किया। उन्होंने पता लगाया कि प्रत्येक गांव में टी. बी. के कितने मरीज हैं और उनका इलाज किस तरह से चल रहा है या नहीं चल रहा। इन तरुणों ने ऐसे परिवारों की कहानियां सुनीं जिनके लगभग सभी सदस्य तपेदिक रोग

से बारी-बारी खत्म हो गए थे। उन्होंने उन मरीजों से यह भी पता किया कि इन दर्दनाक परिस्थितियों में सरकारी और निजी डाक्टरों की क्या भूमिका रही और भारत सरकार के राष्ट्रीय क्षय रोग नियंत्रण कार्यक्रम का गांव तक, खासकर गरीब तबके तक पहुंचते-पहुंचते क्या रूप रह गया। इसके आलावा शिविरार्थियों ने क्षय रोग के फैलाव और इसके रोजगार तथा गरीबी के साथ संबंध पर जानकारी इकट्ठी की। साथ-साथ उन्हें तपेदिक का इलाज करवाने के सिलसिले में किस प्रकार की सामाजिक दिक्कतें आती हैं, इस विषय पर ढेर सारे आंकड़े मिले। इन सभी आंकड़ों को संकलित करके उन पर विवेचनात्मक चर्चा हुई।

प्रत्येक दल ने अपने-अपने आंकड़ों के आधार पर सर्वेक्षण में पाई गई समस्याओं की एक-एक सूची तैयार की। इन टीमवार सूचियों के आधार पर चर्चा करके एक बड़ी सूची बनाई गई जिससे कुछ सामान्य मुद्दे उभरे। क्षय रोग के बारे में बात तक करने की सामाजिक मनाही पाई गई। यह रोग अधिकतर गरीब परिवारों में देखा गया, सरकारी तथा निजी डाक्टर मिलकर मरीज और उसके परिवार को लूट-खसोट लेते थे, इस लूट-खसोट को सामंतवादी शक्तियों तथा अन्य बड़े लोगों का समर्थन प्राप्त था और सबसे महत्वपूर्ण बात निकली कि राष्ट्रीय क्षय रोग नियंत्रण कार्यक्रम से क्षय रोगियों को कोई खास लाभ नहीं मिल रहा था। इसके बाद राष्ट्रीय कार्यक्रम का लाभ गरीब तबके तक न पहुंच पाने के कारणों का विवेचन हुआ और इससे समाज के ढांचे के बारे में आंख खोल देने वाली एक समझ उभरी।

इस पूरी वैज्ञानिक प्रक्रिया के बाद शिविरार्थी इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि राष्ट्रीय क्षय रोग नियंत्रण कार्यक्रम के रहते हुए एक नई समानांतर चिकित्सा सेवा शुरू करने का कोई महत्व नहीं है क्योंकि उसकी सीमाएं भी उसी प्रकार आ जाएंगी। यह निर्णय हुआ कि सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण वह कार्यक्रम होगा जिसमें राष्ट्रीय कार्यक्रम के तहत मिल सकने वाली इलाज की सुविधाओं की जानकारी फैलाई जाए ताकि गरीब लोग अपने अधिकारों की मांग के लिए संघर्ष कर सकें। शैक्षणिक प्रक्रिया के इस उदाहरण से यह साफ उभरता है कि कुछ तरुणों ने कैसे अपने अनुभवों पर वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग करके अपना अगला कार्यक्रम तय किया।

शैक्षणिक प्रक्रिया में अवरोध

वैज्ञानिक पद्धति को शोषित लोगों के बीच फैलाने के प्रयास में हमें निम्नलिखित पांच अवरोधों का सामना करना पड़ा है :

1. जानकारी की कमी
2. रूढ़ियों से बंधे रहने की प्रवृत्ति
3. भाग्य पर भरोसा

4. निहित स्वार्थों द्वारा हमले का डर
5. अमूर्त चिंतन की क्षमता की कमी।

आइए, अब हम इन पर बारी-बारी से विचार करें।

यह एक आम अनुभव रहा है कि शोषित लोगों द्वारा अपने यथार्थ को समझने की प्रक्रिया अकसर जानकारी की कमी के कारण आगे नहीं बढ़ पाती। जब यह कमी पूरी कर दी जाती है तो यथार्थ को समझने की क्षमता फिर से तेजी के साथ विकसित होने लगती है। इसका एक बहुत प्रभावशाली उदाहरण कालीकट जिले में केरल शास्त्र साहित्य परिषद (या केवल परिषद) के काम से मिलता है। कुछ वर्ष पहले परिषद ने कालीकट जिले के वालकाड गांव के पास स्थित एक बड़ी रेयान फैक्टरी द्वारा फैलाए गए प्रदूषण का मामला उठाया। यह फैक्टरी चालियार नदी के किनारे है। इसकी रसायनों से भरी हुई गंदगी नदी में फेंक दी जाती थी और चिमनी द्वारा खतरनाक गैसें हवा में फैलती रहती थीं। इस प्रकार फैक्टरी के कारण जल और हवा के प्रदूषण की भयंकर समस्या खड़ी हो गई थी। इस प्रदूषण का वालकाड गांव के लोगों के स्वास्थ्य और उनकी खेती पर बहुत बुरा असर पड़ रहा था। इसके बावजूद कई सालों तक वहां के गरीब लोग इस स्थिति को चुपचाप सहते रहे। परिषद ने कालीकट मेडिकल कालेज के विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करके उस गांव के लोगों के स्वास्थ्य का सर्वेक्षण करवाया।

सर्वेक्षण से पता चला कि वहां के बहुत से लोगों को फेफड़े की एक विशेष बीमारी है जो हवा में सल्फर डाइआक्साइड और कार्बन मोनोआक्साइड की मात्रा बढ़ने से हो जाती है। परिषद ने तब वहां प्रदूषण का अध्ययन करने के लिए जैव-वैज्ञानिकों, रसायनशास्त्रियों, भूगर्भशास्त्रियों और इंजीनियरों का एक दल भेजा। इस टीम के लोगों ने प्रदूषण की समस्या पर एक लंबी-चौड़ी रपट तैयार की और नदी के प्रदूषित हिस्सों के रंगीन चित्र उतारे। इसके अलावा इस टीम ने प्रदूषण की समस्या पर नियंत्रण पाने के लिए एक तकनीकी योजना बनाई। परिषद का अगला कदम वालकाड गांव में सायंकालीन कक्षाएं लगाना था जिसमें उन्होंने डाक्टरों और तकनीकी टीम के द्वारा इकट्ठी की हुई जानकारी गांव के गरीब लोगों तक पहुंचाई। गत वर्ष जब हम वालकाड पहुंचे तो यह देखकर दंग रह गए कि सल्फर डाइआक्साइड, कार्बन मोनाआक्साइड, प्रतिशत और घुलनशीलता जैसे तकनीकी शब्द वहां के अनपढ़ लोगों की रोजमर्रा की बातचीत का अंग बन चुके थे। सायंकालीन कक्षाओं का असर यह हुआ कि वालकाड गांव के लोगों ने संगठित होकर फैक्टरी के मालिकों से मांग की कि वे परिषद द्वारा प्रस्तुत तकनीकी योजना को क्रियान्वित करके प्रदूषण दूर करें। वालकाड के लोगों के उतार-चढ़ाव से भरे हुए संघर्ष की एक लंबी कहानी है पर इसके आगे फैक्टरी के ताकतवर मालिकों को झुकना पड़ा क्योंकि उनके पास केरल में अपनी साख बचाने के लिए इसके अलावा अन्य कोई तार्किक रास्ता नहीं बचा था। परिषद की तकनीकी योजना अब क्रियान्वित हो सकती है। वालकाड के लोगों ने अपनी पहली लड़ाई जीत ली है।

शैक्षणिक प्रक्रिया में दूसरा अवरोध समाज में व्याप्त रूढ़िवादिता के कारण उत्पन्न होता है। इसका एक अच्छा उदाहरण हमारे हाल के एक अनुभव से मिलता है। हमारे नजदीक के एक गांव में कुछ सप्ताह पहले एक मजदूर संगठन बना। इस बात का जिक्र मैं पहले भी कर चुका हूं। हमने मजदूर संगठन के 20-25 सदस्यों के साथ एक शिविर का आयोजन किया। संगठन के लोगों ने शुरू में ही स्पष्ट कर दिया था कि वे शिविर के दौरान अपने जातीय बंधनों के कारण किशोर भारती संस्था में भोजन नहीं करेंगे। इस बात को लेकर बहुत चर्चा हुई और अंत में तय हुआ कि वे भोजन इस शर्त पर करेंगे कि उनके द्वारा ही चुने गए बरौआ (कहार) जाति के लोग सबके लिए भोजन बनाएंगे और परोसेंगे। इस प्रकार शिविर में भोजन की व्यवस्था हुई । कुछ अव्यवस्था के कारण पहले दिन एकाध 'नीची' जाति के मजदूरों ने खाना बनाने में हाथ बंटा दिया और परोसना भी शुरू कर दिया। इससे मजदूर संगठन के अधिकांश लोग—रज्झड़ और गोंड आदिवासी, बरौआ इत्यादि—आग-बबूला हो गए। उनको लगा कि उनके साथ धोखा हुआ है। पीढ़ी दर पीढ़ी से चली आ रही परंपराओं को यह एक चुनौती थी। एक ने कहा कि हमारा धर्म भ्रष्ट हो गया। दूसरे ने संकेत दिया कि यदि यह खबर फैल गई तो उनको जाति से निकाल दिया जाएगा या पूरे समाज को भोज देना पड़ेगा ('रोटी लग जाएगी')। यह स्पष्ट था कि वे घबराए हुए थे। भय यहां तक कि अब बेटे-बेटियों के शादी-ब्याह में दिक्कत आ सकती है। मामला गंभीर था। हमने इस गलती के लिए माफी मांगी और उनसे पूछा कि वे भोजन व्यवस्था के नियम और पक्के बता दें—आटा गूंथने से लेकर बरतन मांजने तथा पत्तल फेंकने तक के हर काम कौन कर सकता है और कौन नहीं। इस चर्चा में एक और बात भी उभरी कि किशोर भारती टीम के किसी भी सदस्य (चाहे वह कितना ही ऊंचा ब्राह्मण क्यों न हो) के हाथ का खाना वे नहीं खाएंगे क्योंकि हम लोग हर जात के साथ खाना खाकर भ्रष्ट हो चुके हैं। एक नियम और बना। विभिन्न जातियों के लोग एक साथ बैठकर जरूर खा सकते हैं परंतु उन्हें बीता भर जगह छोड़कर (संधि देकर) बिठाना पड़ेगा। ये नियम स्वीकार कर लिए गए और लोग कुछ शांत हुए। परंतु किशोर भारती टीम ने इस निर्णय पर अपना विरोध प्रकट करने के उद्देश्य से फैसला किया कि हम 'संधि देकर' खाना खाने के बजाए मजदूर संगठन के लोगों के भोजन कर लेने के बाद अलग से भोजन करेंगे। इस फैसले से हमने यह स्पष्ट कर दिया कि यह जातिभेद हमें स्वीकार नहीं था।

एकाध दिन तो गाड़ी इस प्रकार चली। इस बीच धीरे-धीरे सुनने में आने लगा कि कई लोगों को इस बात का बहुत अफसोस है कि उनके नियमों से किशोर भारती के सदस्यों ने परेशान होकर अलग खाना शुरू कर दिया है। एक दिन सवेरे अनपढ़ और गरीब शिविरार्थियों ने इस मामले पर विचार करने के लिए हम लोगों के बगैर एक गोष्ठी की। लगभग सभी ने हमारी भावनाओं को ठेस लगने का जिक्र किया। कुछ ने इन जात-पात के नियमों के कारण संगठन के ही नीची जाति के लोगों को भी ठेस पहुंचाने की बात की। अचानक उनमें से कई लोगों ने जात-पात टूटने पर सामाजिक दंड लगने की संभावना पर

ही प्रश्न खड़े कर दिए। कई मजदूरों ने ऐसे उदाहरण सुनाए जब जात के बाहर भोजन करने पर 'रोटी नहीं लगी'। एक ने तो यहां तक कहा कि ऐसे भेदभाव करने वाले के खिलाफ कानूनी कार्रवाई की जा सकती है। अंत में सबको अहसास हुआ कि अब तो वे संगठित हैं—यदि किसी पर दंड लगा भी तो वे सब मिलकर सामना करेंगे। इस बातचीत से हिम्मत बंधी। एक नया फैसला हुआ कि अब वे भोजन तभी करेंगे जब किशोर भारती के सदस्य भी उनके साथ बैठेंगे। दूसरा फैसला हुआ कि नीची जाति के लोग भी भोजन परोस सकते हैं। उस दिन अनपढ़ मजदूरों ने अपनी नई समझ के आधार पर एक नया नारा दिया—'हमारी जात गरीबी है'। जो शैक्षणिक प्रक्रिया जाति-पाति की परंपरा के कारण लगभग रुक सी गई थी, उसे हम तर्क के आधार पर आगे नहीं बढ़ा पाए। यह प्रक्रिया आगे तभी बढ़ी जब संगठन के लोगों पर हमारे द्वारा अलग भोजन करने के कारण भावनात्मक असर हुआ जिससे अवरोध टूटा।[3]

आम लोगों का भाग्य में विश्वास शैक्षणिक प्रक्रिया में आने वाला तीसरा अवरोध है। मुझे एक बसोड़ (बांस की वस्तुएं बनाने वाले दलितों की एक जाति) की याद आ रही है जो मुझे दो साल पहले एक दिन उस मौसम में खाली घूमता हुआ मिला जब बसोड़ों के पास अधिकतम काम रहता है। उस समय वन विभाग के स्थानीय डिपो में बांस का पर्याप्त भंडार होना चाहिए था। प्रश्न पूछने पर उस बसोड़ ने बताया कि उस इलाके का सारा बांस बहुत दूर नेपानगर के कागज कारखाने को भेज दिया गया था। इस अनपढ़ बसोड़ के पास इस मामले पर बहुत जानकारी थी। मैंने उससे पूछा, 'क्या कारण है कि कागज का एक कारखाना सारा बांस हथिया लेता है, जबकि हजारों गरीब बसोड़ बिना रोजगार के खाली बैठे रहते हैं।' उसने छूटते ही कहा, 'नेपानगर के कागज कारखाने की ताकत हम सब बसोड़ों की ताकत से ज्यादा है।' मैंने तब पूछा कि क्या उसे कोई ऐसा रास्ता सूझता है जिससे सब बसोड़ मिलकर नेपानगर जाने वाले उनके हिस्से के बांस पर रोक लगवा सकें और अपना अधिकार पा सकें। बसोड़ ने कहा, 'हां, यह जरूर हो सकता है, अगर हम सब बसोड़ एक संगठन बनाकर जंगल वालों से बांस की मांग करें।' कुछ रुककर बसोड़ ने आगे कहा, 'पर ऐसा नहीं होगा। ऐसा संगठन तभी बन सकता है जब भगवान चाहेगा। इस साल हमारे भाग में बांस नही है।' सारा मामला भगवान और भाग्य पर आकर अटक गया। उस बसोड़ के पास जानकारी की कमी नहीं थी और उसने तार्किक चिंतन की कई सीढ़ियां भी पार कीं, पर फिर उसकी सीमा आ गई। इस सीमा को उसी सिद्धांत के आधार पर तोड़ा जा सकता है जिसका जिक्र मैंने रूढ़ि वाले अवरोध के संदर्भ में किया था—शैक्षणिक प्रक्रिया में आने वाला हर अवरोध हमेशा मात्र वैज्ञानिक पद्धति से हटाया नहीं जा सकता। ऐसी सीमाएं तभी टूटती हैं जब उन पर किसी घटना या साहसिक काम का भावनात्मक असर होता है। सीमा टूटने पर शैक्षणिक प्रक्रिया को फिर आगे बढ़ाया जा सकता है।[3]

चौथा अवरोध सामंतवादी शक्तियों तथा अन्य निहित स्वार्थों के गठबंधन से डर का

है। इस आतंक के असर का अहसास हो पाना तब तक संभव नहीं है जब तक कि शोषित लोगों की जिंदगी को बहुत पास से पहचान न लिया जाए। दो वर्ष पहले हमने पास के एक गांव के रज्झड़ आदिवासियों को एक आर्थिक कार्यक्रम का प्रस्ताव दिया जिसके अनुसार उन्हें कौसम के वृक्षों पर लाख उगाने के अपने पुश्तैनी धंधे को करने का हक मिल सकेगा। इससे पहले कई दशकों से ये आदिवासी दैनिक मजदूरी पर बड़े ठेकेदारों या पटेलों के लिए यह काम करते आए थे। उनका यह पुराना सपना था कि एक दिन वे स्वयं मालिक बनकर लाख उगाएं और अपनी मेहनत का पूरा फल पाएं। परंतु जब अधिकार लेने का मौका आया तो वे पीछे हट गए। बाद में हमें पता चला कि रज्झड़ों के साथ हमारी गोष्ठी तथा प्रस्ताव की खबर गांव के सरपंच (पुराने मालगुजार) तक पहुंच चुकी थी। खबर पहुंचते ही सरपंच ने रज्झड़ों को धमकी दी थी कि यदि उन्होंने लाख उगानी शुरू की तो उन्हें मारा-पीटा जाएगा।

अधिकतर रज्झड़ इन मालगुजार परिवारों के आर्थिक दबाव में रहते हैं—कुछ उनसे लिए गए कर्ज से दबे हैं, कुछ उनकी हरवाही और बटाई करते हैं। इसी कारण से मालगुजार लोग चिंचित थे कि यदि रज्झड़ों की लाख के धंधे से कमाई बढ़ गई तो रज्झड़ आर्थिक रूप से स्वतंत्र होने लगेंगे और इन पर उनका दबाव कम हो जाएगा यानी सामंतवादी ताकत घटेगी। दो वर्षों तक रज्झड़ों ने हमारे आर्थिक प्रस्ताव के उत्तर में कोई पहल नहीं की। कई पीढ़ियों से रज्झड़ों में बैठा हुआ भय इतना गहरा था कि उनकी गरीबी के कारण उनको समझाने के लिए या लाख उगाकर उनकी आय बढ़ाने के लिए कोई भी तर्क उन पर असर नहीं डाल रहे थे।

अचानक एक दिन एक घटना से पासा पलट गया। इस साल मई के महीने में जब राशन की शक्कर गांव में बंटी तो उसके वितरण में हमेशा की तरह घपले हुए। अधिकतर गरीब लोगों की शक्कर किसी न किसी तरीके से विभिन्न मालगुजार परिवारों ने हड़प ली। इस इलाके के इतिहास में शायद पहली बार कुछ गरीब लोगों ने इकट्ठे होकर सरपंच से न्याय मांगने का साहस किया। गरीब लोगों की इस हिम्मत को देखकर सरपंच आगबबूला हो गए और उन्होंने हमारे एक कार्यकर्ता और दो आदिवासियों को पिटवा दिया। वैसे तो ऐसी मारपीट की घटनाएं आए दिन घटती रहती हैं और गरीब लोग यह अन्याय चुपचाप सहन कर लेते हैं। परंतु इस बार हमने इस मामले में दखल दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि सरपंच को सारे गांव के सामने खुली माफी मांगनी पड़ी। आपसे जिन लोगों का सामंतवादी प्रभाव के परिचय रहा है वे ही पूरी तरह समझ सकते हैं कि ऐसी घटना का गांव के लोगों पर क्या असर हुआ होगा। दो वर्षों से रज्झड़ों के साथ की जा रही तार्किक प्रक्रिया से जो नहीं हो पाया वह अचानक इस 'शक्कर कांड' के भावनात्मक असर से अपने आप हो गया। पहली बार लोगों ने अपनी आंखों से देखा और महसूस किया कि पटेलों की ताकत असीम नहीं है, इसकी भी सीमा है। वैज्ञानिक प्रद्धति को आगे बढ़ाने में जो अवरोध था वह इस प्रकार टूट गया। जुलाई के महीने में अन्य शोषित लोगों के साथ मिलकर

रज्झड़ आदिवासियों ने संगठित होने का फैसला किया ताकि वे कई पीढ़ियों से चले आ रहे सामंतवादी दबाव से बाहर निकलकर कौसम वृक्षों पर लाख उगाने का अपना हक पा सकें। इस तरह रुकी हुई शैक्षणिक प्रक्रिया को फिर शुरू करने के रास्ते खुल गए।

पांचवां और अंतिम अवरोध—अमूर्त चिंतन की क्षमता की कमी, यानी अपने अनुभवों के सीमित दायरे से निकलकर दूसरों के अनुभवों को समझने और इन सब अनुभवों को जोड़कर समस्याओं की एक व्यापक समझ बना पाने की क्षमता की कमी है। मैं एक बार फिर वालकाड गांव में परिषद के कार्यक्रम का उल्लेख करूंगा। हमने वालकाड गांव के कुछ जागरूक कार्यकर्ताओं को चर्चा के दौरान बताया कि मध्य प्रदेश के शहडोल जिले में भी जल प्रदूषण की एक बिलकुल वैसी ही समस्या है। शहडोल जिले में सोन नदी के किनारे कागज का एक कारखाना है जिसके मालिक वही उद्योगपति हैं जो वालकाड गांव की रेयान फैक्टरी के मालिक हैं। कागज के इस कारखाने ने सोन नदी प्रदूषित कर दी है जिसके फलस्वरूप नदी के तट पर बसे कई गांवों के लोग पीड़ित हैं।[4] यह सब सुनकर भी वालकाड के लोगों पर कोई असर नहीं हुआ। शहडोल और सोन नदी दोनों उनसे बहुत दूर थे, इतने दूर कि इनका उनके जीवन में कोई अर्थ नहीं था। हमने तब उनसे पूछा कि क्या उन्हें रेयान फैक्टरी के मालिकों और त्रिवेंद्रम की सरकार के बीच कोई संबंध दिखता है। लोग फिर भी चुप रहे। न्याय पाने के लिए उनका जो संघर्ष चल रहा था उसमें उन्हें त्रिवेंद्रम की कोई भूमिका नहीं दिखी और न ही उन्हें रेयान फैक्टरी और इतनी दूर बैठी सरकार के बीच कोई कड़ी ही दिखी। ऐसा लगता है कि किसी भी जन आंदोलन के आगे बढ़ने या फैलने में अमूर्त चिंतन की कमी एक महत्वपूर्ण अवरोध हो सकता है। ऐसे प्रमाण हैं कि इस अवरोध का असर इतना गहरा और व्यापक साबित होगा जितना कि हम अभी तक सोच भी नहीं पाए हैं।

अब तक हुई बात से यह निष्कर्ष निकालना सही नहीं होगा कि शोषित लोगों में अमूर्त चिंतन की क्षमता विकसित ही नहीं हो सकती। सही प्रश्न तो शायद यह होगा कि इस संदर्भ में गरीबों के बीच काम करने वाले बाहरी कार्यकर्ताओं की अपनी समझ कितनी व्यापक है। ऐसे कई उदाहरण हैं जिनसे पता चलता है कि गरीब लोगों में अमूर्त चिंतन की शुरुआत हुई है।

इस क्षमता की संभावना की एक झलक तो मजदूर संगठन के उस उदाहरण से मिलती है जिसमें शोषित लोगों ने 'हमारी जात गरीबी है' का नारा दिया था। इस नारे के पीछे एक सिद्धांत उभरता दिखता है—उनके जात-पात के भेदभाव गौण हैं, परंतु वे सभी गरीबी और शोषण के सामान्य सूत्र में बंधे हैं। इस सूत्र को पहचान पाना अमूर्त चिंतन का एक छोटा सा परंतु एक ठोस कदम है। आइए, एक उदाहरण पर विचार करें। महाराष्ट्र के ठाणे जिले में आदिवासियों का एक आंदोलन चल रहा है जिसका नाम भूमि सेना है। एक बार भूमि सेना के ग्रामीण तरुण मंडलों के लगभग 100 प्रतिनिधियों की बैठक में इस बात पर विचार-विमर्श हुआ कि अपनी मजदूरी बढ़वाने के लिए बड़े किसानों के विरोध में प्रस्तावित

हड़ताल की तैयारी कैसे की जाए। एक रोचक सवाल उठा कि तरुण मंडलों के कार्यकर्ता समाज के विभिन्न तबकों—संपन्न व मध्यमवर्गीय किसान, गरीब किसान, भूमिहीन मजदूर—के बारे में क्या सोचते हैं। प्रत्येक कार्यकर्ता ने अपनी-अपनी समझ बताई कि इनमें से कौन आंदोलन का दोस्त है और कौन दुश्मन। उन्होंने अनेक अनुभव सुनाए जिनसे अलग-अलग लोगों का वर्ग चरित्र उभरा। इन सभी कहानियों का विवेचन हुआ और जो निष्कर्ष निकला वह बहुत चकित कर देने वाला था। बैठक का निष्कर्ष था कि मध्यम वर्ग का किसान उनका दोस्त नहीं हो सकता क्योंकि वह भी बड़े किसानों की तरह अपनी खेती मजदूरों से करवाता है। परंतु छोटे किसान जो अपने खेत पर स्वयं काम करते हैं और खाली समय में भूमिहीनों की तरह बाहर मजदूरी करते हैं, उन्हें आंदोलन का दोस्त मानना चाहिए क्योंकि वे भी भूमिहीनों की तरह ही शोषित हैं। कुछ लोगों ने एक नया मुद्दा जोड़ा कि छोटे किसान का शोषण तो दो बार होता है। एक बार जब वह खाली समय में खाने-पीने को कुछ नहीं होने के कारण भूमिहीनों की तरह साहूकारों से अनाज उधार लेता है—कर्ज का एक रूप जिसे 'खावटी' के नाम से जाना जाता है। दूसरी बार शोषण तब होता है जब बोनी के समय वह बीज उधार लेता है। इस समझ के आधार पर बैठक में एक नया निर्णय हुआ कि अगली हड़ताल में छोटे किसानों को भी अपना साथ देने के लिए प्रोत्साहित किया जाएगा। यह अमूर्त चिंतन की शुरुआत का एक उदाहरण है जब गरीब लोगों ने अपने जीवन के आम अनुभवों के आधार पर सिद्धांत विकसित करने की क्षमता दिखाई। अपने काम से सिद्धांत विकसित करना और उन्हें नई परिस्थितियों से जोड़ पाना वैज्ञानिक पद्धति का एक जरूरी आयाम है। इस आयाम के बिना वैज्ञानिक पद्धति को फैलाने की प्रक्रिया अधूरी प्रक्रिया होगी।

जन आंदोलन की ओर

यदि हम शैक्षणिक प्रक्रिया में आने वाले इन पांच अवरोधों को दूर कर सकें तो एक सशक्त तथा व्यापक जन आंदोलन खड़ा हो जाने की संभावना बढ़ जाएगी। यदि ऐसा हो पाया तो हमें विश्वास है कि शोषित वर्ग के लोग देश की नीतियों को वैज्ञानिक पद्धति की कसौटी पर परख सकेंगे और तब योजनाएं बनाने की प्रक्रियाओं तथा विकास कार्यक्रमों पर अभिजात वर्ग के प्रभुत्व को चुनौती भी दे सकेंगे। तभी योजना आयोग के तहत विज्ञान और तकनालॉजी की शिक्षा के विषय पर हुई गोष्ठी, मलेरिया निवारक जैसी महत्वपूर्ण स्वास्थ्य समस्याओं पर चल रहे गैर-वैज्ञानिक चिंतन, हमारी स्कूली पाठ्यपुस्तकों के द्वारा भारत की गरीबी और जनसंख्या के संबंध में फैलाए जा रहे भ्रम और स्कूलों पर स्लाइड-टेप सीरीज वाली निरर्थक गतिविधियों को थोपने की चेष्टा जैसी अनेक राष्ट्रव्यापी निहायत गैर-तार्किक प्रक्रियाओं को रोक देना संभव हो सकेगा और इनकी जगह पर वैज्ञानिक आधार पर बनाए गए सार्थक विकास कार्यक्रमों की शुरुआत हो सकेगी। तभी यह संभव होगा कि सर्वोदय सम्मेलन में

व्यक्ति पूजा और चाटुकारिता की जो प्रवृत्ति दिखी उसे देश की आम जनता चुपचाप सहन करना बंद कर देगी। सभी नेतागणों से उनके हर कथन, काम और निर्णयों के वैज्ञानिक आधारों की मांग की जाएगी। यदि अमूर्त चिंतन भी आम लोगों की जिंदगी का अंग बन सका तो वालकाड गांव के लोग अपने और शहडोल जिले के लोगों के शोषण के बीच की कड़ी देख पाएंगे और तभी वालकाड की रेयान फैक्टरी के मालिकों और त्रिवेंद्रम तथा नई दिल्ली की सरकारों के संबंध साफ दिखने लगेंगे। ऐसे जनसंगठन जो वैज्ञानिक पद्धति पर विकसित होंगे उनसे उम्मीद है कि उनके संघर्ष बेहतर मजदूरी और जमीन की मांगों तक ही सीमित नहीं हो जाएंगे, वरन उनके संघर्षों का उद्देश्य ऐसे समाज की रचना करना होगा जो आज की तुलना में विषमता, शोषण, नौकरशाही की जकड़न और सामाजिक तथा राजनीतिक पिछड़ेपन के अन्य पहलुओं से मुक्त होंगे। जब यह सब हो पाएगा तभी उन आंदोलनों की वर्तमान सीमाओं को तोड़कर उनका नया स्वरूप उभरेगा।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. लेखक का मतलब यहां पर विज्ञान के उन अनुसंधानों से है जिनका उद्देश्य प्राकृतिक विज्ञान के किसी विषय को गहराई से समझने के लिए उसके सिद्धांतों की खोज करना और ज्ञान बढ़ाना होता है. परंतु विज्ञान में एक और श्रेणी के अनुसंधान किए जाते हैं जिनका उद्देश्य यह खोजना होता है कि विज्ञान के सिद्धांतों और ज्ञान का उपयोग समाज की जरूरतों के लिए कैसे किया जाए. जैसे ही इस दूसरी श्रेणी के अनुसंधानों का सवाल उठता है वैसे ही वैज्ञानिक अध्ययन की दिशा और वस्तुनिष्ठता पर निहित स्वार्थों तथा वर्ग पृष्ठभूमि का असर उसी तरह से झलकने लगता है जैसा कि हम समाज विज्ञान के क्षेत्र में देख चुके हैं. वैसे तो अब यह भी सवाल उठ रहा है कि प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में भी सैद्धांतिक शोध और ज्ञान सृजन की प्रक्रिया किस हद तक शोधकर्ता की वर्ग पृष्ठभूमि से स्वतंत्र है और निष्पक्ष कही जा सकती है.
2. इस आलेख के प्रकाशन के बाद के अनुभव बताते हैं कि सामाजिक प्रश्नों के संदर्भ में वैज्ञानिक पद्धति की सीमा को विधिवत समझने की जरूरत है. शोध और ज्ञान सृजन की अन्य पद्धतियों—भावात्मक इतिहास-बोध आधारित आदि—की भूमिका का महत्व समझना जरूरी है और इसके साथ वैज्ञानिक पद्धति का संतुलन स्थापित करना होगा.
3. जनशिक्षण के ये सब अनुभव स्पष्ट संकेत दे रहे हैं कि समाज विज्ञान के क्षेत्र में वैज्ञानिक पद्धति यथेष्ट नहीं है. शोध, ज्ञान, सृजन तथा चेतना जागरण हेतु ज्ञानमीमांसा की अन्य पद्धतियों का महत्व बढ़ते क्रम में उभर रहा है. जब यह आलेख लिखा गया था तब किशोर भारती समूह में यह संतुलित समझ विकसित नहीं हो पाई थी, हालांकि समझ में बदलाव हेतु समूह के अंदर ही संघर्ष शुरू हो चुका था.
4. शहडोल जिले के अनूपपुर प्रखंड में विदूषक कारखाने के नाम से सक्रिय इंजीनियरों के एक दल ने इस समस्या पर विस्तृत जानकारी इकट्ठी की है और प्रसारित भी की है.

17. प्रारंभिक शिक्षा का लोकव्यापीकरण

वैकल्पिक नीति के चंद आयाम

खंड पांच में 'शिक्षा नीति का संकट' शीर्षक वाले आलेख में राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986, 1992) का सामाजिक-राजनीतिक संदर्भों में विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है (देखिए, खंड पांच अध्याय 13)। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 45 में निर्देशित सभी बच्चों को आठ साल की प्रारंभिक शिक्षा उपलब्ध कराने के लक्ष्य में भारत की शिक्षा नीति पूर्णतः असफल हुई है। इस आलेख में अनेक तर्कों और प्रमाणों सहित यह भी स्थापित करने की कोशिश की गई है कि प्रारंभिक शिक्षा का लोकव्यापीकरण करने में उपरोक्त असफलता प्रमुखतः नीति के स्तर पर है, न कि नीति के क्रियान्वयन के स्तर पर। वर्तमान शिक्षा नीति के अंतर्द्वंद्वों, संदर्भहीनता एवं बाल-विरोधी चरित्र के चलते यह कहना कोई मायने नहीं रखता कि यदि इस विकृत नीति का सही क्रियान्वयन किया होता तो लोकव्यापीकरण करने में सफलता मिल जाती। नीति और क्रियान्वयन के संबंध में इस देशव्यापी भ्रम को तोड़ने के लिए खंड पांच में दो और अध्याय जोड़े गए हैं—अध्याय 14 में 'नारी शिक्षा हेतु नीति—लिंग समता का भ्रम' वाले आलेख में नीति के आंतरिक विरोधाभासों और अध्याय 15 में बाल अधिकारों के संदर्भ में शिक्षा नीति में व्याप्त विकृतियों और खामियों को उजागर किया गया है।

उपरोक्त पृष्ठभूमि में आवश्यक हो गया है कि हम वर्तमान शिक्षा नीति का एक सार्थक एवं कारगर विकल्प तलाशें। वैकल्पिक नीति का खाका उकेरने की वैज्ञानिक पद्धति क्या होगी? सैद्धांतिक स्तर पर स्पष्ट है कि हमें वर्तमान सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक हालात के संदर्भ में नीति को ढालना होगा। इसे करने के कई तरीके हो सकते हैं लेकिन वर्तमान अध्याय में हम जमीनी अनुभवों के जरिए शिक्षा संबंधी सामाजिक यथार्थ को पहचानने की कोशिश करेंगे। हम यहां अनुभवजनित चंद ऐसे आयाम प्रस्तुत कर रहे हैं जो नीति की एक वैकल्पिक तसवीर बनाने में सहायक हो सकते हैं। अध्याय 17(क) में हमने हैदराबाद महानगर में बाल मजदूरी के उन्मूलन हेतु चलाए जा रहे एक शैक्षिक कार्यक्रम से सीखे गए सबक पेश किए हैं। ये सबक गरीब मां-बाप और बच्चों के बारे में व्याप्त कई आधारहीन धारणाओं को झकझोरते हैं। अध्याय 17 (ख) में लैंगिक उत्पीड़न के संदर्भ में चलाए जा रहे महिला शिक्षण कार्यक्रमों से महिला सशक्तीकरण के बारे में प्राप्त सीख को दर्ज किया है। आगे चलकर महिला सशक्तीकरण किस प्रकार स्कूली शिक्षा के हालात बदलने में कारगर सामाजिक हस्तक्षेप का आधार बन सकता है, यह स्थापित किया गया है। अध्याय 17 (ग) में जन आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में स्कूली शिक्षा के चंद सरोकारों को पहचानने का प्रयास है। उम्मीद की गई है कि इन सरोकारों से

प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण की चुनौती को सरकारी एवं केंद्रीकृत प्रक्रिया के बजाए एक सामाजिक आंदोलन के रूप में देखने का आधार मिल सकेगा। यहां यह स्पष्ट करना जरूरी हो जाता है कि प्रारंभिक शिक्षा को सामाजिक आंदोलन से जोड़ने का अर्थ यह कतई नहीं है कि राज्य अपनी संवैधानिक जवाबदेही से मुक्त हो जाएगा। नियंत्रण चाहे समुदाय का हो, लेकिन सरकार को हर बच्चे के लिए एक पूर्वनिश्चित एवं पर्याप्त राशि समुदाय को देनी ही होगी।

(क) हैदराबाद बाल श्रमिक उन्मूलन परियोजना के नीतिगत निहितार्थ

लोकशाला प्रक्रिया[1] का सोच जमीनी अनुभवों से उभरा है। उदाहरणस्वरूप हम हैदराबाद शहर की झुग्गी-झोंपड़ियों में चल रहे बाल श्रमिक उन्मूलन कार्यक्रम की मिसाल को लें। एक स्थानीय स्वयंसेवी समूह की पहल पर शुरू किया गया यह कार्यक्रम भारत सरकार के श्रम मंत्रालय द्वारा समर्थित है और इसके तहत सामुदायिक पहलकदमी एवं प्रबंध के आधार पर झुग्गी-झोपड़ियों में 100 से अधिक 'बाल ज्योति' नामक प्राथमिक शालाएं हाल ही में खोली गई हैं। इन शालाओं के खुलते ही विभिन्न प्रकार के रोजगारों में लगे हुए हजारों श्रमिक बच्चे (लड़के व लड़कियां दोनों) अपनी कमाई के नियमित स्रोत छोड़कर विद्यार्थी बन गए। यह इसलिए संभव हुआ चूंकि इन श्रमिक बस्तियों में पहली बार ऐसे स्कूल खुले हैं जहां रोज पढ़ाई होती है और जहां शिक्षिकाएं गरीब बच्चों को सम्मान और प्यार के साथ पढ़ाती हैं। पिछले वर्ष मैंने इस परियोजना के यूनिसेफ द्वारा आयोजित मूल्यांकन में हिस्सा लिया और स्कूलों का प्रबंध करने वाली महिला समितियों के साथ संवाद किया।

हम यहां यूनिसेफ के लिए तैयार की गई मूल्यांकन रपट का एक अंश प्रस्तुत कर रहे हैं जिसमें उन निष्कर्षों को दर्ज किया गया है जो वर्तमान शिक्षा नीति में निहित मान्यताओं पर प्रश्न खड़ा करते हैं और लोकशाला की मान्यताओं को अनुभवजनित आधार देते हैं।

1. इस परियोजना ने यह प्रदर्शित किया है कि शहरी मलिन बस्तियों में रहने वाले गरीब तबके के मां-बाप अपने बच्चों को पूर्णकालिक औपचारिक स्कूलों में भेजने के लिए उत्सुक हैं, बशर्ते कि ये स्कूल भली भांति चलें और बच्चे वहां सही ढंग से पढ़ना-लिखना सीखें।

2. शहरी मलिन बस्तियों में रहने वाले दिहाड़ी मजदूरों को अभियानों के जरिए उनके बच्चों के लिए शिक्षा का महत्व क्या है, यह समझाने की आवश्यकता नहीं है। इसके बदले जरूरत इस बात की है कि आज तक उपेक्षित इन बस्तियों में सरकारी स्कूली तंत्र के जरिए

मूल स्रोत : यूनिसेफ के लिए तैयार की गई मूल्यांकन रपट का एक अंश, 3 दिसंबर 1997.

अच्छी गुणवत्ता वाली शिक्षा उपलब्ध की जाए।

3. बातचीत के दौरान बस्ती की महिलाओं ने कई बार स्पष्ट किया कि जब उन्होंने अपने बच्चों को बाल श्रमिक परिस्थितियों (उदाहरणतः भवन निर्माण, हाथ ठेला, रेहड़ी, घरेलू नौकरी आदि) से निकाला और 'बाल ज्योति' स्कूलों में भेजा तो उन्हें अच्छी तरह मालूम था कि इससे उनकी पारिवारिक आमदनी घटेगी। वे यह भी जानती थीं कि भविष्य में बेहतर काम मिलने की कोई गारंटी नहीं होगी। चर्चा के दौरान उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि वे सचेत रूप से जानती हैं कि शिक्षित युवा वर्ग में बेराजगारी व्याप्त है। तो फिर इन गरीब और निरक्षर महिलाओं द्वारा अपने बच्चों को पूर्णकालिक स्कूलों में (औपचारिकेतर अथवा साक्षरता कक्षाओं में नहीं) भेजने के पीछे मुख्य प्रेरणा क्या थी? उनके अनुसार, वे चाहती थीं कि उनके बच्चों को 'दुनिया का ज्ञान' उपलब्ध हो (राष्ट्रीय साक्षरता मिशन छाप मात्र साक्षरता ही नहीं) ताकि बड़े होने पर वे अपने जीवन की भावी दिशा के बारे में विवेकपूर्ण निर्णय ले सकें।

4. इन निरक्षर महिलाओं की बाल श्रम में जुटे हुए उनके बच्चों को 'दुनिया का ज्ञान' उपलब्ध कराने की इस इच्छा को महज अर्थवाद के समकक्ष मान लेना सही नहीं होगा। हालांकि उनकी इस इच्छा और बेहतर रोजगार या आकर्षक आमदनी के बीच की किसी कड़ी की संभावना को पूरी तरह से नकारा भी नहीं जा सकता। बेशक, उन्होंने ऐसे पाठ्यक्रम को बेहतर माना जिसके जरिए कौशलों का निर्माण हो और 'काम की दुनिया' के प्रति झुकाव बन सके। लेकिन वर्तमान स्कूली पाठ्यक्रम में ऐसी दिशा के अभाव के बावजूद उन्हें, भ्रमित करने वाले और दोयम दर्जे के औपचारिकेतर केंद्रों और साक्षरता कक्षाओं की अपेक्षा ये औपचारिक स्कूल कहीं अधिक बेहतर लगे।

5. इस परियोजना से स्पष्ट प्रमाण मिला है कि सुचारु रूप से चलने वाले औपचारिक स्कूलों और कारगर शिक्षण की जगह बच्चों को दी जाने वाली मासिक शिक्षावृत्ति और मध्याह्न भोजन नहीं ले सकते।[2] प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण के लिए इस बात के गंभीर नीतिगत निहितार्थ हैं चूंकि आठवीं पंचवर्षीय योजना के अंतिम चरण और नौवीं पंचवर्षीय योजना को बदला गया और प्रारंभिक शिक्षा के मद में से ही बड़ी मात्रा में इन आकर्षणों को उपलब्ध कराने के लिए संसाधन पुनर्आबंटित किए गए।

यह पुनर्आबंटन इस अप्रमाणित मान्यता पर आधारित है कि गरीब बच्चे स्कूली शिक्षा को तभी स्वीकारेंगे जब उन्हें ये आकर्षण उपलब्ध कराए जाएंगे, चाहे शिक्षा की गुणवत्ता कैसी भी हो। हैदराबाद परियोजना नीति-निर्धारकों को संकेत दे रही है कि ऐसे आकर्षणों के लिए संसाधन आबंटित करने के नाम पर शिक्षा की पहुंच एवं गुणवत्ता के मुद्दों को नजरअंदाज न किया जाए। यदि नीति निर्धारकों की दृष्टि में इन आकर्षणों की कोई भूमिका है भी तो उन्हें समाज कल्याण या अन्य यथोचित बजट मदों में से अतिरिक्त संसाधन निकालने चाहिए न कि प्रारंभिक शिक्षा की पहुंच और गुणवत्ता को बेहतर बनाने के लिए पहले से ही अपर्याप्त संसाधनों को और भी घटाया जाए।

6. इस परियोजना ने यह भी दिखाया है कि स्कूलों पर सामुदायिक नियंत्रण किस प्रकार शिक्षा के प्रति बच्चों के रुझान पर महत्वपूर्ण असर डालता है। सामुदायिक नियंत्रण की इस अवधारणा को अनेक विदेशी वित्त-पोषित सरकारी कार्यक्रमों (उदा. डी.पी.ई.पी.) में 'सामुदायिक भागीदारी' के नाम पर की जाने वाली नारेबाजी से अलग करके देखना होगा। इन सरकारी कार्यक्रमों में सत्ता के हस्तांतरण का आशय है कि अतिकेंद्रीकृत नियंत्रण के तौर-तरीकों और दूरस्थ तंत्र को गांवों और बस्तियों के स्तर तक प्रभावकारी बना दिया जाए। विश्व बैंक के जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम की तुलना में इस परियोजना में जिस प्रकार स्कूलों पर सामुदायिक नियंत्रण की अवधारणा को विकसित किया गया है उससे यह स्कूलों की 'सामुदायिक मिल्कियत' की अवधारणा के काफी नजदीक आ गई है। इस मायने में इसे सरकारी अथवा निजी मिल्कियत की अवधारणाओं से अलग करके देखने की जरूरत है। स्कूल प्रणाली की संरचना, वित्त पोषण और प्रबंधन के बारे में इसके बुनियादी नीतिगत निहितार्थ हैं चूंकि इस अवधारणा के तहत संविधान के अनुच्छेद 45 में अपेक्षित राज्य की जवाबदेही और प्रारंभिक शिक्षा को बुनियादी हक का दर्जा देने वाले सर्वोच्च न्यायालय के उन्नीकृष्णन निर्णय (1993)[3] को पूरी तरह बरकरार रखना संभव हो जाता है।

(ख) महिला सशक्तीकरण और स्कूली शिक्षा

विगत दस वर्षों में हुए कई अध्ययनों एवं संयुक्त राष्ट्र द्वारा प्रसारित मानव विकास सूचकांक की रपटों क जरिए यह स्थापित हो गया है कि भारत जैसे देशों में जब तक बालिकाओं को स्कूली शिक्षा उपलब्ध नहीं कराई जाएगी तब तक समतामूलक सामाजिक विकास संभव नहीं होगा। अगली सदी के मोड़ पर भारत की दो-तिहाई लड़कियां स्कूली शिक्षा से वंचित हैं। एक-तिहाई लड़कियां जो स्कूल भी जाती हैं वे स्कूल के पूरे माहौल एवं पाठ्यक्रम में व्याप्त पितृसत्तात्मक धारणाओं से पीड़ित रहती हैं और उनका सर्वांगीण विकास नहीं हो पाता है। तय है कि स्कूल जाने वाली हर लड़की स्कूली शिक्षा के नारी-विरोधी स्वरूप से या तो हमेशा के लिए दब जाती है या फिर उसके साथ निरंतर संघर्ष करती रहती है। महिलाओं के सामाजिक दर्जे और स्कूली शिक्षा के बीच क्या संबंध है, इसे समझने से हम सदा कतराते रहे हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) ने इस संदर्भ में आंतरिक विरोधाभासों से विकृत एक सोच पेश किया है (देखिए, खंड पांच, अध्याय 14)। इसी क्रम में विश्व बैंक द्वारा अभिप्रेरित स्कूली शिक्षा के कार्यक्रमों (डी. पी.ई.पी.) में समाज का लिंग परिप्रेक्ष्य बदले बगैर बालिकाओं को स्कूल में दर्ज करने के कार्यक्रम यंत्रवत चलाए जा रहे हैं।

राष्ट्रीय साक्षरता मिशन में एक ओर साक्षरता को शिक्षा का पर्याय बनाने का भ्रम फैलाया गया और दूसरी ओर महिला साक्षरता के नाम पर जो कार्यक्रम चलाए गए, उनमें से अधिकांश में न तो महिला सशक्तीकरण की कोई प्रक्रिया थी और न ही नारीवादी चिंतन की झलक। जिन कार्यक्रमों में महिला सशक्तीकरण के सफल अनुभव हुए (उदाहरणार्थ, महिला समाख्या के शुरुआती दौर में), उन्हें भी स्कूली शिक्षा से जोड़ने

की कोशिश नहीं की गई। जहां बालिकाओं को स्कूल में दर्ज करने के अभियान चलाए गए, वहां महिला सशक्तीकरण की भूमिका ही नहीं समझी गई। इन सफल-असफल अनुभवों के आधार पर महिला सशक्तीकरण और स्कूली शिक्षा के अंतर्संबंधों पर एक आलेख यहां प्रस्तुत है। यहां कई ऐसी शिक्षाशास्त्रीय अवधारणाओं का विवरण दिया गया है जिनके सहारे देश की सभी लड़कियों को शिक्षा संबंधी उनका मानवीय हक दिलाने वाली वैकल्पिक नीति का आधार खड़ा किया जा सकेगा।

सन् 1988 में भारत सरकार ने राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) के 'महिलाओं की समानता हेतु शिक्षा' वाले अंश को ठोस रूप देने के लिए महिला समाख्या कार्यक्रम की शुरुआत की। महिला समाख्या के बुनियादी तत्वों को पहले से चल रहे महिला विकास कार्यक्रम (राजस्थान) के अनुभवों के आधार पर विकसित किया गया था। राष्ट्रीय साक्षरता मिशन में जिस प्रकार एक संकीर्ण नजरिए से साक्षरता को महत्व दिया गया था, उससे अलग हटकर यह कार्यक्रम था। महिला समाख्या के महिला सशक्तीकरण कार्यक्रम में यह अपेक्षा की गई थी कि महिलाएं 'स्वयं अपनी शिक्षा हेतु नियोजन करेंगी और निगरानी भी रखेंगी ताकि ज्ञान का एक नया भंडार उन्हें उपलब्ध हो सके।' इस कार्यक्रम ने पितृसत्तात्मक ढांचों, मूल्यों तथा तयशुदा भूमिकाओं पर सवाल खड़े किए और 'लैंगिक संबंधों की असमानता के' ईश्वरीय देन होने के विचार को नकारा। उसमें यह भी जोर दिया गया कि '(पुरुष के) अधीनस्थ रहने के विचार की वैधानिकता को सामूहिक स्तर पर अस्वीकार कर दिया जाए।'[4] हाल ही के एक मूल्यांकन से पता चला है कि :

> (महिला समाख्या) कार्यक्रम ने महिलाओं को इस हेतु सक्षम बनाया है कि वे लैंगिक दमन के निजी अनुभवों की व्याख्या कर सकें और उन्हें समाज में व्याप्त लैंगिक असमानता की प्रणालीगत बड़ी ताकतों के साथ जोड़ सकें। महिलाओं की आवश्यकता थी कि उन्हें एक-दूसरे के निकट लाने के लिए एक साझा मंच हो जहां वे अपने निजी अनुभवों को आपस में बांट सकें। इससे सामूहिक ज्ञान उभर सकेगा जो सभी सहभागियों को बुनियादी स्तर पर सामाजिक समीकरणों को बदलने हेतु ताकत देगा। इससे यह भी संभव हो पाएगा कि महिलाएं परिवार व समाज में अपने दोयम दर्जे एवं उसको आत्मसात करने की बुनियाद को झकझोर सकें।

इस मायने में यह अनुभव रहा है कि महिला सशक्तीकरण के जरिए लैंगिक समीकरण बदले हैं। समीकरण के इस बदलाव से महिलाओं की आत्मछवि, उनके सामाजिक दर्जे एवं परिवार के अंदर और बाहर समाज में निर्णय-प्रक्रिया में उनकी भूमिका में परिवर्तन आया है।

मूल स्रोत : 'लोकशाला कार्यक्रम—जमीनी प्रयोगशालाओं में महिला सशक्तीकरण हेतु प्रस्ताव', भारत जनविज्ञान जत्था, जनवरी 1997, से उद्धरित एवं अनूदित अंश.

महिला समाख्या के प्रारंभिक चरणों में कर्नाटक, गुजरात और उत्तर प्रदेश में तथा बाद में बिहार और आंध्र प्रदेश में समृद्ध तथा विविध अनुभवों से लोकशाला प्रक्रिया ने प्रेरणा ली है। इसके अलावा इस कार्यक्रम ने मध्य प्रदेश के दक्षिण-पूर्व अंचल में चल रहे 'छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा' नामक मजदूर-किसान आंदोलन के 'संघर्ष और निर्माण'[5] के दर्शन में निहित महिला सशक्तीकरण की अवधारणा से भी प्रेरणा ली है। यहां विशेषकर महिला खदान मजदूरों द्वारा शराब माफिया के खिलाफ चलाए जा रहे गौरवपूर्ण संघर्ष का जिक्र करना जरूरी लगता है। इसी तरह लौह अयस्क खदानों में दी जा रही कम दिहाड़ी एवं अन्य विषम कार्यपरिस्थितियों को सुधारने तथा खदानों के अन्यायपूर्ण मशीनीकरण को रुकवाने के उद्देश्य से चलाए जा रहे संघर्ष का संदर्भ उपयोगी होगा। इस संघर्ष में महिलाओं के पुरुषों के साथ बराबरी के स्तर पर भागीदार होने के मायने को भी समझना होगा। इसी क्रम में महिला मजदूरों द्वारा छत्तीसगढ़ में मजदूरों के अस्पताल और स्कूलों के निर्माण में रचनात्मक योगदान देने की प्रक्रिया को भी जोड़ने की जरूरत होगी।

इस पृष्ठभूमि में महिला सशक्तीकरण के निम्नांकित सारतत्व जाहिरा तौर पर पहचाने जा सकते हैं :

- महिलाओं द्वारा परस्पर एकजुटता की भावना के साथ सामूहिक चिंतन एवं कर्म;
- सत्ता, मूल्यों एवं पूर्व-निर्धारित भूमिकाओं के पितृसत्तात्मक ढांचों को महिलाओं द्वारा चुनौती;
- महिलाओं द्वारा उनकी लैंगिक अधीनस्थता, सामाजिक शोषण और सत्ताहीनता के ऐतिहासिक आधार को समीक्षात्मक नजरिए से देख पाना;
- राजनीतिक सत्ता एवं तंत्र से संबंधित मुद्दों को गहराई से समझने के लिए महिलाओं द्वारा जांच-पड़ताल;
- महिलाओं द्वारा आज तक उनकी पहुंच से बाहर वाले ज्ञान को प्राप्त कर पाना एवं उनके द्वारा ज्ञान के एक नए भंडार का सृजन करना;
- महिलाओं द्वारा सकारात्मक आत्मछवि एवं आत्मविश्वास प्राप्त करना;
- अपने परिवार और बाहर के व्यापक समाज में सामाजिक संबंधों को पुनर्परिभाषित करना तथा उन्हें नए सिरे से निरूपित करना;
- महिलाओं द्वारा उनके प्रजनन स्वास्थ्य तथा यौनिकता संबंधी मामलों पर नियंत्रण स्थापित करना;
- महिलाओं में दबी हुई संभावनाओं को उजागर करना;
- महिलाओं द्वारा सामाजिक पुनर्निर्माण में पुरुषों के साथ बराबरी के स्तर पर भागीदारी करना एवं प्राकृतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक संसाधनों को परस्पर बांटना और अपने विकास हेतु स्वयं रास्ता तय करने की निर्णय-प्रक्रिया में भागीदार होना।

महिला सशक्तीकरण और शैक्षिक हस्तक्षेप

अतः यह समझना जरूरी है कि स्कूल प्रणाली में हस्तक्षेप हेतु समुदाय के सशक्तीकरण की बात अर्थहीन होगी यदि उसके साथ एक कारगर तथा सोची-समझी महिला भागीदारी की प्रक्रिया नहीं चलाई जाती।[6] दरअसल, उपरोक्त सारतत्वों वाली महिला सशक्तीकरण प्रक्रिया को चलाए बगैर पूरे समुदाय का सशक्तीकरण संभव ही नहीं है। यह भी अपेक्षा है कि कई मायनों में महिला सशक्तीकरण स्कूल प्रणाली में हस्तक्षेप को न केवल गति देगा और बरकरार रखेगा, बल्कि पाठ्यक्रम तथा सीखने की प्रक्रिया की गुणवत्ता को बदलने में भी सहायक होगा, खास तौर पर लिंग-संबंधी मुद्दों के संदर्भ में। 'प्रत्यक्ष' पाठ्यक्रम को प्रभावित करने के साथ-साथ समाज में सशक्त महिला समूहों के सक्रिय रहने से 'प्रच्छन्न' पाठ्यक्रम की लैंगिक संवेदनशीलता को आगे बढ़ाने में भी मदद मिलेगी।[7]

प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण के उद्देश्य के संदर्भ में यह उल्लेख करना आवश्यक लगता है कि विश्व बैंक द्वारा अभिप्रेरित जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डी.पी.ई.पी.) ने अनुचित ढंग से महिला सशक्तीकरण को, बालिकाओं को स्कूल में दर्ज करने का पर्याय बनाने की कोशिश की है। हालांकि इसमें संदेह नहीं है कि महिला सशक्तीकरण के फलस्वरूप स्कूली शिक्षा में बालिकाओं की भागीदारी बढ़ेगी जैसा कि विकास के अन्य क्षेत्रों में भी होगा। लेकिन यदि समाज में महिलाओं की दोयम दर्जे की स्थिति बरकरार रहती है तो शिक्षा में बालिकाओं की भागीदारी बढ़ने की उम्मीद भी कैसे की जा सकती है? मध्य प्रदेश और अन्य कुछ राज्यों के डी.पी.ई.पी. में यही भ्रम व्याप्त है।[8] महिला सशक्तीकरण को एक ऐसी गैर-स्कूली पहलकदमी के रूप में स्वीकारने की जरूरत है जिसका स्कूली शिक्षा के साथ एक सहयोगी रिश्ता है, विशेषकर बालिकाओं की शिक्षा में भागीदारी एवं अन्य लैंगिक मुद्दों के संबंध में। लेकिन इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि महिला सशक्तीकरण के उद्देश्यों को स्कूली शिक्षा के अधीनस्थ किया जा सकता है।

अपेक्षाएं

महिला सशक्तीकरण प्रक्रिया से यह अपेक्षित है कि स्कूली शिक्षा और विकास के अन्य क्षेत्रों में नाना प्रकार के परिवर्तन संभव हो जाएंगे। उदाहरणार्थ, महिला समूहों के जरिए वर्तमान स्कूल प्रणाली को सुधारने या शिक्षा के क्षेत्र में नई पहलकदमियों को आयोजित करने के काम में जुटे हुए सामाजिक संगठनों को नई ताकत मिलेगी। इसके फलस्वरूप ग्राम शिक्षा समितियों तथा पंचायती तंत्र पर भी यह दबाव बनेगा कि संविधान के अनुच्छेद 45 के तहत सभी दायित्वों पर पूरा ध्यान दिया जाए। किसी भी क्षेत्र के विभिन्न समुदायों में लैंगिक समीकरणों के बदलने के कारण प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण हेतु चल रहे सामाजिक आंदोलनों को न केवल सशक्त किया जा सकेगा बल्कि उनकी गुणवत्ता को समृद्ध

करना भी संभव होगा। समाज में महिलाओं के बदलते हुए दर्जे के कारण शिक्षा में बालिकाओं की भागीदारी के रास्ते में खड़े हुए लैंगिक अवरोधों को तोड़ने में मदद मिलेगी। इन बदले हुए हालात में शिक्षकों के मानस एवं जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थानों (डाइट) द्वारा संचालित अध्यापक शिक्षा कार्यक्रमों पर ऐसा प्रभाव पड़ने की संभावना है कि स्कूल के पाठ्यक्रमों तथा शिक्षण पद्धति को लिंग परिप्रेक्ष्य में ढाला जा सके। यह भी अपेक्षा है कि सभी विकास कार्यक्रमों में महिलाओं की भागीदारी में उल्लेखनीय बढ़ोत्तरी होगी, विशेषकर प्राकृतिक संसाधनों के समतामूलक वितरण के संबंध में। यदि किसी कार्यक्षेत्र में महिला सशक्तीकरण की प्रक्रिया को कम से कम तीन-चार वर्षों तक समर्थन दिया जाता है तो निश्चित है कि उस क्षेत्र के हर गांव और बस्ती में महिला संगठन भी खड़ा हो जाएगा।

(ग) जन आंदोलन और शैक्षिक परिवर्तन के सरोकार

जब शैक्षिक बदलाव के सवाल को किसी भी सामाजिक आंदोलन द्वारा उठाया जाता है तब ऐसे सरोकारों का उभरना निश्चित है जो अकसर सरकारी नौकरशाही और विशुद्ध अकादमिक दायरों में दब जाते हैं। इसकी एक मिसाल स्वरूप 'भारत जनविज्ञान जत्था' द्वारा प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण हेतु संचालित 'लोकशाला प्रक्रिया' के एक दस्तावेज के कुछ अंश यहां प्रस्तुत हैं। मार्च 1995 में जनविज्ञान के मुद्दों पर सक्रिय इस संगठन ने प्रारंभिक शिक्षा के सवाल पर काम शुरू करने का निर्णय लिया और इस संदर्भ में राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986, 1992) का विश्लेषण भी किया। संगठन के कार्यकर्ताओं ने शिक्षा संबंधी अपने जमीनी अनुभवों का देश भर में चल रहे अन्य नवाचारी शैक्षिक कार्यक्रमों के अनुभवों के साथ वैचारिक नाता जोड़ा। इस प्रक्रिया में दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग के मौलाना आजाद प्रारंभिक एवं सामाजिक शिक्षा केंद्र ने सक्रिय अकादमिक योगदान दिया। जमीन से जुड़ हुए कार्यकर्ताओं और विश्वविद्यालयीन बुद्धिजीवियों की इस संयुक्त प्रक्रिया से उपजे तीन सरोकारों को यहां पेश किया जा रहा है, जिनसे लोकव्यापीकरण की एक वैकल्पिक तसवीर बनाने में मदद मिली है।

भारत जनविज्ञान जत्था ने जिस समझ के तहत स्कूली शिक्षा को अपना एक प्रमुख कार्यक्षेत्र बनाने का निर्णय लिया, उसकी पृष्ठभूमि में जो तीन प्रमुख सरोकार रहे हैं, उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

1. स्कूली शिक्षा हमारे करोड़ों बच्चों के मानस को एक पदक्रमग्रस्त, दब्बू और समाज से कटे हुए सांचे में ढाल देती है। इस शैक्षिक माहौल में जिज्ञासु प्रवृत्ति, असहमति

मूल स्रोत : 'लोकशाला कार्यक्रम—जमीनी प्रयोगशालाओं में महिला सशक्तीकरण हेतु प्रस्ताव', भारत जनविज्ञान जत्था, जनवरी 1997 से उद्धरित एवं अनूदित.

प्रकट करने का साहस एवं नई राह खोजने की चाह अथवा सृजनशीलता जैसे गुणों को आम तौर पर प्रोत्साहित करने के बजाए दबा दिया जाता है। ये हालात जितना स्कूल प्रणाली को दरशाते हैं उतना ही हमारे अपने परिवारों एवं समुदायों को भी। दरअसल, किसी वयस्क और बच्चे के बीच होने वाली अंतःक्रिया एवं बाल विकास के बारे में वयस्क दृष्टिकोण का सारा मामला ऐसा है कि उसके चलते संभवतः बालक-बालिकाओं को समाज की सर्वाधिक उत्पीड़ित श्रेणी माना जा सकता है। किस प्रकार बच्चों का यह व्यवस्थित दमन पूरे राष्ट्रीय जीवन को प्रभावित करता है एवं सामाजिक और आर्थिक विकास की संभावनाओं को नष्ट करता है, यह एक ऐसा मुद्दा है जो अभी तक राष्ट्रीय संवाद का केंद्र बिंदु नहीं बन पाया है (इस संदर्भ में हम केवल बाल मजदूरों और समाज के गरीब तबकों के बच्चों की बात नहीं कर रहे हैं, बल्कि मध्यम वर्ग एवं अभिजात तबके के बच्चों की भी बात कर रहे हैं)। इस हालात को बदले बगैर हम बदलाव की अपेक्षा कैसे कर सकते हैं, चाहे हम विकास के किसी भी पहलू की बात क्यों न कर रहे हों। अतः देश की स्कूल प्रणाली को जन आंदोलन के हिस्से के रूप में देखने की जरूरत है। जन हस्तक्षेप के जरिए बदलाव का प्रयास स्कूलों और आसपास के समुदायों में एक ऐसा शैक्षिक माहौल खड़ा कर पाएगा जिसमें हर बच्चे में निहित संपूर्ण संभावनाएं उजागर हो सकेंगी।

2. प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण का उद्देश्य तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक कि स्कूली शिक्षा के सामाजिक और शिक्षाशास्त्रीय चरित्र को बदलने के साथ-साथ सामाजिक-आर्थिक कारकों को प्रभावित न किया जाए। इसके मायने हैं कि इस हेतु उठाया गया काम केवल स्कूली शिक्षा के दायरे में सिमटा नहीं रहेगा लेकिन उसे निश्चित ही बहुआयामी होना पड़ेगा। हर स्थानीय स्वैच्छिक समूह अथवा संगठन को स्वयं यह पता करना होगा कि किस प्रकार शैक्षिक कार्यक्षेत्र के प्रयास को अन्य कार्यक्षेत्रों तथा सामाजिक न्याय और विकास के मुद्दों से जोड़ा जाए। जो विशिष्ट रास्ता या रणनीति अंततः चुनी जाएगी वह कई कारकों पर निर्भर करेगी। इन कारकों में स्थानीय सामाजिक संदर्भ एवं शैक्षिक कार्यक्षेत्र में पहलकदमी करने वाले स्थानीय समूहों का समाज से जुड़ने का इतिहास भी शामिल है। इस संदर्भ में 'जत्थे' द्वारा विकसित भू-सांस्कृतिक विविधता की दृष्टि का महत्व बढ़ जाता है। यह विविधता किस प्रकार सामाजिक परिवर्तन और विकास का एक जरूरी आधार बनती है तथा किस प्रकार सामुदायिक भागीदारी पर टिकी हुई विकेंद्रित कार्यपद्धति के तहत प्रबंधित होती है, यह एक ऐसा मामला है जिस पर गहराई से विचार करने की जरूरत है।

3. स्कूली शिक्षा के सामाजिक चरित्र में बदलाव के मुद्दे में 'प्रत्यक्ष' और 'प्रच्छन्न' दोनों प्रकार के पाठ्यक्रमों का पुनर्गठन शामिल है।[7] इसमें सभी सामाजिक एवं विकास-संबंधी सरोकारों के साथ पाठ्यक्रम को जोड़ने का काम शामिल होगा। इसके

लिए आवश्यक होगा कि कई संदर्भगत मुद्दों की जांच-पड़ताल की जाए जिसकी शुरुआत स्थानीय महत्व के मुद्दों से होगी और आगे चलकर आंचलिक और अंततः वैश्विक सरोकारों तक जाएगी। इसी दौर में इन विभिन्न स्तरों के सरोकारों के बीच की कड़ियों को भी स्थापित करना होगा। इसके लिए शिक्षाशास्त्रीय दृष्टि ऐसी होनी चाहिए कि उसके जरिए बच्चों, शिक्षकों और संबंधित समुदायों के लोगों को सक्रिय रूप से यह चिंतन करने का मौका मिल सके। तभी यह स्पष्ट होगा कि ये सरोकार और उनके बीच के संबंध किन तरीकों से अगली सदी के मोड़ पर हमारे दैनिक जीवन की घटनाओं को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार का कोई भी काम किसी भी सक्रिय समूह को देशज, आंचलिक और वैश्विक ज्ञान प्रणालियों की समीक्षात्मक जांच-पड़ताल करने हेतु मजबूर करेगा। इस काम में स्थानीय समुदायों को भी जोड़ना होगा। इस नजरिए से देखने पर अपेक्षा है कि शैक्षिक हस्तक्षेप ऐसे प्रयास का रूप लेगा जिसके तहत एक नया ज्ञानमीमांसात्मक (एपिस्टामॉलॉजिकल) परिप्रेक्ष्य विकसित करना होगा जहां सामाजिक न्याय एवं विकास के मुद्दों के साथ ज्ञान के वर्तमान रिश्तों पर भी सवाल खड़े होने लगेंगे। जत्थे की दृष्टि में यह 'ज्ञानमीमांसात्मक' काम भी समाज से कटे हुए बौद्धिक माहौल में अलग-थलग रहकर नहीं किया जाएगा। बल्कि इस प्रयास को आम लोगों और खासकर बच्चों, महिलाओं, दलितों, आदिवासियों, अन्य पिछड़े सामाजिक समूहों एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अल्पसंख्यक समूहों जैसे उत्पीड़ित तबकों को जोड़ने की चुनौती के रूप में देखने की जरूरत है। इस प्रयास के दौरान ये उत्पीड़ित तबके सामूहिक चिंतन एवं कर्म के जरिए सामाजिक न्याय प्राप्त करने और अपने विकास को ठोस रूप देने की ओर स्वयं पहल करेंगे।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. 'प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण हेतु सामाजिक हस्तक्षेप' का सिद्धांत जमीन पर उतारने के उद्देश्य से भारत जनविज्ञान जत्था द्वारा दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग (मौलाना आज़ाद प्रारंभिक एवं सामाजिक शिक्षा केंद्र) के अकादमिक सहयोग से आयोजित एक राष्ट्रव्यापी प्रक्रिया.
2. इस परियोजना के संगठकों ने शुरू में ही केंद्रीय श्रम मंत्रालय को कह दिया था कि परियोजना बजट में से मासिक शिक्षावृत्ति और मध्याह्न भोजन की राशि शून्य कर दी जाए चूंकि इन आकर्षणों की जरूरत नहीं है. मंत्रालय ने एक लंबी बहस के बाद यह सुझाव मान लिया और इन दोनों मदों के लिए आबंटित राशि का उपयोग अतिरिक्त स्कूल खोलने हेतु करने की अनुमति दे दी. हैदराबाद परियोजना की इस दृष्टि का शिक्षा नीति के लिए बुनियादी महत्व है—इसको स्वीकार कर मध्याह्न भोजन पर किए जा रहे हजारों करोड़ रुपयों के खर्च को बचाया जा सकता है.
3. सर्वोच्च न्यायालय ने उन्नीकृष्णन निर्णय (1993) ने यह तर्क दिया है कि संविधान के 'राज्य के लिए नीति निर्देशक सिद्धांत' वाले खंड चार को मौलिक अधिकार वाले खंड तीन के साथ जोड़कर देखने की जरूरत है. न्यायालय का मानना है कि मौलिक अधिकारों की पूर्ति नीति निर्देशक सिद्धांतों के

बगैर नहीं हो सकती. अतः खंड चार के अनुच्छेद 45 को खंड तीन के 'जीवन के हक' वाले अनुच्छेद 21 के साथ जोड़ने की अनिवार्यता पर न्यायालय ने अपना मत दिया. ऐसा करने पर '14 वर्ष की उम्र तक के सभी बच्चों' को शिक्षा का बुनियादी हक मिल गया. शिक्षा को बुनियादी हक का दर्जा देने वाला यह उन्नीकृष्णन निर्णय भारतीय संविधान की एक क्रांतिकारी व्याख्या का परिणाम है. यह दीगर बात है कि विगत 4 वर्षों से शिक्षा को बुनियादी हक का दर्जा देने वाला संविधान का 83वां संशोधन अधिनियम ठंडे बस्ते में पड़ा हुआ है.

4. 'एंपावरमेंट थ्रू महिला संघाज—दी महिला समाख्या एक्सपीरिएंस', संधान शोध केंद्र, जयपुर, दिसंबर 1996.
5. 'संघर्ष और निर्माण', अनिल सद्गोपाल एवं श्यामबहादुर नम्र (संपादकद्वय), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1993.
6. भारत जनविज्ञान जत्था द्वारा आयोजित लोकशाला प्रक्रिया में इस समझ को एक बुनियादी सिद्धांत माना गया है.
7. 'प्रत्यक्ष' पाठ्यक्रम से तात्पर्य घोषित पाठ्यक्रम से है जो लिखित रूप में उपलब्ध होता है और जिसको स्कूलों में पढ़ाने हेतु शिक्षकों को प्रशिक्षण दिया जाता है. 'प्रच्छन्न' (या परोक्ष) पाठ्यक्रम का लिखित स्वरूप नहीं होता लेकिन यह पाठ्यक्रम का वह स्वरूप है जिसके तहत स्कूलीतंत्र एवं समाज के द्वारा मान्यता-प्राप्त मूल्य एवं सूचनाएं बच्चों को प्रभावित करती हैं. उदाहरणतः, अपने लिखित स्वरूप में प्रत्यक्ष पाठ्यक्रम समता एवं सामाजिक न्याय के मूल्य का पाठ पढ़ाता है और बच्चे इसे याद भी करते हैं. लेकिन जिस स्कूल में दलित बच्चों को अलग कतार में बैठाया जाता है अथवा उनके साथ दोयम दर्जे का व्यवहार किया जाता है, वहां यही मूल्य बच्चों में स्थापित होगा. यही 'प्रच्छन' और स्कूल का असली पाठ्यक्रम है.
8. मध्य प्रदेश एवं अन्य डी.पी.ई.पी. राज्यों में महिला समाख्या को डी.पी.ई.पी. के मात्र एक हिस्से के रूप में देखा गया है. समाख्या पर लगातार यह दबाव रहा है कि महिला सशक्तीकरण की प्रक्रिया चलाए बगैर ही स्कूलों में बालिकाओं का दर्ज प्रतिशत आनन-फानन बढ़ जाए. यह विडंबना है कि इस भ्रम के चलते न केवल महिला सशक्तीकरण की प्रक्रिया अवरुद्ध होगी बल्कि बालिकाओं के दर्ज प्रतिशत में कोई परिवर्तन भी नहीं हो पाएगा.

18. लोकशाला : स्कूली तंत्र में जनहस्तक्षेप का परिप्रेक्ष्य

प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण के संबंध में राष्ट्रीय शिक्षा नीति की पूर्ण असफलता खंड पांच के तीनों अध्यायों द्वारा स्थापित की जा चुकी है। अतः वैकल्पिक नीति का स्पष्ट स्वरूप प्रस्तुत करना एक अत्यावश्यक काम के रूप में सामने आया है। नीति विश्लेषण और सामाजिक यथार्थ को जोड़ने के विकल्प के जो प्रमुख तत्व उभरकर आए हैं उनमें से चंदेक को अध्याय 17 में पेश किया गया है। भारत जनविज्ञान जत्था द्वारा संचालित लोकशाला प्रक्रिया, नीति के इस विकल्प को जमीन पर उतारने का प्रयास है। इस विकल्प को विकसित करने में मौलाना आजाद प्रारंभिक एवं सामाजिक शिक्षा केंद्र (शिक्षा विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) ने सक्रिय भूमिका निभाई है। प्रस्तुत आलेख में इस नीतिगत विकल्प के कुछ आधारभूत विचार तथा वैकल्पिक दृष्टि का विवरण दिया गया है।

विगत पचास वर्षों में संविधान के अनुच्छेद 45 में निहित जवाबदेही को पूरा करने में सरकारी नीतियां पूर्णतः विफल रही हैं। नीतियों की इस विफलता से उभरने वाली चुनौती को 'लोकशाला प्रक्रिया' ने स्वीकारा है। हमारी सरकार ने तो आंकड़ों के जरिए सभी बच्चों को स्कूल भेजने का अपना वादा पूरा कर दिया है जबकि सचाई यह है कि आज अगली सदी के मोड़ पर देश के लगभग आधे बच्चे और दो-तिहाई लड़कियां स्कूल से बाहर हैं। लोकशाला प्रक्रिया की मान्यता है कि यह एक राष्ट्रीय संकट है जो शिक्षा तथा अन्य संबंधित कार्यक्षेत्रों में *सरकार की दिग्भ्रमित नीतियों और विकृत प्राथमिकताओं* का परिणाम है। देश भर में यह आम प्रवृत्ति है कि शिक्षा के क्षेत्र में इस विफलता को *सरकारी नीतियों के ढुलमुल क्रियान्वयन* के मत्थे मढ़ दिया जाता है। इस प्रवृत्ति के कारण सरकार की दिग्भ्रमित नीतियों से जनता का ध्यान लगातार विकर्षित होता रहता है।

अतः इस पृष्ठभूमि को मद्देनजर रखते हुए लोकशाला प्रक्रिया में यह प्रयास रहा है कि प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण हेतु एक वैकल्पिक मॉडल विकसित और स्थापित किया जाए। लोकशाला मॉडल, आजादी के पूर्व और बाद के वर्षों में देश भर में किए गए देशज प्रयोगों की एक पूरी शृंखला से मिले बहुआयामी सबकों पर आधारित है। संक्षेप में ये सबक इस प्रकार हैं :

मूल स्रोत : इंडिया इंटरनेशनल सेंटर, नई दिल्ली में 'प्रथम ऋतिंजलि व्याख्यान' (जनवरी 1998) के तहत लोकशाला प्रक्रिया पर अंग्रेजी में की गई प्रस्तुति पर आधारित एवं उससे स्वयं अनूदित.

1. समाज के गरीब तबकों के मां-बाप अपने बच्चों को स्कूल भेजने के लिए आतुर हैं। लेकिन इसके लिए उनकी पूर्वशर्त यह है कि उनके बच्चों को ऐसे स्कूल उपलब्ध हों जो सचमुच में चलते हों और उनमें सीखने-सिखाने का एक उचित माहौल सुनिश्चित किया जा सके।
2. कोठारी आयोग द्वारा अनुशंसित समान स्कूल प्रणाली (कॉमन स्कूल सिस्टम) को पड़ोसी स्कूल की अवधारणा के तहत स्थापित करना, प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण की एक पूर्व शर्त है।
3. सरकारी स्कूली तंत्र का एक अति-केंद्रीकृत, पदक्रमग्रस्त व नौकरशाहीनुमा ढांचा देश के सभी बच्चों को स्कूल तक पहुंचाने, वहां टिकाए रखने तथा सार्थक शिक्षा देने के उद्देश्यों से मेल नहीं खाता है।
4. स्कूली शिक्षा की उपलब्धता और गुणवत्ता में कोई भी महत्वपूर्ण सुधार तभी संभव होगा जब देश भर में स्थानीय समुदायों द्वारा स्कूली तंत्र में तंत्रगत हस्तक्षेप किया जाए और निर्णय प्रक्रिया में उनकी सक्रिय भागीदारी एवं अभिव्यक्ति स्थापित हो।
5. इस राष्ट्रव्यापी सामाजिक हस्तक्षेप की प्रक्रिया की अगली कतार में समाज के वे तबके होंगे जिनके बच्चे या तो स्कूल जाते ही नहीं या फिर बगैर कुछ सीखे शुरुआती वर्षों में स्कूल छोड़ने को मजबूर किए जाते हैं, चूंकि सरकारी स्कूली तंत्र के सुधार में इनसे ज्यादा निहित स्वार्थ और किसी तबके का नहीं है।
6. गरीब तबके की महिलाएं (साक्षर एवं गैर-साक्षर दोनों) सरकारी स्कूली तंत्र में परिवर्तन लाने के लिए सामाजिक हस्तक्षेप की प्रक्रिया की पहलकदमी करेंगी और उसको नेतृत्व भी देंगी।
7. इस प्रकार के विकेंद्रित तथा समुदाय-अधारित हस्तक्षेप के जरिए ही यह संभव होगा कि स्कूली तंत्र एवं पाठ्यक्रम को भारत की भू-सांस्कृतिक विविधता के अनुरूप ढाला जा सके।
8. पाठ्यक्रम को एक ऐसे शिक्षाशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में पुनर्गठित करने की जरूरत है, जिसमें वैश्विक सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ झलके और समकालीन सरोकारों और मुद्दों के बारे में चेतना जगाने हेतु प्रावधान हो।
9. ज्ञान को सार्थक और प्रासंगिक बनाने के लिए 'ज्ञान की दुनिया' को 'काम की दुनिया' के साथ जोड़ना होगा।
10. भारत के सभी बच्चों के लिए, चाहे वे किसी भी वर्ग या पृष्ठभूमि के क्यों न हों, स्कूल के शुरुआती वर्षों में सीखने का माध्यम उनकी मातृभाषा(जो उस प्रदेश की मानक भाषा से फर्क हो सकती है) होना चाहिए। पाठ्यक्रम में ऐसा शिक्षाशास्त्रीय प्रावधान बनाने की जरूरत है ताकि सीखने के माध्यम को स्थानीय लोगों की मातृभाषा से शुरू करके धीरे-धीरे उस अंचल या प्रदेश की मानक भाषा में और कालांतर में अन्य भाषाओं में भी बदला जा सके।

11. 'शिशु-देखभाल एवं शिक्षा' (0-6 आयु समूह की देखभाल, पोषण शिक्षा का मुद्दा) को प्रारंभिक शिक्षा की हर सूक्ष्म योजना के एक ऐसे अभिन्न हिस्से के रूप में देखने की जरूरत है जिसका क्रियान्वयन सामुदायिक पहलकदमी और प्रबंधन के जरिए हो सके।
12. किसी भी शैक्षिक प्रयोग या स्कूली हस्तक्षेप का एक न्यूनतम आकार होना आवश्यक है ताकि उसको कारगर रूप से चलाया जा सके और बरकरार रखा जा सके। लोकशाला प्रक्रिया में एक ग्रामीण विकास खंड (125 सं 150 गांवों तक) या इसके तुल्य एक शहरी क्षेत्र (शैक्षिक प्रशासन की कोई उपयुक्त इकाई) को इस तरह की न्यूनतम कारगर इकाई के रूप में माना गया है।

प्रारंभिक शिक्षा के हालात सुधारने की प्रक्रिया में उच्च शिक्षा की भूमिका को अभी गंभीरता से नहीं समझा गया है। पाठ्यक्रम निर्माण, शिक्षण पद्धति निर्धारण एवं प्रबंधन के ढांचों की जटिल आवश्यकताओं का यह तकाजा है कि ज्ञान के सृजन हेतु एक उच्च गुणवत्ता वाली अंतरविधायी शैली अपनाई जाए। इसी समझ के आधार पर हमने अपनी जमीनी प्रयोगशालाओं में विश्वविद्यालयीन शिक्षकों को इस उम्मीद के साथ शामिल किया है कि *प्रारंभिक शिक्षा को उच्च शिक्षा का मुद्दा बनाया जा सके*। यह प्रक्रिया, जो कि अभी अपनी भ्रूणावस्था में ही है, प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण में नागरिक समाज (विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों और शिक्षकों समेत) की यथोचित भूमिका परिभाषित करने लगी है।

आगे हम यह भी रेखांकित करना चाहते हैं कि कोई भी राष्ट्र जो अपने बच्चों को उम्दा गुणवत्ता वाली स्कूली शिक्षा सुनिश्चित कराने के लिए अपनी अर्थव्यवस्था की प्राथमिकताओं को बदलकर समुचित संसाधन उपलब्ध नहीं करा सकता, उसे अपनी गिनती एक सभ्य समाज के रूप में करने का कोई हक नहीं है। इस संदर्भ में भारतीय प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में विश्व बैंक और अन्य अंतर्राष्ट्रीय वित्तपोषक संस्थाओं द्वारा हस्तक्षेप करने के मामले को गंभीरता से लेना जरूरी है। हमारा मानना है कि कोई भी बाहरी वित्तपोषण ऐसी शर्तों के बगैर हो ही नहीं सकता जो हमारे भावी नागरिकों के जीवन के लिए नुकसानदायक न हों। ना ही इस प्रकार का वित्तपोषण हमारे बच्चों की जरूरतों के प्रति कटिबद्धता और संवेदनशीलता पैदा कर सकता है, चाहे उसके तहत कितना ही भारी-भरकम खर्चा क्यों न किया जा रहा हो।

मिथक

लोकशाला की जमीनी प्रयोगशालाओं के शुरुआती अनुभवों से हमने सीखा है कि गरीब तबके की शैक्षिक समझ के बारे में निम्नलिखित मिथक हैं :

(क) गैर-साक्षर (निरक्षर) अभिभावक, खासकर महिलाएं, इस बारे में स्पष्ट नहीं हैं कि

वे अपने बच्चों को किस प्रकार की शिक्षा देना चाहते हैं।

(ख) गरीब मां-बाप अज्ञानतावश अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेजते। इसलिए इनको शिक्षा का महत्व समझाने के लिए राष्ट्रीय अभियानों को आयोजित करने की जरूरत पड़ती है।

(ग) गरीब मां-बाप अपने बच्चों को इसलिए स्कूल नहीं भेजते क्योंकि उनकी दिलचस्पी बच्चों से मजदूरी करवाकर उनकी कमाई का लाभ उठाने में है।

(घ) गरीब मां-बाप 'ज्ञान' और 'सत्ता' के अंतर्संबंधों को नहीं समझते।

(च) गरीब मां-बाप भी मध्यम वर्ग की तरह शिक्षा का संबंध सिर्फ नौकरी और कैरियर से ही जोड़ते हैं।

(छ) साक्षरता, शिक्षा का स्थान ले सकती है।

(ज) आठ साल की प्रारंभिक (एलिमेंट्री) शिक्षा की संवैधानिक जवाबदेही का स्थान पांच साल की प्राथमिक (प्राइमरी) शिक्षा ले सकती है।

उपरोक्त प्रचलित मिथकों के बारे में हमने जो कुछ सीखा है उसके संदर्भ में यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि शिक्षा समाज का एक उपांग है, स्वतंत्र कारक नहीं। अतः भारत के सभी बच्चों के लिए उम्दा गुणवत्ता वाली शिक्षा उपलब्ध करवाने का संघर्ष अभिन्न रूप से गरीबी, कुपोषण एवं बीमारियों के खिलाफ चलने वाले संघर्षों से जुड़ा हुआ है। इस संबंध में यह स्वीकारना होगा कि विषमता, निर्धनीकरण और शोषण जैसे बुनियादी सामाजिक कारकों की अवहेलना करके हम कभी भी सभ्य और शांतिमय मानवीय समाज बनाने की कल्पना नहीं कर सकते।

लोकशाला प्रक्रिया का यह तकाजा है कि समुदाय-आधारित विकेंद्रित प्रबंध प्रणाली की सफलता के लिए स्थानीय स्तर पर देशज संसाधनों का निर्माण करना आवश्यक है। लेकिन इसका मतलब यह कतई नहीं है कि स्थानीय संसाधनों के बहाने 'राज्य' को संविधान के अनुच्छेद 45 के तहत वित्तीय जवाबदेही से मुक्त कर दिया जाए।

वैकल्पिक दृष्टि की ओर

उपरोक्त वैचारिक पृष्ठभूमि से यह धारणा उभरी है कि शैक्षिक परिवर्तन को एक सामाजिक आंदोलन के रूप में देखने की जरूरत है। लोकशाला प्रक्रिया को वर्तमान स्कूल प्रणाली (प्रमुखतः सरकारी स्कूल प्रणाली) में एक सशक्त सामाजिक हस्तक्षेप की दृष्टि से विकसित करन की कोशिश की गई है। इस वैकल्पिक दृष्टि के बुनियादी तत्वों को निम्नानुसार प्रस्तुत किया जा सकता है :

- समान स्कूल प्रणाली (कॉमन स्कूल सिस्टम) को मजबूत बनाना चूंकि वह प्रारंभिक

शिक्षा के लोकव्यापीकरण और उससे अपेक्षित समता व सामाजिक न्याय का एक महत्वपूर्ण रास्ता है।

- पाठ्यक्रम के पुनर्गठन, ढांचागत नियोजन और संसाधन आबंटन के लिए आठ साल की प्रारंभिक शिक्षा को समेकित रूप में देखना।
- शिक्षा की समग्रता और उसकी परिवर्तनकारी भूमिका पर बल देना।
- बच्चों की मानवीय संभावनाओं के पूर्ण विकास की दिशा में प्रयास करना, जिसका अर्थ होगा कि उसे महज 'राष्ट्रीय संसाधन' या 'उपयोगी उत्पाद' के रूप में देखने की प्रवृत्ति से परे हटना।
- शिक्षा को समाज के लिए सार्थक बनाने तथा सीखने की प्रक्रिया में उत्पादक काम और सामाजिक कर्म को विभिन्न विषयों के ज्ञान के साथ जोड़ना।
- स्कूल तथा समुदाय के बीच जीवंत रिश्ता स्थापित करना।
- ऐसे बाल केंद्रित शिक्षाशास्त्र को विकसित करना जिसमें स्थानीय दृष्टि से सार्थक प्रक्रियाओं के उभरने की गुंजाइश हो ताकि शिक्षा में सामाजिक एवं सांस्कृतिक विविधता को प्रोत्साहित किया जा सके।
- प्राथमिक स्तर के शिक्षण की शुरुआत के लिए माध्यम के रूप में मातृभाषा का उपयोग करना और बाद में क्रमिक रूप से क्षेत्रीय या प्रदेश की मानक भाषा का उपयोग करना। उपयुक्त शैक्षिक चरण पर पाठ्यक्रम में अंग्रेजी को एक भाषा के रूप में (माध्यम के रूप में नहीं) शामिल करना।
- बाल मजदूरी प्रथा को खत्म करने के लिए सरकार को प्रभावी सामाजिक, आर्थिक और कानूनी कदम उठाने हेतु मजबूर करना तथा इन प्रयासों को प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण के प्रयासों का अंग बनाना; शिक्षा का मुख्य सरोकार बच्चों को भविष्य में सार्थक पेशे तलाशने हेतु सक्षम करना होना चाहिए।
- प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण के प्रयासों को राष्ट्रीय एजेंडा में प्रमुख स्थान देना और समानांतर चल रही औपचारिकेतर शिक्षा प्रणाली या बच्चों को मात्र साक्षर बनाने के अभियानों को तुरंत बंद करना।
- स्कूल को इतना सशक्त बनाया जाए कि वह इलाके के सभी बच्चों तक पहुंच सके। इसमें 0 से 6 वर्ष की आयु के बच्चे, विकलांग बच्चे और स्कूलविहीन बस्तियों के बच्चे भी शामिल हैं। स्कूलों को सभी आवश्यक भौतिक और अन्य संसाधन उपलब्ध करने के साथ-साथ उनको यह छूट भी होनी चाहिए कि वे कक्षाओं हेतु उपयुक्त समय और स्थान खुद तय करें, स्थानीय युवाओं में से शिक्षकों का चयन कर उन्हें प्रशिक्षित करें, पाठ्यक्रम में वांछनीय बदलाव लाएं और पढ़ाने के तौर-तरीकों में कुछ ऐसे नवाचार करें कि सबको शिक्षा 'सुलभ' हो सके; दूसरे शब्दों में स्कूली ढांचे और प्रक्रिया को 'औपचारिकेतर' बनाएं।
- 'शिशु देखभाल और शिक्षा' को (मय समेकित बाल विकास योजना या आई.सी.

डी.एस.) प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण के ही एक अंग के रूप में देखना चाहिए क्योंकि इसके जरिए बच्चों की स्कूल जाने की तैयारी होती है और प्रारंभिक शिक्षा की संपूर्ण प्रक्रिया 'खेल-खेल में शिक्षा' और बाल केंद्रित शिक्षा के विचारों के प्रति संवेदनशील बनती है, यानी स्कूल को बच्चों के लिए तैयार करती है। इसका एक दूसरा लाभ यह भी है कि ऐसे बड़े बच्चे, खासकर लड़कियां भी, स्कूल आ पाते हैं जो अपने छोटे भाई-बहनों की देखभाल के लिए जिम्मेदार हैं।

- विकासखंड पंचायत स्तर पर विकास कार्यक्रमों को समेकित करना ताकि ऐसे कारकों को हटाया जा सके जो खासतौर से लड़कियों के लिए घरेलू काम बढ़ाते हैं। उदाहरणतः, 0 से 6 वर्ष के बच्चों के लिए दिन में देखभाल की व्यवस्था के साथ-साथ बस्ती में ही पानी, जलावन की लकड़ी और चारे की उपलब्धता सुनिश्चित करनी होगी।
- महिला सशक्तीकरण के कार्यक्रमों को सामाजिक-आर्थिक जीवन के सभी पक्षों में प्राथमिकता देना ताकि शैक्षिक प्रक्रिया में बालिकाओं की भागीदारी में आड़े आने वाले लिंग पूर्वग्रह को दूर किया जा सके।
- शिक्षा के मूल्यांकन मापदंडों की समीक्षा करना ताकि उसमें समाज के कमजोर तबकों के बच्चों के प्राकृतिक गुणों और अभिमुखीकरण के विरुद्ध जो पूर्वग्रह माजूद हैं, उन्हें हटाया जा सके। फिलहाल योग्यता, प्रतिभा, दक्षता और श्रेष्ठता की जो अवधारणाएं हैं उन्हें देशज शोध द्वारा बदलने की जरूरत है।
- पूर्व प्राथमिक और प्रारंभिक शिक्षा के स्तर के शिक्षकों के लिए सेवा-पूर्व तथा सेवाकालीन शिक्षण कार्यक्रमों को, खासतौर पर जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थानों ('डाइट') में, पुनर्व्यवस्थित करना होगा। आवश्यकता इस बात की है कि प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण और शिक्षा के सामाजिक चरित्र को बदलने संबंधी चुनौतियों का सामना करने के लिए शिक्षकों को तैयार किया जाए।
- जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थानों को प्रेरित करना ताकि वे अपना एजेंडा स्कूलों तथा स्थानीय समुदायों द्वारा निर्धारित विविध योजनाओं के अनुरूप तय करें, लेकिन क्रियान्वयन की जिम्मेदारी पूरी तरह स्कूलों और ग्राम शिक्षा समिति की हो।
- शिक्षा के लोकव्यापीकरण की रूपरेखा बनाने, रणनीतियां तथा लक्ष्य निर्धारण करने में स्कूलों के साथ-साथ ग्राम पंचायतों, पंचायत समितियों एवं जिला परिषदों तथा शहरी मुहल्लों, बस्तियों और वार्डों को भी शामिल किया जाए। 'निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा' उपलब्ध करवाने का संवैधानिक दायित्व सरकार का बना रहे परंतु समुदाय को भी इतना सशक्त बनना चाहिए जिससे वह न केवल शैक्षिक प्रक्रिया के नियोजन में भागीदार बने बल्कि उसे नियंत्रित भी कर सके। इस लक्ष्य को पाने में जिन प्रभावी संरचनाओं तथा ढांचों की जरूरत है वे पंचायती राज व्यवस्था की क्रमशः उभरती हुई रूपरेखा के तहत अभी भी बनाए जाने हैं।

सशक्त स्कूल

वैकल्पिक दृष्टि के उपरोक्त विवरण से स्पष्ट हो ही चुका होगा कि प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण के उद्देश्य से की जाने वाली किसी भी पहलकदमी के कारगर होने के लिए निम्नांकित पूर्व शर्तें होंगी :

1. सामाजिक हस्तक्षेप केवल स्कूल प्रबंधन अथवा शिक्षकों की नियुक्ति तक सीमित नहीं होगा। इसके दायरे में शिक्षा का हर पहलू शामिल है—पाठ्यक्रम, शिक्षण पद्धति, मूल्यांकन के मापदंड, परीक्षा प्रणाली और स्कूल-समाज संबंध।
2. पहलकदमी का स्रोत हर स्कूल के दायरे में आने वाला समुदाय होगा, न कि सरकारी आदेशों का सिलसिला। सामुदायिक हस्तक्षेप में भी अग्रणी भूमिका गरीब तबके की महिलाओं की होगी।
3. सामाजिक हस्तक्षेप की न्यूनतम इकाई ग्रामीण क्षेत्रों में विकासखंड का स्कूली ढांचा एवं शिशु विकास केंद्रों का संजाल होगा, न कि इक्के-दुक्के स्कूल। यह इसलिए जरूरी है ताकि *स्कूली तंत्र के तंत्रगत तत्वों में परिवर्तन आए।* अतः शहरी क्षेत्रों में भी स्कूली तंत्र का आकार इसी आधार पर तय करना होगा।
4. सरकार को स्कूली तंत्र में सामाजिक हस्तक्षेप हेतु आवश्यक गुंजाइश खड़ी करने के लिए तैयार होना होगा। लेकिन इसका अर्थ यह कदापि नहीं होना चाहिए कि सरकार को प्रारंभिक शिक्षा की संवैधानिक जवाबदेही से मुक्त करने की बात हो रही है। सरकार से अपेक्षा केवल यह है कि वह स्कूली तंत्र पर हावी अपना केंद्रीकृत नियंत्रण योजनाबद्ध तरीके से हटाकर समुदाय को सौंपे, लेकिन वित्तीय समर्थन और निगरानी व नियमन की जिम्मेदारी निभाती रहे।

सामाजिक हस्तक्षेप की उक्त कल्पना का परिणाम होगा कि हर स्कूल अपनी स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार बदलेगा। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में सरकारी शैक्षिक प्रशिक्षण तथा नियोजन संस्थाओं को विकेंद्रीत स्कूली तंत्र को समर्थन देने के लिए अपनी भूमिका बदलनी होगी। यह सब स्कूलों के औपचारिक ढांचों को तोड़ने अथवा लोचदार बनाने की प्रक्रिया है, यानी औपचारिकेतर-करण (नान-फॉर्मलाइजेशन) की (देखें, आचार्य राममूर्ति समिति रपट, 1990)। इसी को लोकशाला प्रक्रिया में स्कूल सशक्तीकरण की प्रक्रिया कहा गया है।

सशक्त स्कूल के कुछेक तत्व नीचे दिए गए हैं :

- प्रत्येक स्कूल को अपने इलाके के सभी बच्चों की शिक्षा के लिए जिम्मेदार और उत्तरदायी बनाना होगा। उन्हें ऐसे नवाचारों और रणनीतियों को अपनाने की स्वतंत्रता देनी होगी जिससे वे समाज के हर तबके के बच्चों तक पहुंच सकें।

क्रमशः

- औपचारिकेतर शिक्षा की जिन विशेषताओं को जरूरी माना जाता है वे सब औपचारिक स्कूलों के लिए भी उतनी ही जरूरी हैं। हर इलाके के अधिकांश बच्चों के लिए स्कूलों को लोचदार और सार्थक बनाना होगा।
- राष्ट्रीय पाठ्यक्रम के मूल तत्वों को बरकरार रखते हुए स्कूलों को पाठ्यक्रम पुनर्गठित करने, विषयवस्तु को स्थानीय या क्षेत्रीय यथार्थ से जोड़ने और शिक्षण का अपना बाल-केंद्रित शिक्षाशास्त्र विकसित करने हेतु गुंजाइश देनी होगी।
- स्कूलों को यह विकल्प भी देना होगा कि वे स्कूलों के लिए उपयुक्त समय स्वयं चुनें, कक्षाओं को एक या अधिक संकुलों में विभाजित कर सकें, कक्षाओं को इलाके के एक या अधिक स्थानों पर चलाएं, शिक्षाकर्मियों की तर्ज पर सहायक शिक्षकों की नियुक्ति करें ताकि दूरस्थ मुहल्लों तक पहुंचा जा सके और बच्चों को स्कूलों में आकर्षित करने के अन्य परिवेशमूलक और सार्थक तौर-तरीके अपना सकें। इस प्रकार के सूक्ष्म नियोजन और क्रियान्वयन के हर चरण में ग्राम शिक्षा समिति पूरी तरह जुड़ी रहेगी।
- औपचारिकेतर शिक्षा या 9 से 14 वर्ष की आयु समूह के लिए साक्षरता अभियान जैसे समानांतर कार्यक्रमों द्वारा स्कूलों को हाशिए पर धकेलने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। जिस समय ग्राम शिक्षा समिति तथा स्कूल को जरूरत लगे तो वे क्षेत्र के युवक-युवतियों और वयस्कों के लिए शैक्षिक कार्यक्रम चलाएं। ये कार्यक्रम स्कूली गतिविधि का हिस्सा हों ताकि स्कूल हाशिए पर जाने के बजाए सशक्त बनें।
- स्कूलों को पर्याप्त भौतिक सुविधाओं के साथ आवश्यक संख्या में शिक्षक भी उपलब्ध करवाए जाने चाहिए। प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण के लिए स्कूल नई पहल कर सकें, इस दृष्टि से अतिरिक्त अनुदान प्रधानाध्यापक/ग्राम शिक्षा समिति को मुहैया करवाया जाना चाहिए।
- 0 से 6 वर्ष आयु समूह के लिए चलाए जा रहे 'शिशु देखभाल एवं शिक्षा' कार्यक्रमों को पालना घर और पूर्व प्राथमिक शिक्षा सहित स्कूलों से जोड़ना चाहिए तथा इन्हें स्कूली शिक्षा की व्यापक जिम्मेदारी का हिस्सा बनाना चाहिए।
- विकलांग बच्चों की शिक्षा भी स्कूल की जिम्मेदारी होनी चाहिए। ऐसे बच्चों की विकलांगता के अनुरूप उन्हें या तो सामान्य बच्चों की कक्षाओं में समेकित करना चाहिए या फिर स्थानीय जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान और जिला पंचायत की सहायता से उनके लिए विशेष व्यवस्थाएं की जानी चाहिए।
- ग्राम शिक्षा समिति की सलाह से स्कूलों को यह अनुमति होनी चाहिए कि वे प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण की योजना स्वयं बना सकें तथा इस उद्देश्य की प्राप्ति की समय-सीमा भी खुद ही तय कर सकें।
- स्थानीय स्कूल तथा जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान दोनों के परामर्श से स्कूल संकुलों को अपने शिक्षकों की, खासकर उप-शिक्षकों की, प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी चाहिए; कालांतर में इन उप-शिक्षकों को स्कूली स्टाफ में समाहित करने का प्रावधान होना चाहिए।
- सभी स्कूलों को (निजी स्कूलों समेत) समान स्कूल प्रणाली का हिस्सा होना चाहिए और उन्हें महल्ले के 'पडोसी स्कूलों' के रूप में काम करना चाहिए।

उपसंहार

> सन् 2010; दिल्ली के नजदीक नवनिर्मित 'बिल क्लिंटन अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय' का अधुनातन परिसर; दो छात्राओं की मुलाकात। एक छात्रा दूसरी से कहती है, 'चलो, कहीं बैठकर गपशप करें'। दूसरी छात्रा कहती है, 'आज बहुत व्यस्त दिन है। पहले पीरियड में कोकाकोला फिजिक्स लैब में यूनिलीवर प्रैक्टिकल, दूसरे पीरियड में पेप्सी थियेटर में 'वेस्टर्न डांस एप्रीसिएशन' का प्रॉक्टर एंड गैंबल्स सत्र, फिर माइक्रोसाफ्ट ऑडिटोरियम में इनफरमेशन टेक्नालॉजी पर सुजूकी व्याख्यान है। फिर रिसेस। चलो, अपन यूनियन कार्बाइड स्क्वेयर में कैंटकी चिकन कैंटीन में मिलते हैं।'

यदि उपरोक्त परिदृश्य दूर की कौड़ी लगता है तो आइए, जो भारत में हो चुका है उस पर नजर डालें।

> कुछ माह पहले एक विवाह भोज पर दिल्ली के नवीनतम इंद्रप्रस्थ विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार महोदय सभी मेहमानों को समझा रहे थे, 'अब निजीकरण के अलावा अन्य कोई रास्ता नहीं है। कौन करेगा सरकारी अनुदान का इंतजार। वैसे भी शिक्षा में सरकार की कोई जगह होनी ही नहीं चाहिए। जमाना तेजी से भाग रहा है। हमने अपने विश्वविद्यालय में पैसा लाने की खुली छूट दे दी है। बी.एड. के पांच कॉलेज फटाफट खोल दिए हैं। हर सीट पैंतालीस हजार रुपए की। पैसा दो और पढ़ो। जो पैसा देकर पढ़ेगा वो मन लगाकर पढ़ेगा....'। एक बुजुर्ग अतिथि से रहा नहीं गया। वे पूछ बैठे, 'साहब, फिर तो केवल पैसे वाले ही शिक्षक बनेंगे'। रजिस्ट्रार महोदय ने आश्वस्त किया, 'हमें भी गरीबों का खयाल है। आधी सीटें 'फ्री सीट' रखी हैं। उनकी फीस मात्र बारह हजार रुपए रहेगी।' इस कथन को सुनकर सब स्तब्ध रह गए।

भारतीय संविधान पर निजीकरण का आक्रमण कई रूपों में झलक रहा है। संविधान के समता और सामाजिक न्याय जैसे सारतत्वों को दरकिनार करते हुए तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीति—1986 में शिक्षा के लोकव्यापीकरण को सर्वोच्च प्राथमिकता देने के संकल्प को झुठलाते हुए भारत में पिछले दो वर्षों में यह भी हुआ है :

> जुलाई 1998 में अहमदाबाद के एक गरीब इलाके के बच्चों ने अचानक पाया कि उनके नगर निगम के स्कूल के दरवाजे पर ताले लगे हुए हैं और उन्हें किसी और स्कूल में जाने के लिए कहा जा रहा है। जब अभिभावकों ने पता लगाया तो बताया गया कि

अहमदाबाद नगर निगम ने इस स्कूल का पूरा परिसर एक निजी ट्रस्ट को दीर्घकालीन पट्टे पर दे दिया है। यह ट्रस्ट शिक्षा का कोई 'फ्रेंच मॉडल' इस स्कूल में लागू करेगी जिसके लिए ऊंची फीस ली जाएगी। गरीब अभिभावकों ने संगठित होकर इस निर्णय का जमकर विरोध किया। निगम का निर्णय तो नहीं बदला लेकिन उनके विरोध को शांत करने के लिए यह घोषणा कर दी गई कि इस भावी निजी स्कूल की दस-बीस प्रतिशत सीटें निगम के अन्य स्कूलों से निकले हुए विद्यार्थियों के लिए आरक्षित कर दी जाएंगी। अहमदाबाद की तर्ज पर इंदौर नगर निगम ने अपने लगभग 30 स्कूल 'युक्तियुक्तकरण' (रेशनलाइजेशन) के नाम पर यकायक बंद कर दिए। इनमें से 2 स्कूलों के परिसर में पुलिस थाना खड़ा कर दिया। कुछेक अन्य स्कूलों के परिसरों को मिलाकर उनके स्थान पर एक विशाल व्यापारिक परिसर खड़ा करने की मंशा दिख रही है जिससे निगम विपुल धनराशि कमा पाए। नगर निगम के स्कूलों को बंद करके उनकी बेशकीमती जमीनों को निजी हाथों में सौंपना, अब शिक्षा पर बाजार अर्थव्यवस्था के खतरे की नई घंटी बन गया है।

विगत दो दशकों में भारत में शिक्षा का राजनीतिक संदर्भ तेजी से बदला है। इसका सूत्रपात तभी हो गया था जब 1985 में शिक्षा मंत्रालय का नाम बदलकर मानव संसाधन विकास मंत्रालय कर दिया गया था। यानी हर बच्चे को विश्व पूंजी निर्माण के साधन के रूप में देखने का शैक्षिक दर्शन प्रस्तुत हुआ। इस बुनियादी परिवर्तन के मसले पर कहीं चू-चपड़ तक नहीं हुई। सन् 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति ने औपचारिकेतर शिक्षा एवं नवोदय विद्यालय को शिक्षा व्यवस्था में अधिकारिक स्थान देकर एक नए सामाजिक सिद्धांत को भारत में प्रतिष्ठा दिलवाई है—अलग-अलग आर्थिक-सामाजिक हैसियत के अनुसार शैक्षिक सुविधाओं एवं गुणवत्ता का प्रावधान। दूसरे शब्दों में, इस नीति ने सांविधानिक निर्देशों का उल्लंघन करते हुए शिक्षा का उपयोग समाज में व्याप्त गैर-बराबरी को बढ़ाने के लिए करने का निर्णय किया। इसके बावजूद संसद ने इसे पारित कर दिया।

सन् 1990 में परस्पर विरोधाभासी दो प्रक्रियाएं चलीं—एक ओर, भारत सरकार ने शिक्षा नीति के इस गैर-बराबरी को बढ़ाने वाले अभिजात पक्ष की समीक्षा करने हेतु आचार्य राममूर्ति समिति का गठन किया। दूसरी ओर, उसी सरकार ने विश्व बैंक द्वारा जोमतियन (थाइलैंड) में आयोजित विश्व शिक्षा सम्मेलन में शिरकत की और वहां प्रस्तुत 'सबके लिए शिक्षा' प्रपत्र पर सहमति देकर भारतीय शिक्षा के दरवाजे विश्व बैंक व उसके द्वारा समर्थित अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय एजेंसियों के लिए खोल दिए। भविष्य में भारतीय शिक्षा किस दिशा में जाएगी, यह इसी दौर में तय हो गया। अगले दो वर्षों में भारत सरकार ने आचार्य राममूर्ति समिति के समतामूलक और सर्वसुलभ शिक्षा व्यवस्था स्थापित करने और अन्य सभी क्रांतिकारी परिवर्तनों के सुझावों को गैर-व्यवहारिक अथवा गैर-जरूरी करार देकर हाशिए पर ढकेल दिया। सन् 1992 में संसद ने भी सरकार के इस नजरिए को स्वीकारते हुए 1986

की नीति में बगैर कोई विशेष रद्दोबदल किए उसका तथाकथित 'संशोधित स्वरूप' पारित कर दिया।

यह दौर नई आर्थिक नीति की शुरुआत का था। हर समस्या का समाधान निजीकरण और बाजारीकरण में देखने की प्रवृत्ति भारत में मान्यता प्राप्त कर रही थी। इस दौर में विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के दबाव में भारत सरकार ने 'संरचनात्मक समायोजन' का सिद्धांत स्वीकारा। इसके तहत तय हुआ कि सरकार बढ़ते क्रम में शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे सामाजिक मदों पर अपना खर्च घटाएगी तथा इन क्षेत्रों में निजीकरण की नीति अपनाएगी। यानी शिक्षा और स्वास्थ्य की नीति तथा उनके कार्यक्रम, सामाजिक उद्देश्यों और जरूरतों की पूर्ति के लिए नहीं, बल्कि बाजार की मांग के अनुसार तय किए जाएंगे। हमारे स्वाधीनता संग्राम की महान विरासत के रूप में लिखे गए भारतीय संविधान के समता और सामाजिक न्याय के बुनियादी सामाजिक सिद्धांतों को दरकिनार करने का इससे बेहतर तरीका और क्या हो सकता था।

वैश्वीकरण के युग में यदि सामाजिक नीतियां बाजार की ताकतों द्वारा तय होंगी तो जाहिर है कि नीति निर्माण में संसद की निर्णायक भूमिका घटेगी। योजना आयोग भी निरर्थक हो जाएगा। नब्बे के दशक में ठीक यही हुआ। जोमतियन सम्मेलन की तर्ज पर भारतीय शिक्षा में अंतर्राष्ट्रीय कर्ज या अनुदान पर चलने वाले एक के बाद एक कार्यक्रम तेजी से स्वीकारे गए। इन कार्यक्रमों में संविधान में दिए गए निर्देशों का कई तरीकों से उल्लंघन हुआ और बढ़ते क्रम में राष्ट्रीय शिक्षा नीति की भी उपेक्षा हुई। लेकिन ऐसे किसी भी मसले को लेकर संसद को विश्वास में लेने की जरूरत नहीं समझी गई। हाल के अनुभव बताते हैं कि भविष्य में शिक्षा नीति में परिवर्तनों के लिए अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय एजेंसियों की अनुमति अधिक आवश्यक होगी, बनिस्बत भारतीय संसद की सहमति के।

शिक्षा के क्षेत्र में एक और राजनीतिक संकेत मिल रहा है। विश्व बैंक द्वारा प्रायोजित 'जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम' के तहत विकेंद्रीकरण का नारा खूब उछाला गया। लेकिन इसका असली अर्थ विश्व बैंक ने स्वयं स्पष्ट किया। बढ़ते क्रम में विश्व बैंक, राज्य सरकारों के साथ सहमति-प्रपत्रों पर सीधे दस्तखत करने लगा है और कार्यक्रमों के मापदंड जिला शैक्षिक प्रशासनों के साथ तय होने लगे हैं। इन प्रक्रियाओं में केंद्र की भूमिका घटती हुई नजर आ रही है और विश्व बैंक की पकड़ सीधे जिला स्तर तक स्थापित हो रही है। वह दिन दूर नहीं जब विकेंद्रीकरण के नाम पर विश्व बैंक पंचायती-राज की संस्थाओं के साथ ग्राम स्तर तक सीधे अनुबंध करने लगेगा। केंद्र की भूमिका और अधिक सिमट जाएगी। महानगरों से गांवों तक की निर्णय-प्रक्रियाओं पर से दिल्ली और प्रादेशिक राजधानियों का नियंत्रण हटाकर विश्व बैंक के वाशिंगटन—स्थित मुख्यालय का नियंत्रण स्थापित करना, विकेंद्रीकरण का वैश्वीकृत नया अर्थ बन रहा है। 'राज्य' की भूमिका सीमित करना और बाजार की भूमिका बढ़ाना, विश्व बैंक की जानी-मानी नीति है। चिंता की बात यह है कि किसी भी राजनीतिक दल में इस खतरनाक प्रवृत्ति के बारे में चेतना नहीं दिख रही है।

यह महज संयोग नहीं है कि अस्सी के दशक में जब भारत में नई आर्थिक नीति की नींव रखी जा रही थी, तब भारतीय राजनीति में सांप्रदायिक कट्टरवादी ताकतें विशेष रूप से सक्रिय हो रही थीं। शाहबानो कांड से लेकर बाबरी मस्जिद ढहाने तक की अनेक घटनाओं और हादसों ने भारतीय राजनीति में सांप्रदायिक और धार्मिक कट्टरवाद का प्रभुत्व स्थापित किया। इसके फलस्वरूप स्वाधीनता संग्राम से उपजी 'मिली-जुली संस्कृति' की ऐतिहासिक विरासत पर नकारात्मक असर हुआ। इसी तारतम्य में 'हिंदुत्व' जैसी संकुचित अवधारणा को भारतीयता का पर्याय बनाने की गैर-संवैधानिक और खतरनाक कोशिशें भी हुईं जिन्होंने भारत की विविधतापूर्ण संस्कृति की आत्मछवि को चोट पहुंचाई। इस भ्रमात्मक स्थिति की परिणति के रूप में ऐसी राजनीतिक ताकतों का भारत की शिक्षा पर वर्चस्व स्थापित हुआ है जो एक ओर सूचना प्रौद्योगिकी (इंटरनेट, वेबसाइट आदि) को शिक्षा का पर्याय बनाने की कोशिश में हैं और दूसरी ओर पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तकों के सांप्रदायीकरण (भगवाकरण) की सशक्त नींव डाल रही हैं। इसी तारतम्य में अक्टूबर 1998 में भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व में चलने वाली केंद्रीय सरकार ने राज्य शिक्षा मंत्रियों के सम्मेलन का उपयोग शिक्षा के सांप्रदायीकरण हेतु चंदेक नए प्रस्तावों की मंजूरी लेने के लिए किया था। लेकिन व्यापक जन-विरोध के फलस्वरूप पीछे हटना पड़ा। अब वही ताकतें नई तैयारी के साथ सावधानीपूर्वक फिर से कदम उठा रही हैं। सभी महत्वपूर्ण शैक्षिक संस्थानों और समितियों में शिक्षा के सांप्रदायिक स्वरूप को मानने वाले लोगों को व्यवस्थित रूप से स्थापित किया जा रहा है। इसी क्रम में भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद द्वारा प्रकाशित होने वाली स्वाधीनता संग्राम से संबंधित पुस्तकों पर रोक लगाई गई है। हाल में प्रसारित सरकारी शैक्षिक दस्तावेजों (उदाहरणतः, एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा जनवरी 2000 में प्रसारित 'विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा—परिचर्चा दस्तावेज') में कहा जा रहा है कि सूचना प्रौद्योगिकी ने विश्व को 'वैश्विक ग्राम' (ग्लोबल विलेज) बना दिया है। हालांकि ये दस्तावेज यह कहीं नहीं बताते कि सूचना प्रौद्योगिकी से भारत की बहुसंख्यक गरीब जनता का आज भी कोई सरोकार नहीं है।

यह उल्लेखनीय है कि इस प्रौद्योगिकी के जरिए जो पूंजी निर्माण होता है उससे अपेक्षित अनुपात में रोजगार पैदा नहीं होता ('रोजगार-विहीन आर्थिक प्रगति' नब्बे के दशक के भारत की सचाई बन चुकी है)। ना ही ये दस्तावेज यह बताते हैं कि सूचना प्रौद्योगिकी का राजनीतिक अर्थशास्त्र इस प्रकार का है कि इसके जरिए बहुराष्ट्रीय ताकतें आम जनता के मानस पर अपना नियंत्रण रखने में कारगर होंगी। भारतीय जनमानस को प्रभावित करने का शिक्षा और जन संचार माध्यम (मीडिया) से बेहतर जरिया और क्या हो सकता है। अतः अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों ने इन दोनों कार्यक्षेत्रों को प्राथमिकता दी है। इन ताकतों का पैगाम विश्व बाजार के पक्ष में जनमानस तैयार करने का भी हो सकता है और राष्ट्रीय बाजार को राजनीतिक स्थिरता प्रदान करने के लिए धार्मिक कट्टरवाद का भी, चाहे वह कट्टरवाद किसी भी धर्म का क्यों न हो। चूंकि वैश्वीकरण की नीति ने 'रोजगार-विहीन आर्थिक

प्रगति' का सिद्धांत स्थापित किया है, अतः एक ओर बेरोजगारी बढ़ेगी तो दूसरी ओर आर्थिक विषमता भी। यानी, वैश्वीकरण के साथ भारत जैसे गरीब देशों में राजनीतिक तनाव और अस्थिरता भी बढ़ेगी। शायद इसीलिए राजनीति में कट्टरवाद को इस अस्थिरता पर नियंत्रण रखने के एक महत्वपूर्ण औजार के रूप में देखा जा रहा है। इसी तारतम्य में एन.सी.ई. आर.टी. द्वारा हाल में प्रसारित पाठ्यक्रम-संबंधी दस्तावेज 'हिंदुत्व' की तर्ज पर नैतिक शिक्षा एवं नागरिक कर्तव्यों की शिक्षा पर अत्यधिक महत्व देने लगा है—20 प्रतिशत अभिजात एवं मध्यवर्गीय आबादी के लिए सूचना प्रौद्योगिकी की शिक्षा होगी और शेष 80 प्रतिशत आबादी को नियंत्रण में रखने के लिए 'हिंदुत्व' से पोषित नैतिक शिक्षा और संविधान में जोड़े गए नागरिक कर्तव्यों की शिक्षा होगी। संभवतः, बाजारीकरण और कट्टरवादीकरण के इस गहरे रिश्ते के संदर्भ में हम समकालीन भारतीय राजनीति में दोनों के सह-अस्तित्व का आधार खोज सकते हैं। ऊपर से परस्पर विरोधाभासी दिखने वाली (एक अधुनातन, तो दूसरी रूढ़िवादी) इन ताकतों के इस विचित्र तालमेल से जूझना, भारतीय संविधान और उसके द्वारा निर्देशित शिक्षा के सामाजिक और सांस्कृतिक चरित्र को बचाने के लिए आवश्यक हो गया है। इस चुनौती को सर्वोच्च प्राथमिकता देकर समझने व स्वीकारने की जरूरत है। भारत की हर जनवादी ताकत के लिए यह एक आवश्यक वैज्ञानिक एवं देशप्रेमी राजनीतिक एजेंडा है।

23 मार्च 2000
शहीद भगत सिंह शहादत दिवस

परिशिष्ट

दस्तावेज

दस्तावेज क्र. 1

राष्ट्रीय शिक्षक आयोग से त्यागपत्र

सन् 1983-84 में भूतपूर्व केंद्रीय मंत्री प्रो. देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय की अध्यक्षता में राष्ट्रीय शिक्षक आयोग[1] का गठन किया गया था। इस बीस-सदस्यीय आयोग का मैं भी एक सदस्य था। कई महीनों तक आयोग की बैठकों में सक्रिय हिस्सेदारी करके समझ में आया कि आयोग की विचार प्रक्रिया कई महत्वपूर्ण मुद्दों पर आंकड़ों एवं तर्कों पर आधारित नहीं थी। अकसर व्यक्तिगत धारणाएं और पूर्वग्रह आयोग के निष्कर्षों का आधार बन जाते थे। आयोग द्वारा तथाकथित तथ्यों की खोजबीन करने एवं विभिन्न विषयों पर विशेषज्ञ रपटें तैयार करने का जो परामर्शी और शोध ढांचा खड़ा किया गया था, वह भी एक खास प्रकार की विचारधारा तथा पूर्वग्रहों की पुष्टि कर रहा था। अनेक प्रयासों के बावजूद मुझे लगा कि आयोग की इस प्रक्रिया को बदलना संभव नहीं होगा और इसकी जो रपट तैयार होगी वह देश के शैक्षिक स्वरूप में बुनियादी परिवर्तन लाने की अनुशंसाएं नहीं कर पाएगी। अतः अपने विरोध के आधारों को जनसंवाद का हिस्सा बनाने की दृष्टि से मैंने एक विस्तृत त्यागपत्र देकर अपने को आयोग से अलग कर लिया। यहां यह त्यागपत्र इसलिए प्रस्तुत किया जा रहा है चूंकि शिक्षा के मुद्दे पर उसके बाद भी जो विशेषज्ञ समितियां बनाई गई हैं उनकी कार्यप्रणाली शिक्षक आयोग की कार्यप्रणाली से खास फर्क नहीं रही हैं। अतः मेरी राय में इस त्यागपत्र में उठाए गए मुद्दे समकालीन सार्थकता रखते हैं।

प्रेस विज्ञप्ति

इस प्रेस विज्ञप्ति के माध्यम से मैं सबको सूचित करना चाहता हूं कि मैंने राष्ट्रीय शिक्षक आयोग-1 की सदस्यता से कल त्यागपत्र दे दिया है। भारत सरकार ने गत वर्ष फरवरी में इस आयोग की स्थापना करके इसे देश के लगभग 40 लाख शिक्षकों और शिक्षण व्यवसाय की तमाम समस्याओं पर अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करने का काम सौंपा था। आयोग को दिए गए 12 विचारार्थ विषयों का दायरा कितना व्यापक है, यह निम्नलिखित मुद्दों की सूची से स्पष्ट हो जाता है—शिक्षण व्यवसाय के उद्देश्य, शिक्षा के मूल्य, शिक्षकों का दर्जा और उनके कल्याण के उपाय, उनकी भरती और प्रशिक्षण का प्रश्न, शिक्षण व्यवसाय को गतिशील व आकर्षक बनाने के सुझाव, शिक्षण की बेहतर विधियां और शैक्षिक तकनालॉजी का उपयोग, शिक्षक संगठनों का काम, आचार संहिता और राष्ट्रीय व संवैधानिक लक्ष्यों की पूर्ति की दृष्टि से शिक्षक की भूमिका को पुनः परिभाषित करना इत्यादि। मेरे त्यागपत्र देने का प्रमुख उद्देश्य राष्ट्रीय आयोग द्वारा लगातार इस्तेमाल किए जाने वाले उन गैर-वैज्ञानिक, तदर्थ और

सतही लोकप्रियता हासिल करने के तरीकों के प्रति विरोध प्रकट करना है जिनकी मदद से आयोग आंकड़े और जानकारी इकट्ठी कर रहा है और जिनके आधार पर समस्याओं का विश्लेषण कर रहा है।

आयोग द्वारा अपनाई गई आपत्तिजनक विधियों का असर इसकी सभी गतिविधियों में झलकता है। उदाहरण के लिए, अपेक्षित था कि यह आयोग कोठारी शिक्षा आयोग (1964-66) की रपट का गहरा विश्लेषण करके ही अपने काम की दिशा तय करेगा, चूंकि कोठारी आयोग ने 17 वर्ष पूर्व ही वर्तमान आयोग को दिए गए लगभग सभी विचारार्थ विषयों का विस्तृत अध्ययन करके अपनी सिफारिशें प्रस्तुत कर दी थीं जिनमें से अधिकांश पर आज तक अमल नहीं हुआ है। जिन अवरोधों और परिस्थितियों के कारण कोठारी आयोग की सिफारिशें आज तक लागू नहीं हो पाई हैं, उनको बिना पहचाने और उनका विश्लेषण किए बिना आगे बढ़कर आयोग ने अपनी गैर-वैज्ञानिक तथा तदर्थ शैली का अकाट्य प्रमाण दिया है। राष्ट्रीय शिक्षक आयोग के अध्यक्ष प्रोफेसर देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय को लिखे अपने त्यागपत्र में मैंने जिन अन्य मुद्दों का उल्लेख किया है, वे निम्नांकित हैं :

1. विभिन्न प्रश्नों पर शिक्षकों के मत जानने के लिए आयोग ने एक प्रश्नावली को अपना मुख्य साधन बनाया। परंतु प्रश्नावली को वितरित करने के लिए सांख्यिकी के सभी वैज्ञानिक नियमों की अवहेलना की गई जिसके फलस्वरूप देश के शिक्षक समुदाय में से मात्र 0.25 प्रतिशत को ही प्रश्नावली मिल पाई और वह भी प्रमुखतः शहरी शिक्षकों को। चालीस लाख शिक्षकों में से केवल 3,000 शिक्षकों से (यानी मात्र 0.075 प्रतिशत से) प्रश्नावलियां वापस पाकर आयोग को संतोष करना पड़ा। आयोग के अनुसंधान प्रकोष्ठ की हाल में प्रसारित अंतरिम रपट से पता चला है कि वापस आई प्रथम एक हजार प्रश्नावलियों में से केवल 77 प्रश्नावलियां प्राथमिक स्कूलों के शिक्षकों द्वारा भरी गई हैं। चूंकि प्रश्नावलियां केवल अंग्रेजी और हिंदी में ही प्रसारित की गई थीं, अतः गैर-हिंदी भाषी क्षेत्रों में इसकी उपयोगिता केवल शहरी तथा अभिजात पृष्ठभूमि के शिक्षकों के लिए रह गई। ऐसे गैर-प्रतिनिधि आंकड़ों की जो भी थोड़ी-बहुत सार्थकता रही हो वह भी इस कारण से खत्म हो गई चूंकि प्रश्नों के क्रम में कोई आंतरिक तार्किक संबंध नहीं रखा गया और अधिकांश प्रश्न ऐसे पूर्वग्रहों से ग्रसित थे जो या तो स्पष्टतः पुरातनपंथी थे या ऐसी विचारधारा से उपजे थे जो भारत पर उसके संपन्न वर्ग की पकड़ को और अधिक मजबूत बनाती है।
2. कुछ राज्यों की राजधानी में जाना, आयोग के लिए जानकारी बटोरने और परिस्थिति को समझने का एक और प्रमुख साधन था। आयोग को इस तथ्य के प्रति सचेत करने की पूरी कोशिश की गई थी कि स्कूलों की दशा और शिक्षकों की समस्याओं का सीधा संबंध किसी भी इलाके की वस्तुगत परिस्थितियों से होता है, जिससे यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि देश का आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार

वर्गीकरण करने से ही अध्ययन का सही आधार मिलेगा। इस तर्क को नकार कर राजधानियों में जाना किन कारणों से अध्ययन का एक प्रमुख आधार बनाया गया, इस प्रश्न का तार्किक उत्तर आज तक आयोग की ओर से नहीं दिया जा सका है। जरा सोचिए कि बंबई जैसे औद्योगिक महानगर के शिक्षकों के साथ परिचर्चा करके आयोग महाराष्ट्र के गडचिरौली जैसे वनोपज पर आधारित आदिवासी जिले या बीड़ जैसे सामंती कृषि-व्यवस्था पर टिके ग्रामीण जिले के स्कूलों तथा शिक्षकों की जरूरतों का अध्ययन करने का दावा कैसे कर सकता है? अध्ययन या सर्वेक्षण की यह विधि न केवल गैर-वैज्ञानिक है, पर साथ-साथ सस्ती लोकप्रियता हासिल करने वाली भी है, चूंकि इससे यह भ्रम फैलाने की कोशिश की जा रही है कि सबके साथ लोकतांत्रिक ढंग से विचार-विमर्श हो रहा है और जन-सामान्य की आवश्यकताओं का सर्वेक्षण किया जा रहा है।

3. आयोग ने देश के व्यापक ग्रामीण और आदिवासी क्षेत्रों की शैक्षिक समस्याओं या वहां कार्यरत शिक्षकों का सर्वेक्षण करने के लिए कोई भी व्यवस्थित प्रक्रिया नहीं अपनाई। इसी प्रकार गरीबी की रेखा के नीचे या इर्द-गिर्द बसर करने वाली और स्कूली शिक्षा से आज तक अलग-थलग पड़ी देश की लगभग दो-तिहाई जनता की शैक्षिक प्राथमिकताओं तथा उनके प्रश्नों के प्रति तार्किक एवं संवेदनशील समझ बनाने का भी कोई उल्लेखनीय प्रयास आयोग ने नहीं किया है। अतः संविधान में निर्देशित प्राथमिक शिक्षा[2] के लोकव्यापीकरण के लक्ष्यों और यथार्थ के बीच बढ़ती हुई खाई को पाटने के लिए आयोग जो भी सिफारिशें करने वाला है उनके पीछे लोकव्यापीकरण की निरंतर असफलता के सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक कारणों की वैज्ञानिक समझ का आधार नहीं होगा।

4. आयोग के सचिवालय ने समय-समय पर विशेष रूप से चुनी हुई रपटें तथा पुस्तकें अपने सदस्यों को भेजकर उनके विचारों को दिशा देने की कोशिश की है। यह अचरज की बात है कि इस प्रक्रिया में शिक्षा पर उपलब्ध साहित्य की कोई भी व्यवस्थित छानबीन करने का प्रयास नहीं किया गया ताकि ऐसे अध्ययनों को चुना जा सकता जिनसे शिक्षा तथा शिक्षकों की समस्याओं को देश की वस्तुगत परिस्थिति और इतिहास के परिप्रेक्ष्य में रखकर समझने में मदद मिलती। सदस्यों को भेजे गए ऐसे एक दर्जन अध्ययनों में से लगभग आधे अध्ययन मूलतः विदेशी हैं जो पूंजीवादी तथा संपन्न पश्चिम की विचारधारा से प्रभावित हैं। स्वाभाविक है कि इन पश्चिमी अध्ययनों में गरीबी, शोषण और अल्प-विकास की सीमाओं की या इनको तोड़ने के लिए उभरे जनसंघर्षों की कोई समझ नहीं दिखती। शेष आधे अध्ययनों, जिनके लेखक भारतीय हैं, के चुनाव का आधार आयोग के सचिवालय में प्रभावशाली अधिकारियों की पंसद या उनकी जानकारी का दायरा दिखता है। सदस्यों को भेजे गए छह भारतीय अध्ययनों में से चार के लेखक सचिवालय के अधिकारी स्वयं ही हैं, जबकि भारतीय शिक्षा

पर उपलब्ध अनेक विख्यात रपटों तथा पुस्तकों की अवहेलना की गई। उदाहरणार्थ, भारत सरकार द्वारा हाल ही में स्थापित एक अनौपचारिक कार्यकारी दल (जिसके अध्यक्ष वर्तमान में आयोग के एक महत्वपूर्ण अधिकारी हैं) द्वारा शिक्षक प्रशिक्षण में मूल्यों के प्रश्न पर लिखी रपट को आयोग के मंच से व्यापक रूप में प्रसारित किया गया और आयोग द्वारा तैयार किए जा रहे विभिन्न प्रपत्रों में इसे निहायत तदर्थ तथा गैर-प्रजातांत्रिक शैली से घुसेड़ने की कोशिश की गई। परंतु स्वतंत्रता के पूर्व और पश्चात अनेक समितियों और शिक्षाविदों द्वारा शिक्षा के मूल्यों पर लिखे गए निबंधों व रपटों को आयोग के लिए चुनी गई पठनीय सामग्री में शामिल नहीं किया गया। यहां तक कि महात्मा गांधी और डॉ. जाकिर हुसैन के नेतृत्व में 1937 में आयोजित सुप्रसिद्ध वर्धा शिक्षा सम्मेलन में मूल्यों की शिक्षा पर व्यक्त किए गए विचारों की पूर्ण अवहेलना हुई, जबकि ये विचार भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान विकसित चेतना से उपजे थे।

5. आज तक आयोग सदस्यों की बैठकों में होने वाली बहस को और आयोग की शिक्षकों, शिक्षक संगठनों, आम नागरिकों, शिक्षाविदों या नीति निर्धारकों के साथ होने वाली चर्चाओं को बिना किसी तार्किक ढांचे और बिना किसी सामाजिक या ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के आगे बढ़ाया गया है। यही गैर-वैज्ञानिकता आयोग द्वारा इकट्ठे किए गए समस्त आंकड़ों की छानबीन और विश्लेषण के दौरान भी अवरोध बनती दिखी। अतः इस कमी का असर प्रश्नावली द्वारा प्राप्त उत्तरों, शिक्षक संगठनों के ज्ञापनों, स्वयंस्फूर्त पत्रों, शासकीय रपटों और राज्यों की राजधानियों में मिले मतों की जांच की प्रक्रिया पर भी पड़ा है। फरवरी 1984 में आयोजित बैठक तक तो सदस्यों द्वारा व्यक्त की गई परस्पर विरोधी मान्यताओं और मतों के आपेक्षिक महत्व या उपयोगिता का आकलन करने के लिए भी पद्धति विकसित नहीं की गई थी। जो प्रवृत्ति अभी तक उभरती दिख रही है वह है विभिन्न व्यक्तियों, समूहों या वर्गों के निहित स्वार्थों के बीच किसी भी प्रकार का समझौता करवा देने की या तालमेल बैठाने की, ताकि सब को खुश किया जा सके। इस तदर्थ और सस्ती लोकप्रियता पाने के तरीके के पीछे यह आधारहीन मान्यता दीखती है कि विभिन्न समूहों या वर्गों के बीच कोई रिश्ता नहीं है (परस्पर सहयोगी या विरोधी), और वे एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं। ऐसी गैर-वैज्ञानिक प्रक्रिया से निकली सिफारिशों में शिक्षा के लिए किसी भी ढंग की सार्थक दिशा होने की उम्मीद नहीं की जा सकती।

6. आयोग की सारी गतिविधियों में संवाद और समीक्षात्मक विश्लेषण की संस्कृति का अभाव रहा है। अकसर बुनियादी महत्व के मुद्दों पर भी विचार करते हुए ऐसा लगा जैसे कि कोई जल्दी या हड़बड़ाहट है किसी तरह काम निबटा देने की। उदाहरण के लिए आयोग के जिस उप-समूह को विभिन्न राज्यों की शिक्षक प्रशिक्षण प्रणालियों का अध्ययन करके उनमें सुधार के सुझाव देने का काम सौंपा गया था उसने शिक्षा

की पूरी दिशा पर असर डालने वाली यह महती जिम्मेदारी मात्र चार दिनों के अंदर 16 घंटों से भी कम समय में निबटा दी। इन बैठकों में इस उप-समूह के आठ में से चार सदस्य अनुपस्थित रहे और जल्दबाजी यहां तक की थी कि उप-समूह ने अपनी रपट का अंतिम प्रारूप देखे बगैर ही आयोग की जनवरी बैठक में प्रस्तुत कर दिया। आयोग द्वारा आमंत्रित विशेषज्ञों द्वारा तैयार किए गए आठ भीमकाय अध्ययनों को जनवरी बैठक के शुरू में वितरित किया गया (स्पष्ट था कि इन निबंधों को सरसरी निगाह से देख लिए जाने की भी अपेक्षा नहीं थी) और फिर फटाफट औसतन 30 मिनट में प्रत्येक रपट को 'निबटाया' गया। इस तरह विशेषज्ञों तथा विद्वानों को गंभीर निबंधों पर विचार कर लेने की खाना-पूर्ति भी हो गई। पांच उप-समूहों की रपटों को भी इसी शैली में औसतन 30-45 मिनटों में सुन-सुनाकर और अनेक बुनियादी शंकाओं को टालते हुए हरी झंडी दिखा दी ताकि ये शीघ्रातिशीघ्र आयोग की रपट का आधार बन सकें।

7. आयोग और इसके उप-समूहों की बैठकों के विवरण अकसर अपूर्ण लिखे गए और उनमें गंभीर गलतियां और विकृतियां पाई गईं। बैठकों में जो घटा और जो बाद में लिखा गया उनमें दिखने वाले अंतर मात्र भूलों के परिणाम नहीं थे, चूंकि एक विशेष प्रकार की 'भूलें' बार-बार की गईं जिससे शंका पैदा होती है। 'भूलों' में भी दिखने वाली दिशा का एकमात्र कारण समझने के लिए यह मानना जरूरी है कि बैठकों का विवरण हाथ में एक विचारधारा विशेष की कैंची पकड़कर लिखा गया—ऐसी कैंची जो उन सभी विचारों को विवरण में से काट देती थी जिनका उद्देश्य शैक्षिक प्रश्नों को भारत के सामाजिक-आर्थिक यथार्थ से जोड़ना होता था। वैज्ञानिकों के बीच ऐसी गड़बड़ को 'आंकड़ों के घपले' के नाम से जाना जाता है जिसका उपयोग जानबूझकर विश्लेषण को भ्रमित करने के लिए किया जाता है।
8. आयोग के अधिकांश सदस्यों ने स्वयं वर्तमान परीक्षा प्रणाली की तीखी आलोचना की है और परीक्षा प्रणाली में आमूल परिवर्तन लाने का आग्रह किया है ताकि रटी-रटाई बातों की जगह अवधारणाओं की समझ को विद्यार्थियों के मूल्यांकन का आधार बनाया जा सके। इसके बावजूद जब दिल्ली में देश भर से विद्यार्थियों को परिचर्चा के लिए बुलाने का प्रश्न उठा तो आयोग ने विभिन्न राज्य सरकारों को निर्देश दिए कि वे उन्हीं अर्थहीन बोर्ड परीक्षाओं में प्रथम पांच स्थान पाने वाले विद्यार्थियों को चुनकर दिल्ली भेज दें!

राष्ट्रीय आयोग के काम से नाता तोड़ते हुए, और वह भी उसके द्वारा भारत सरकार को अपनी अंतरिम रपट पेश करने के मात्र एक सप्ताह पहले, मैं उस उत्तरदायित्व का पूर्णतः अहसास कर रहा हूं जो आयोग के सदस्य के रूप में मेरे कंधों पर है, विशेषकर जबकि मुझे अच्छी तरह मालूम है कि आयोग जो भी सिफारिशें करेगा उसका सातवीं पंचवर्षीय योजना पर सीधा प्रभाव पड़ने की संभावना है। दरअसल, अपने उत्तरदायित्व के इस अहसास

से ही मुझ वह प्रेरणा मिली है जिसके आधार पर विगत कई महीनों से मैं आयोग के अंदर आंकड़ों को इकट्ठा करने के वैज्ञानिक और विश्वसनीय तरीके स्थापित करने, समस्याओं का विश्लेषण करने के लिए एक तार्किक ढांचा खड़ा करने और परस्पर विरोधी मतों तथा सिफारिशों के बीच विवेक करने के लिए एक सामाजिक तथा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य विकसित करवाने के लिए जूझता रहा हूं। आज जब मुझ यह दिख रहा है कि इस प्रयास में मुझे अंश मात्र भी सफलता नहीं मिल पाई है तब मुझे इस नाजुक समय पर आयोग की सदस्यता से त्यागपत्र देने के लिए बाध्य होना पड़ा है। यह मेरा विश्वास है कि इस प्रकार की गलत पद्धतियों का उपयोग जारी रखने और समस्याओं के विश्लेषण के लिए आवश्यक तार्किक ढांचे की अवहेलना करते रहने से आयोग ने यह तय कर दिया है कि वह कभी भी यथार्थ को नहीं पहचान पाएगा और उसकी सिफारिशें भ्रम, दुविधा और अविश्वसनीयता से ग्रसित रहेंगी। मुझे यह आशा है कि अपने विरोध को सार्वजनिक रूप से प्रकट करके मुझ देश के नागरिकों का ध्यान आयोग द्वारा उपयोग में लाए गए उन आपत्तिजनक तरीकों पर केंद्रित करने में सफलता मिलेगी जिनके आधार पर तैयार की गई अंतरिम रपट आयोग इस माह के अंत में प्रस्तुत करने जा रहा है। मुझे यह भी उम्मीद है कि इस त्यागपत्र से देश के सामने खड़े बुनियादी शैक्षिक प्रश्नों पर एक स्वस्थ संवाद शुरू हो सकेगा जिसके आधार पर संभवतः आयोग को अपने काम का पुनरावलोकन करने के लिए बाध्य किया जा सके और साथ-साथ जनता की पहल पर एक स्वतंत्र मंच का निर्माण हो जहां से जनसामान्य के हित में शैक्षिक मुद्दों का वैज्ञानिक विश्लेषण संभव हो।

23 मार्च 1984
किशोर भारती
ग्राम : पलिया पिपरिया
जिला : होशंगाबाद (मध्य प्रदेश)

संदर्भ और टिप्पणियां

1. राष्ट्रीय शिक्षक आयोग का गठन दो स्तरों पर अलग-अलग किया गया था—राष्ट्रीय शिक्षक आयोग—1 जिसका विचारार्थ दायरा स्कूली शिक्षा का था (लेखक भी इसी आयोग का सदस्य था) एवं राष्ट्रीय शिक्षक आयोग—2 जिसका विचारार्थ दायरा उच्च शिक्षा (विश्वविद्यालयीन तथा महाविद्यालयीन) का था. दोनों आयोगों की रपटें भी अलग-अलग प्रकाशित हुईं.
2. हालांकि इससे आशय आठ साल की प्रारंभिक शिक्षा से था, लेकिन प्राथमिक-प्रारंभिक स्तरों के संबंध में व्याप्त भ्रम से यह त्यागपत्र भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहा.

दस्तावेज क्र. 2

किशोर भारती

एक सामाजिक प्रयोग समेटने पर

मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले के पूर्वी छोर पर स्थित 'किशोर भारती' संस्था की शुरुआत 1971-72 में हुई थी। मेरा जुड़ाव इस प्रक्रिया के जन्म से ही रहा। संस्था के काम के लिए राज्य सरकार ने 150 एकड़ (बाद में गांव के लिए रास्ते की जमीन काटकर शेष 148.29 एकड़) भूमि का तीस वर्ष के लिए शासकीय पट्टा (लीज) दिया था। अगले डेढ़ दशक में संस्था अपने विभिन्न सामाजिक और शैक्षिक प्रयोगों के कारण सामाजिक परिवर्तन के लिए काम करने वाले साथियों के लिए राष्ट्रीय स्तर पर आकर्षण का केंद्र बनी। इसके द्वारा पूरे जिले के 220 सरकारी मिडिल स्कूलों में किया गया हस्तक्षेप देश भर में 'होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम' के नाम से जाना गया। इसी कार्यक्रम ने 1982-83 में 'एकलव्य' संस्था की स्थापना हेतु नींव का काम किया। अपने स्वैच्छिक और पंजीकृत चरित्र के बावजूद संस्था परिवर्तन के लिए संघर्षरत जन संगठनों एवं आंदोलनों के साथ जुड़ी। इसी क्रम में संस्था ने ग्राम पलिया पिपरिया के मजदूर संगठन के गठन, प्रदेश भर में लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए चेतना जागरण एवं भोपाल गैस कांड के बाद गैस पीड़ितों का आंदोलन खड़ा करने में सक्रिय भूमिका निभाई। लेकिन फरवरी 1989 में तीन-चार वर्षों के विचार-विमर्श के बाद संस्था ने अपने सभी कार्यक्रम समेटने एवं शासकीय पट्टे पर मिली भूमि (साथ में उस पर खड़ी की गई पूरी अचल संपत्ति) को राज्य सरकार को सौंपने का निर्णय लिया। इस निर्णय को क्रियान्वित करने में लगभग दो साल लगे। जब 1989 में संस्था ने राज्य सरकार को लीज पर मिली भूमि लौटाने का निर्णय लिया तब भोपाल में कांग्रेस की सरकार थी लेकिन 1991 में सारी कार्रवाई पूरी करके जब भूमि का कब्जा सौंपने का समय आया तब भारतीय जनता पार्टी की सरकार थी। इस दौरान संस्था को अनेक बाधाओं से गुजरना पड़ा। एक ओर, राज्य सरकार की नौकरशाही और तत्कालीन सत्तारूढ़ पार्टी (भाजपा) के प्रदेश-स्तरीय या जिला-स्तरीय नेताओं की राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ-समर्थक राजनीति थी। दूसरी ओर, दलितों एवं आदिवासियों के नाम पर अपने मध्यमवर्गीय स्वार्थों को पोषित करने वाले ग्रामीण तथा शहरी दोनों पृष्ठभूमियों के तथाकथित समाजकर्मी थे। इन तमाम बाधाओं के बावजूद संस्था ने स्वयं को समेटने वाला निर्णय क्रियान्वित करके स्वैच्छिक कार्यक्षेत्र में एक ऐतिहासिक मिसाल स्थापित की। उस समय संस्था द्वारा प्रसारित दस्तावेज (नवंबर 1991) का संक्षिप्त संपादित स्वरूप यहां प्रस्तुत है।

निर्णय की पृष्ठभूमि

किशोर भारती कार्यकारिणी समिति द्वारा संस्था के सभी कार्यक्रम बंद करने के संबंध में फरवरी 1989 में लिए गए औपचारिक निर्णय को क्रियान्वित करने का काम न तो इतना सरल था और न ही सुखद। कई ऊबड़-खाबड़ रास्तों से गुजर कर और विरोध-प्रतिरोध की अनेक खाइयों को पार करके ही यह निर्णय क्रियान्वित हो सका है। वैसे तो किशोर भारती को समेट देने की बात 1978-79 में ही शुरू हो गई थी। परंतु हर बार हममें से ही कोई न कोई व्यक्ति, कुछ न कुछ नया तर्क देकर किशोर भारती के अस्तित्व को मध्य प्रदेश में सामाजिक परिवर्तन के लिए आवश्यक सिद्ध कर देता था और हमारे कार्यक्रमों की गाड़ी एक बार फिर से नए जोश के साथ आगे बढ़ जाती थी। संस्था का काम समेटने का यह प्रस्ताव बार-बार क्यों उठता रहा और हर बार निर्णय का रूप लेने के पहले ही क्यों वापस ले लिया जाता था ? यहां इतना कहना ही यथेष्ट है कि जून 1987 की बैठक में इस मुद्दे पर स्पष्ट निर्णय लेने के इरादे से कार्यकारिणी समिति ने तत्कालीन कार्यकर्ताओं के अलावा पूर्व में जुड़े हुए कई अन्य साथियों को भी आमंत्रित किया था। इस व्यापक भागीदारी में चली एक लंबी बहस तथा अनेक मतभेदों के बाद यह बैठक संस्था की समस्त गतिविधियों को बंद कर देने एवं परिसर की भूमि शासन को लौटा देने के निर्णय पर पहुंच तो पाई, हालांकि विभिन्न साथियों ने इसके अलग-अलग आधार प्रस्तुत किए। ये आधार सारांश में इस प्रकार हैं :

1. किशोर भारती, शिक्षा के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन लाने के उद्देश्य से शुरू की गई थी। नाना प्रकार के प्रयोगों के बाद यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सामाजिक परिवर्तन, स्वैच्छिक संस्थाओं के माध्यम से नहीं, वरन राजनीतिक आंदोलनों तथा जन संगठनों के माध्यम से होता है। इस प्रक्रिया में स्वैच्छिक संस्थाओं की भूमिका कुछ नए रास्ते खोजने और उत्प्रेरक की आवश्यकता हो सकती है, परंतु नेतृत्व की नहीं। प्रगतिशील राजनीतिक आंदोलनों तथा जन संगठनों के अभाव में स्वैच्छिक संस्थाओं की इस सहयोगी भूमिका का दायरा इतना सिमट जाता है कि उनमें लगने वाली भारी-भरकम ऊर्जा और साधनों की सार्थकता पर ही प्रश्नचिन्ह लग जाता है।
2. सामाजिक परिवर्तन के उद्देश्य से शिक्षा और आर्थिक विकास के जो भी प्रयोग कार्यकर्ता समूह करना चाहता था या कर सकता था, वे पहले 14 सालों में (197273 से 1986-87 तक) किए जा चुके थे। उसके बाद कार्यक्रम या प्रकल्प केवल इसलिए उठाए जा रहे थे चूंकि उनका उठाना संस्था और कार्यकर्ताओं के अपने अस्तित्व को बनाए भर रखने के लिए जरूरी हो गया था।
3. पिछले कुछ वर्षों से कार्यक्रमों में दिशाहीनता झलक रही थी और समूह में ऐसा नेतृत्व नहीं था जो इस भ्रम की स्थिति को दूर करके स्पष्ट दिशा दे सके।

4. नेतृत्व की कमजोरी एवं दिशाहीनता के कारण संस्था की स्थिति लुढ़कती सी गई, हालांकि हममें से कई लोगों को यह स्वीकारने में बहुत मनोवैज्ञानिक दिक्कत आई। इसका साफ असर लोगों की कार्यकुशलता एवं स्वप्रेरणा पर दिखने लगा था। इसके कारण कार्यकर्ताओं के आपसी संबंधों को भी लेकर नाना प्रकार की उलझनें पैदा हो गई थीं और निरर्थक विवाद उभरने लगे थे।
5. कार्यक्रमों की कसौटी उनके सामाजिक उद्देश्यों के पूर्ति न होकर, क्रियाओं को मात्र चलाते रहना ही हो गई थी।

बेशक, उपरोक्त अवलोकन एवं तर्कों से जून 1987 की बैठक के सभी सहभागी सहमत नहीं थे। एक अल्पमत भी था (जो फरवरी 1989 के औपचारिक निर्णय तक कायम रहा) जिसके अनुसार किशोर भारती जैसी संस्थाओं का बने रहना ही सामाजिक परिवर्तन के लिए आवश्यक लग रहा था। उपरोक्त पांचों आधारों को लेकर समस्त गतिविधियां बंद करने व परिसर लौटाने का निर्णय सैद्धांतिक तौर पर लिया तो गया पर उसका क्रियान्वयन तीन वर्षों के लिए स्थगित कर दिया गया। ऐसा इसलिए करना पड़ा चूंकि कुछ कार्यकर्ताओं ने अपनी पहल पर मानव संसाधन विकास मंत्रालय (भारत सरकार) को तीन नए प्रकल्प अनुदान हेतु भेज दिए थे और वे उनको क्रियान्वित करने के लिए उत्सुक थे। कार्यकारिणी समिति ने अपनी परंपरानुसार कार्यकर्ताओं की इस इच्छा का आदर करते हुए परिसर समेटने के अपने निर्णय को तीन साल तक स्थगित रखने की घोषणा की।

अगले दो वर्षों (1987-89) के दरमियान भी उक्त निर्णय को बदलकर संस्था के तत्वावधान में एक ग्रामीण विश्वविद्यालय (राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1986 के अनुसार) या एक कृषि-आधारित व्यावसायिक स्कूल स्थापित करने के प्रस्ताव भी सामने आए। परंतु नेतृत्व अभाव, क्रियान्वयन का बीड़ा उठाने की तैयारी में कमी एवं विचारों की अस्पष्टता के कारण इन पर अमल करना संभव नहीं हो सका। 1988 खत्म होते-होते एक ऐसी स्थिति भी बनी जब किशोर भारती का कोई भी वरिष्ठ कार्यकर्ता संस्था के संचालन या कार्यक्रमों को दिशा देने की भी जिम्मेदारी उठाने को तैयार न था। अतः फरवरी 1989 की बैठक में कार्यकारिणी समिति ने अपने दो वर्ष पुराने निर्णय को क्रियान्वित करने के लिए हरी झंडी दे दी।[1] इसके बाद भी परिसर में ग्रामीण विश्वविद्यालय या व्यावसायिक स्कूल स्थापित करने के प्रयास विभिन्न समूहों द्वारा चालू रहे, परंतु कार्यकारिणी समिति द्वारा बार-बार दिए गए प्रोत्साहन एवं अवसरों के बावजूद वे ठोस रूप न ले सके।

सामग्री का वितरण

किशोर भारती संस्था ने अपने लगभग बीस वर्षों के कार्यकाल में जो संसाधन और चल संपत्ति जुटाई थी उसका क्या किया गया, इसकी संक्षेप में जानकारी इस प्रकार है :

– परिसर में स्थित पुस्तकालय (फर्नीचर सहित), अक्टूबर 1990 में *मध्य प्रदेश विज्ञान सभा, भोपाल* को सौंप दिया गया।

– परिसर में स्थित दस्तावेज केंद्र, अक्टूबर 1990 में मध्य प्रदेश शासन की *प्रशासन अकादमी, भोपाल* को सौंप दिया गया।

– शहीद भगतसिंह पुस्तकालय एवं सांस्कृतिक केंद्र, पिपरिया, अगस्त 1990 में *पिपरिया की नवचेतना समिति* को सौंपा गया जो पिपरिया में एक अच्छा हाई स्कूल चला रही है।

– बाल संदर्भ पुस्तकालय, जून 1991 में दो वर्ष के लिए *मध्य प्रदेश विज्ञान सभा, भोपाल* को सौंपा गया। बच्चों के लिए कार्यशालाएं करने और बाल साहित्य की रचना हेतु इसका उपयोग किया जाएगा।

– शेष पुस्तकें निम्नांकित संस्थाओं तथा स्कूलों को दी गई :

- बनखेड़ी विकासखंड (जिला होशंगाबाद) के दो हाई स्कूल-*शासकीय उच्चतर माध्यमिक शाला,* बनखेड़ी और चांदौन;
- पिपरिया शहर का एक प्राइवेट स्कूल (*ज्ञानोदय सोसायटी* का महेश कान्वेंट स्कूल);
- *रूपांतर (रायपुर, म.प्र.)* -'दिशा' ट्रस्ट (दिल्ली) का औपचारिकेतर शिक्षा केंद्र;
- *श्री सार्वजनिक पुस्तकालय, गाडरवाड़ा* (जिला नरसिंहपुर, म.प्र.), एवं
- *एकलव्य, भोपाल* को उनके पिपरिया फील्ड सेंटर हेतु।

– शिक्षण साधन, अंग्रेजी से हिंदी में अनूदित चयनित शिक्षा साहित्य और बाल गतिविधियों से संबंधित अन्य सामग्री, एकलव्य, भोपाल को उनके पिपरिया फील्ड सेंटर हेतु दी गई।

– जीप (4-व्हील ड्राइव, 1988 मॉडल), निर्माण (नई दिल्ली) को नर्मदा बचाओ आंदोलन के उपयोग हेतु दी गई।

– मानव संसाधन विकास मंत्रालय (भारत सरकार) से प्राप्त अनुदान में से खरीदी गई पूंजीगत सामग्री का वितरण इस प्रकार किया गया :

- मध्य प्रदेश विज्ञान सभा, भोपाल;
- गांधी भवन, भोपाल;
- सेवा, भोपाल;
- अर्धशासकीय संस्था नर्मदा निर्मिती, होशंगाबाद;
- नवचेतना समिति, पिपरिया; और
- बनखेड़ी एवं पिपरिया क्षेत्र के कुछ शासकीय और निजी स्कूल।

(उक्त वितरण को मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने अपनी औपचारिक स्वीकृति प्रदान कर दी है।)

— किशोर भारती ने अपने स्रोतों (दान एवं विविध आय) से जुटाई गई चल संपत्ति पिपरिया और बनखेड़ी क्षेत्र के लोगों को बाजार मूल्य पर बेच दी है या अभी भी बेची जा रही है।

— कुछ सामग्री किशोर भारती के पिपरिया में जनवरी 1991 में स्थापित नए कार्यालय के लिए बचा ली गई है।

जमीन-जंगल का मामला

परिसर के लगभग 40 एकड़ में किशोर भारती संस्था द्वारा अपने स्रोतों से लगाए गए सामाजिक वन एवं 80 एकड़ जमीन के मामले पर कुछ कहना आवश्यक है। 1981 में संस्था की पहल पर ग्राम पलिया पिपरिया के लगभग 80 भूमिहीन तथा अन्य गरीब परिवारों को संगठित करके एक मजदूर संगठन[2] बनाया गया था। संस्था ने इस संगठन के साथ अपने औपचारिकेतर (नॉन फार्मल) शिक्षण एवं चेतना जागरण कार्यक्रम के तहत दो प्रक्रियाएं शुरू की थीं :

एक, लगभग 80 एकड़ जमीन के एक-एक एकड़ के भूखंड बनाकर इन पर उन परिवारों को खेती करने की अनुमति दी गई।
दो, संस्था द्वारा लगाए एग 40 एकड़ के सामाजिक वन के उत्पादन (लकड़ी, बांस, लाख, घास आदि) को संगठन के सदस्यों को प्राथमिकता बतौर बाजार मूल्य से कुछ कम दर पर उपलब्ध कराया जाता रहा।

जब संस्था ने फरवरी 1989 में परिसर शासन को लौटाने का निर्णय लिया तो कार्यकारिणी समिति ने यह भी तय किया कि वह शासन से सहयोग लेकर इन भूखंडों का पट्टा उन पर खेती करने वाले परिवारों को निजी या सामूहिक तौर पर दिलवाने का प्रयास करेगी और संस्था के सामाजिक वन की शासकीय तंत्र में ऐसी व्यवस्था करवा देगी कि उसके उत्पादन का लाभ संगठन के सदस्यों को पूर्ववत मिलता रहे। अगस्त 1989 में संगठन द्वारा यह प्रस्तावित किया गया था कि इन भूखंडों का पट्टा उन्हें किसी सामूहिक व्यवस्था के तहत दिलवाया जाए, निजी तौर पर नहीं। उक्त प्रस्ताव के अनुसार संस्था ने शासन से इस मुद्दे पर विचार-विमर्श शुरू कर सहकारिता के आधार पर पट्टा दिलवाने एवं जंगल की उचित व्यवस्था करवाने की दिशा में महत्वपूर्ण निर्णय भी करवा लिए थे। इस दिशा में राजस्व विभाग ने कार्रवाई शुरू करते हुए कलेक्टर, होशंगाबाद को प्रारंभिक निर्देश भी जारी कर दिए थे।

उपरोक्त ठोस प्रगति की जानकारी मिलने पर किसान मजदूर संगठन (ग्राम पलिया पिपरिया) के केंद्रीय नेतृत्व, समता संगठन (पिपरिया) एवं किसान आदिवासी संगठन (केसला) ने किशोर भारती के कुछ पूर्व कार्यकर्ताओं तथा एकलव्य संस्था के कुछ सदस्यों के साथ मिलकर हमको एक संयुक्त पत्र द्वारा सूचना दी कि किसान मजदूर संगठन जमीन और

जंगल के इस मसले को सरकार से हल करवाने में पूर्णतः सक्षम है, इसलिए अब उसे इस मुद्दे पर संस्था से किसी प्रकार की मदद नहीं चाहिए।[3] पत्र के इस आशय की पुष्टि संस्था ने संगठन की एक खुली बैठक में जाकर की तथा उसके बाद शासन के साथ सफलतापूर्वक चल रही बातचीत को बीच में ही रोकना पड़ा। आज हम केवल यही उम्मीद कर सकते हैं कि उपरोक्त सभी संगठन और लोग स्वेच्छा से उठाई गई इस सामाजिक जिम्मेदारी को पूरा करेंगे ताकि ग्राम पलिया पिपरिया के दलित-आदिवासी और अन्य गरीब परिवारों का कोई नुकसान न हो।

परिसर का भावी उपयोग

जिस परिसर का कब्जा राज्य शासन को जनवरी 1991 में सौंपा गया है उसे शिक्षा एवं कृषि संबंधी क्रियाकलापों हेतु विकसित किया गया था। उस पर कंक्रीट रिंग के बने नौ कुएं (स्थायी जल स्रोत वाले), कई भवन (आवास, संगोष्ठी कक्ष एवं गोदाम समेत), गोशाला, गोबर गैस प्लांट आदि खड़े हुए हैं। लगभग 100 एकड़ जमीन कंटीली तारों की पक्की फेंसिंग से घिरी हुई है। परिसर पर संस्था द्वारा मूल्यवान फलोद्यान एवं सामाजिक वन विकसित किए गए हैं। हमारे द्वारा करवाए गए मूल्यांकन के अनुसार शासन को सौंपी गई संपत्ति का आज की कीमतों पर मूल्य 30.6 लाख रुपए आंका गया है (सामाजिक वन एवं फलोद्यान का मूल्य ही लगभग 10 लाख रुपए का है)। स्पष्ट है कि संस्था को इस बात की चिंता है कि शासन इस परिसर का क्या उपयोग करेगा। हम चाहते हैं कि परिसर का उपयोग शासकीय तत्वावधान में इस अंचल के विकास हेतु इस प्रकार हो कि इसका सर्वाधिक लाभ अंचल के कमजोर तबके को प्राथमिकता बतौर मिले। हम यह भी चाहते हैं कि किशोर भारती द्वारा किए गए शैक्षिक काम की लंबी एवं समृद्ध परंपरा को देखते हुए शासन परिसर का उपयोग शिक्षा हेतु ही करे। अतः परिसर वापस करने के संबंध में राज्य शासन को भेजे गए विभिन्न पत्रों में संस्था ने लिखा है कि यदि इस परिसर पर शासकीय तत्वावधान में एक ग्रामीण विश्वविद्यालय अथवा व्यावसायिक हाई स्कूल स्थापित किया जाता है तो उसके लिए संस्था हर प्रकार का समर्थन देने को तत्पर है। इसी तारतम्य में संस्था की ओर से पूरी नर्मदा घाटी के संदर्भ में आंचलिक विकास के उद्देश्य से काम करने वाले एक शोध, शिक्षण एवं प्रशिक्षण संस्थान का खाका तैयार करके राज्य शासन को प्रस्तुत किया गया जिसमें कालांतर में इस संस्थान को ग्रामीण विश्वविद्यालय में विकसित करने का प्रस्ताव भी शामिल था। इन प्रस्तावों के समर्थन में अनेक स्थानीय नागरिकों ने शासन को ज्ञापन भी दिए। संस्था के प्रतिनिधियों ने भी कई बार मुख्यमंत्री, मंत्रिपरिषद के कई वरिष्ठ सदस्यों एवं स्थानीय सांसद तथा विधायकों से मिलकर इन प्रस्तावों से पूरे अंचल को होने वाले लाभों को रेखांकित किया और क्रियान्वयन हेतु ठोस सुझाव भी रखे। इन प्रयासों के बावजूद राज्य शासन की इस संदर्भ में निष्क्रियता और मौन हमारी समझ के परे है।[4]

आगे की बात

संस्था ने 1972 से लेकर 1989 तक शैक्षिक परिवर्तन एवं आर्थिक विकास के अभिनव प्रयोग निरंतर किए, यह आप भली भांति जानते ही हैं। सीमेंट कंक्रीट रिंगों से बने एक हजार से अधिक कुएं आज इस क्षेत्र की हजारों एकड़ जमीन को सींच रहे हैं जिसके फलस्वरूप इस क्षेत्र में एक फसल की जगह दो या तीन फसलें ली जा रही हैं। संस्था के गोसंवर्धन कार्यक्रम के कारण ही आज इस इलाके में सैकड़ों दुधारू संकर गाएं देखी जा सकती हैं। 'होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम' ने स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में कई नए आयाम स्थापित करके देश भर में अपनी एक अलग पहचान बनाई है। इस कार्यक्रम की बुनियाद पर ही 'एकलव्य' संस्था का 1982-83 में गठन किया गया जिसकी स्थापना में किशोर भारती ने केंद्रीय भूमिका निभाई। संस्था के द्वारा चलाए गए सामाजिक चेतना जागृत करने के अनेक कार्यक्रमों का स्पष्ट प्रभाव आज पिपरिया व बनखेड़ी क्षेत्र में दिख रहा है। संस्था द्वारा चलाए गए पुस्तकालय (विशेषकर सचल पुस्तकालय) और अन्य औपचारिकेतर शिक्षण कार्यक्रमों (उदाहरणतः युवा प्रशिक्षण, जरूरी दवाई सुविधा, प्रजनन जागरूकता, महिला चेतना, बाल गतिविधियों आदि) ने सामाजिक परिवर्तन की दिशा में नए मील पत्थरों का काम किया है। परंतु कुल मिलाकर इस प्रक्रिया का समाज पर किस प्रकार का प्रभाव पड़ा है और उससे स्वैच्छिक पहलकदमी को कैसी दिशा मिलती है, यह एक गहरे शोध का विषय होना चाहिए। हमारा इरादा है कि हम अपने अनुभवों को समाज के सामने इस प्रकार पेश करें कि स्वैच्छिक काम की संभावनाएं, सीमाएं एवं उसकी राजनीतिक भूमिका स्पष्टता से उजागर हो सके।

उपसंहार

लगभग बीस वर्षों के काम को समेटना और अपनी कर्मभूमि से संस्था को बाहर निकालना परेशानियों एवं पीड़ाओं के बगैर संभव हुआ हो, यह दावा तो हम नहीं कर सकते। समिति के इस निर्णय के बारे में सहमति तथा मतभेदों की गुंजाइश हमेशा बनी रहेगी। एक खुली बहस चलनी ही चाहिए। किंतु एक बात पर हम अवश्य जोर देना चाहेंगे कि किशोर भारती सामाजिक परिवर्तन की दिशा में एक प्रयोग था जिसको हमने तब तक चलाया जब तक हमें उसमें प्रयोग की गुंजाइश दिखी। परंतु इसके पहले कि प्रयोग 'दुकानदारी' या 'मठ' बन जाता (चाहे यह हमारी कमजोरियों के कारण ही क्यों न हो), हमने प्रयोग को बंद करने का निर्णय लिया और निर्णय को पक्के इरादे के साथ क्रियान्वित भी किया। यह तो भविष्य ही बताएगा कि यह निर्णय कहां तक सही था।

किशोर भारती जैसी बहुआयामी एवं जिला-स्तर पर सक्रिय संस्था का स्वेच्छा से अपने को समेट लेना भारत के स्वयंसेवी कार्यक्षेत्र के इतिहास में निस्संदेह एक अनूठी घटना है। अपनी संस्था, संपत्ति और कार्यक्रमों से मोह तोड़कर इस प्रकार का निर्णायक कदम उठाना

किसी भी मायने में आसान काम न था। कतिपय निहित स्वार्थों एवं दिग्भ्रमित तत्वों द्वारा इस प्रक्रिया में जो अवरोध पैदा किए गए, वे अनपेक्षित नहीं थे और उनके कारण इस निर्णय के औचित्य में हमारा विश्वास और भी अधिक गहरा हुआ। आम तौर पर स्वैच्छिक संस्थाओं की यह नियति रही है कि अपने शिखर पर पहुंचने के बाद उनके नैतिक बल एवं गुणवत्ता में गिरावट आती है। उस स्थिति में संस्था में उपस्थित स्वार्थी तत्व मठाधीश बन जाते हैं। इस संदर्भ में किशोर भारती द्वारा समय रहते अपने को समेट लेने का निर्णय अन्य स्वैच्छिक संस्थाओं के लिए अध्ययन का विषय होगा, ऐसी हम उम्मीद करते हैं। यदि अन्य समानधर्मी संस्थाएं भी सामाजिक परिवर्तन में अपनी संभावनाओं एवं सीमाओं को वस्तुनिष्ठ ढंग से पहचान सकें तो स्वैच्छिक कार्यक्षेत्र की राजनीतिक भूमिका का वैज्ञानिक प्रतिपादन संभव हो सकेगा।

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. इसके बावजूद यह स्पष्ट समझ थी कि परिसर समेटने की प्रक्रिया के दौरान मानव संसाधन विकास मंत्रालय (भारत सरकार) द्वारा स्वीकृत तीनों शैक्षिक प्रकल्पों को पूरा करने की जिम्मेदारी संस्था निभाएगी.
2. आज ग्राम पलिया पिपरिया का जो संगठन किसान मजदूर संगठन के नाम से जाना जाता है वह उस मजूदर संगठन से सर्वथा भिन्न है जो किशोर भारती की पहल पर 1981 में शुरू हुआ था.
3. खेतिहर मजदूरों एवं छोटे किसानों के संगठनों के इतिहास में संभवतः यह पहला उदाहरण होगा जब संगठन के केंद्रीय नेतृत्व ने भूमि का शासकीय पट्टा मिलने के काम पर रोक लगवाई हो. जिन शहरी मध्यमवर्गीय समाजकर्मियों ने संगठन के केंद्रीय नेतृत्व के इस निर्णय का समर्थन किया, उनको मजदूर-किसानों को भूमि और जंगल से वंचित रखने में क्या प्रगतिशीलता दिखी, यह आज भी हमारी समझ से परे है.
4. लगभग एक साल के रहस्यमय मौन के बाद मध्य प्रदेश की भारतीय जनता पार्टी की सरकार ने हमारे हर रचनात्मक प्रस्ताव और विरोध को नजरअंदाज करके किशोर भारती संस्था का परिसर होशंगाबाद जिले के टिमरनी विकासखंड की राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से संबंधित एक ट्रस्ट को सौंप दिया. इस निर्णय ने सत्तारूढ़ पार्टी की संकीर्ण स्वार्थ से प्रभावित एवं पक्षपातपूर्ण दृष्टि का प्रमाण दिया. इसके अलावा सरकार ने तत्कालीन मुख्यमंत्री एवं शिक्षामंत्री द्वारा किशोर भारती को दिए गए वादों को भी तोड़ा. न तो परिसर पर शासकीय तत्वावधान में ग्रामीण विश्वविद्यालय या व्यावसायिक हाई स्कूल स्थापित किया गया और न ही नर्मदा घाटी के विकास हेतु शोध, शिक्षण एवं प्रशिक्षण संस्थान बनाने के प्रस्ताव पर कोई ध्यान दिया गया. सबसे अधिक पीड़ा की बात यह है कि परिसर के एक-एक एकड़ के भूखंडों पर लगभग दस साल से खेती करने वाले अस्सी दलित-आदिवासी तथा अन्य गरीब परिवारों को पट्टे भी नहीं दिए और न ही किशोर भारती द्वारा मजदूर संगठन के सहयोग से लगाए गए चालीस एकड़ के सामाजिक वन के उपयोग का अधिकार संगठन को दिया गया. इससे भी अधिक विचारणीय मामला यह है कि वे सब तथाकथित 'समाजकर्मी' आज मौन हैं जिन्होंने एक संयुक्त पत्र के जरिए मजदूर संगठन को न्याय दिलवाने की जिम्मेदारी उठाई थी और किशोर भारती द्वारा संगठन के सदस्यों को जमीन के पट्टे एवं सामाजिक वन के उपयोग का अधिकार दिलवाने हेतु चलाई गई प्रक्रिया को

उसके अंतिम चरण पर रुकवा दिया था. उस समय अपनी 'प्रगतिशीलता' दिखाने के लिए इन 'समाजकर्मियों' ने अपने सामूहिक पत्र में दावा किया था कि हमें किशोर भारती की कोई मदद नहीं चाहिए और हम मजदूर संगठन को जमीन और जंगल दिलवाने में पूर्णतः सक्षम हैं. लेकिन इन 'समाजकर्मियों' ने दस वर्ष बाद भी अपना वादा पूरा करने के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाया, न नौकरशाही के स्तर पर, न आंदोलन का दबाव बनाकर. ये लोग अपनी इस कर्महीनता एवं वादाखिलाफी पर ग्लानि व्यक्त करने तक की ईमानदारी बरत नहीं पाए. उलटे, शोध परचों और लेखों के जरिए 'विद्वतापूर्ण' तर्क गढ़कर ये लोग किशोर भारती परिसर पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से संबंधित एक ट्रस्ट स्थापित होने और उसके जरिए हिंदू कट्टरवादी गतिविधियों के उस क्षेत्र में फैलाए जाने के नाम पर एक बार फिर मगरमच्छी आंसू बहा रहे हैं और चिंता जाहिर कर रहे हैं, हालांकि कर अभी भी कुछ नहीं रहे. काश, यह चिंता 1990-91 में जाहिर की होती ताकि किशोर भारती की भूमि का पट्टा मजदूर-किसानों की एक सहकारी समिति को मिल जाता और भाजपा सरकार को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से संबंधित ट्रस्ट को स्थापित करने की गुंजाइश तक नहीं मिलती. अब यह सवाल इन नामी-गिरामी 'समाजकर्मियों' (इनमें से कुछेक अब 'बुद्धिजीवी' का भी दर्जा पा चुके हैं) से इतिहास पूछेगा.

दस्तावेज क्र. 3

क्या शिक्षा का लोकव्यापीकरण संभव है

प्रारंभिक शिक्षा का लोकव्यापीकरण विगत पांच दशकों से भारतीय राजनीति की सामाजिक कटिबद्धता पर एक प्रमुख प्रश्नचिह्न बना हुआ है। संसद में तीन बार राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1968, 1986, 1992) के दस्तावेजों में 6-14 वर्ष आयु समूह के सभी बच्चों को शिक्षा उपलब्ध कराने का संकल्प दोहराया गया है। लेकिन आज भी देश के आधे बच्चे और दो-तिहाई लड़कियां स्कूली शिक्षा से वंचित हैं। 1993-94 से विश्व बैंक और अनेक अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय एजेंसियां भी इस अखाड़े में उतर आई हैं। भारत सरकार अगली पीढ़ी पर 2500 करोड़ रुपए का विदेशी कर्ज थोपकर उम्मीद दे रही है कि यह संवैधानिक लक्ष्य अब पूरा हो जाएगा। लेकिन इसके आसार अभी भी नहीं दिख रहे। 1998 के आम चुनाव में किसी भी राजनीतिक दल ने अपने चुनावी घोषणापत्र में इस वादे को पूरा करने का लक्ष्य वर्ष देने का साहस नहीं किया था। यदि वर्तमान नीतियां और रणनीतियां बदली नहीं गईं तो ये लक्ष्य शायद अगली सदी के 20-25 वर्षों तक भी पूरा न हो सके। लेकिन मेरा यह मानना है कि यदि राजनीतिक इच्छाशक्ति के साथ नीतियां बदली जाएं तो अगले पांच-दस वर्षों के अंदर ही देश के सभी बच्चों को स्कूली शिक्षा दी जा सकती है। इस मुद्दे को लेकर 1998 के आम चुनावों के ठीक पहले 'स्कूल टु डे' द्वारा लिया गया साक्षात्कार नीचे प्रस्तुत है।

आजादी के पचास वर्ष बाद आज इस बात पर विचार किया ही जाना चाहिए कि वे कौन से कारक और कारण रहे हैं, जिनके चलते देश पूर्ण साक्षर नहीं हो पाया है। स्वतंत्रता के बाद जितनी भी सरकारें बनीं, उन्होंने कभी भी शिक्षा को प्राथमिकता की श्रेणी में नहीं रखा। इस सबके बावजूद देश में शिक्षा का अनुष्ठान अपने-अपने ढंग से अलग-अलग स्तरों पर चलता रहा। कुछ संस्थाएं तथा व्यक्ति शिक्षा की स्थिति पर लगातार विचार करते रहे। उसमें सुधार के लिए अपने-अपने ढंग से अलग-अलग स्तरों पर काम भी करते रहे। आजादी की स्वर्ण जयंती वर्ष में मनाए जाने वाले गणतंत्र दिवस के अवसर पर संविधान और शिक्षा की वर्तमान स्थिति को लेकर हमारे मन में कुछ सवाल थे, जिन्हें 'स्कूल टु डे' टीम ने मध्य प्रदेश के *मुख्यमंत्री श्री दिग्विजयसिंह* के साथ ही देश के लब्ध प्रतिष्ठित शिक्षाविद प्रो. अनिल सद्गोपाल (और श्री रमेश दवे)[1] के समक्ष रखे। यहां प्रस्तुत हैं हमारे सवाल और उन पर उनके विचार।

मूल स्रोत : *स्कूल टु डे* भोपाल, जनवरी 1998, का संपादित स्वरूप.

* श्री रमेश दवे, भूतपूर्व व्याख्याता, राज्य शैक्षिक शोध एवं प्रशिक्षण परिषद, भोपाल ने भी इस त्रिकोणीय बहस में भाग लिया था. लेकिन उनके उत्तर यहां शामिल नहीं किए गए हैं.

प्रश्न 1 : कहा जाता है कि मध्य प्रदेश में 9 से 11 साल के उम्र के 75 लाख ऐसे बच्चे हैं जिन्हें अभी तक स्कूल में आने का मौका नहीं मिला। उनमें से करीब 60 प्रतिशत लड़कियां हैं। इतनी बड़ी तादाद के लिए क्या हम सन् 2000 तक प्राथमिक शिक्षा का इंतजाम कर सकेंगे?

मुख्यमंत्री : मध्य प्रदेश में सबको शिक्षा प्रदान करना तथा साक्षर बनाना हमारा लक्ष्य है। राज्य शासन ने शिक्षा, स्वास्थ्य जैसी बुनियादी जरूरतों को प्राथमिकता दी है। मध्य प्रदेश में प्राथमिक शिक्षा सबको उपलब्ध कराने के लिए गत चार वर्षों में विशेष प्रयास किए गए हैं। इसे एक जन आंदोलन का स्वरूप देकर महिला शिक्षा पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है। हमने सन् 2001 तक मध्य प्रदेश को एक शिक्षित राज्य बनाने की रणनीति बनाई है और इस दिशा में ठोस प्रयास प्रारंभ कर दिए हैं।

लेखक : मध्य प्रदेश शासन या भारत सरकार तो यह मानती ही नहीं है कि कोई भी बच्चा स्कूल से बाहर है। क्योंकि उनके अनुसार प्राथमिक शिक्षा का सकल दर्ज अनुपात (जी.ई.आर.) पिछले कई सालों से 105 प्रतिशत है। लेकिन अन्य कई अध्ययन इस बात की पुष्टि करते हैं कि देश के लगभग आधे बच्चे और दो-तिहाई लड़कियां स्कूल के बाहर हैं। यह तो देश का औसत है। यदि मध्य प्रदेश जैसे कम विकसित एवं आदिवासी क्षेत्र की ओर नजर डालें तो राष्ट्रीय औसत से कहीं अधिक लड़के-लड़कियां स्कूल से बाहर पाए जाएंगे। मुझे तो लगता है कि सरकार के द्वारा 105 प्रतिशत वाला सकल दर्ज अनुपात का उल्लेख करना इस बात का सबूत है कि सरकार संविधान के अनुच्छेद 45 के प्रति गंभीर नहीं है। हम सभी जानते हैं कि ये झूठे आंकड़े कैसे बनते हैं। हर वर्ष शासन की ओर से शासकीय शिक्षकों को आदेश दिया जाता है कि 6-11 वर्ष की आयु समूह के बच्चों को दर्ज कर लें अन्यथा उनकी पदोन्नति पर असर पड़ेगा। अतः निरीह शिक्षक सब बच्चों के नाम रजिस्टर में दर्ज कर लेते हैं। जब से सरकार ने मध्याह्न भोजन के नाम पर अनाज बांटना शुरू किया है तब से किसी बच्चे का नाम न लिखना शिक्षक के लिए खतरा बन गया है। अतः मध्याह्न भोजन शिक्षा का नहीं, वरन अनाज पाने का साधन बन गया है। यदि हम सन् 2000 तक इन सभी बच्चों के लिए स्कूली सुविधा उपलब्ध करना चाहते हैं तो जरूरी है कि पहले सही आंकड़े बटोरना शुरू करें यानी सच्चाई को स्वीकारें। अभी तक जिस प्रकार की शिक्षा नीति और शैक्षिक कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं, उनसे कहीं यह नजर नहीं आता है कि यह लक्ष्य सन् 2000 तक पूरा हो सकेगा। मानव संसाधन विकास मंत्रालय की रपटें तो अभी से ही सन् 2005 और 2010 की बातें करने लगी हैं। सवाल लक्ष्य वर्ष का नहीं है। सवाल इस बात का है कि शिक्षा की सुविधा हर बच्चे तक ले जाने की ठोस रणनीति क्या है?

प्रश्न 2 : यह भी माना जाता है कि साक्षरता अभियान, औपचारिकेतर (नॉन-फार्मल) शिक्षा और वैकल्पिक स्कूल जैसी व्यवस्था से भी बहुत अच्छे परिणाम नहीं आए। अगर देश की साक्षरता आज सिर्फ 52 प्रतिशत है तो ऐसी हालत में यह साफ जाहिर है कि हमने व्यवस्थाओं

पर जितना खर्च किया, उसके मुताबिक परिणाम नहीं मिले। क्या वे तमाम व्यवस्थाएं भंग करके हम सिर्फ स्कूल स्थापना के जरिए प्राथमिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण का लक्ष्य हासिल नहीं कर सकते?

मुख्यमंत्री : आज जरूरत इस बात की है कि जनता के हित में लागू की जाने वाली योजनाओं में जनता की भागीदारी हो ताकि वे अपनी आवश्यकतानुसार योजनाओं का क्रियान्वयन करें और उसका लाभ उठाएं। मध्य प्रदेश में हमने शिक्षा कार्यक्रमों में उसके संचालन का अधिकार पूर्णतः जनता के हाथों में सौंपा है। शिक्षाकर्मी योजना, शिक्षा गारंटी योजना हमारी जन भागीदारी के साथ चलने वाली योजनाएं हैं। इससे निश्चित ही शिक्षा के लोकव्यापीकरण का लक्ष्य हासिल होगा।

लेखक : सबसे पहले तो हम यह तय कर लें कि हमारा लक्ष्य प्राथमिक शिक्षा यानी पहली पांच कक्षाओं की शिक्षा का लोकव्यापीकरण है, या प्रारंभिक शिक्षा यानी कक्षा 1 से 8 तक का। हमारा संविधान प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण का निर्देश देता है, न कि प्राथमिक शिक्षा का। यह आवश्यक है कि सरकार विश्व बैंक के कहने पर संविधान के निर्देश को शिथिल न होने दे। दूसरी बात स्कूल की तुलना में समानांतर वैकल्पिक व्यवस्थाओं को खड़ी करने की है। 1986 की शिक्षा नीति ने स्वतंत्र भारत में पहली बार स्कूल के समकक्ष औपचारिकेतर शिक्षा खड़ी करने का लक्ष्य बनाया। यह व्यवस्था उन बच्चों के लिए सोची गई, जो कि दिन में बाल मजदूरी करते हैं। अतः शाम को उनके लिए औपचारिकेतर केंद्र खोलकर सरकार बाल मजदूरी को बरकरार रखने के लिए तैयार है। संविधान के खंड 3 में बाल मजदूरी पर प्रतिबंध लगाने की बात की गई है। इसका अर्थ हुआ कि औपचारिकेतर केंद्र संविधान का उल्लंघन करते हैं। वैसे भी इस प्रकार समानांतर व्यवस्थाएं खड़ी करना गलत सिद्ध हुआ है। शिक्षा नीति का यह पहलू गलत मान्यताओं पर आधारित है। जरूरत इस बात की है कि सरकारी स्कूली तंत्र को देश के गरीब बच्चों के अनुरूप बनाया जाए, यानी यहां दी जाने वाली शिक्षा बेहतरीन दर्जे की हो, ताकि वह सभी बच्चों को आकर्षित कर सके। औपचारिकेतर केंद्रों के पक्ष में सरकार तर्क देती है कि वे लोचदार शिक्षा देंगे जो बच्चों के परिवेश और संस्कृति के अनुकूल होगी। इसका अर्थ हुआ कि सरकारी स्कूल लोचदार शिक्षा नहीं देंगे और उनके द्वारा दी जाने वाली शिक्षा परिवेश और संस्कृति के अनुकूल नहीं होगी। यदि औपचारिकेतर केंद्र केवल 300 रुपए प्रति माह के वेतन पर अस्थायी शिक्षक रखकर कम अवधि में निर्धारित पाठ्यक्रम पूरा कर सकते हैं और अच्छी शिक्षा दे सकते हैं तो फिर हम इससे 15 गुना अधिक वेतन पर स्थायी शिक्षक रखकर अधिक अवधि वाली स्कूली शिक्षा क्यों देना चाहते हैं? यदि मेरी बात अभी भी अस्पष्ट है तो फिर मैं मध्य प्रदेश के राजनेताओं और अफसरों को आमंत्रित करता हूं कि वे अपने बच्चों को औपचारिकेतर केंद्रों में भरती करवा दें। अब रहा सवाल साक्षरता केंद्रों का तो साक्षरता तो मात्र एक पैमाना था यह नापने का कि किस क्षेत्र में शिक्षा किस हद तक कैसी है। हमारी सरकार ने इस पैमाने को लक्ष्य बना लिया और यह

कहकर पिछले दस वर्षों में पूरे देश को भ्रमित किया है। अब हर स्तर पर यह माना जाने लगा है कि शिक्षा का अर्थ केवल साक्षरता है। दरअसल इन दोनों के बीच का अंतर अब जानबूझकर स्वीकारा नहीं जाता। देश के प्रधानमंत्री और शिक्षामंत्री तक इस भ्रम के शिकार हैं।1986 की शिक्षा नीति ने यह संकल्प जाहिर किया था कि 1995 तक 14 वर्ष की उम्र के सभी बच्चों को शिक्षित कर दिया जाएगा। पूरे मुल्क को यह उम्मीद थी कि अगले कुछ वर्षों में प्रारंभिक शिक्षा का लोकव्यापीकरण सबसे अधिक प्राथमिकता पाएगा। लेकिन 1988 में सरकार ने राष्ट्रीय साक्षरता मिशन बनाकर सबको आश्चर्यचकित कर दिया। जरूरत थी राष्ट्रीय प्रारंभिक शिक्षा मिशन बनाने की जो आज तक नहीं बना। शुरू से ही गलत प्राथमिकताएं रहीं। सातवीं पंचवर्षीय योजना में प्रौढ़ साक्षरता के लिए 600 करोड़ रुपए का प्रावधान था। इसकी तुलना में स्कूली तंत्र को बेहतर बनाने के लिए प्रस्तावित ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड नामक एक मात्र कार्यक्रम को केवल 400 करोड़ रुपए दिए गए। यह गलत प्राथमिकता आठवीं और नौवीं पंचवर्षीय योजनाओं में भी झलकी है। सरकार द्वारा गठित अरुण घोष कमेटी ने बताया कि साक्षरता मिशन के आंकड़े झूठे और अविश्वसनीय हैं। इसके बावजूद आठवीं पंचवर्षीय योजना में इस मिशन पर लगभग एक हजार करोड़ रुपए खर्च हुए और नौवीं पंचवर्षीय योजना में मिशन 2000 करोड़ रुपए की मांग कर रहा है। साक्षरता कार्यक्रम एक अजीबोगरीब हालात की ओर इशारा करता है। कल्पना कीजिए कि एक गीले फर्श को बहुत सारे लोग पोंछा लेकर सुखाने की कोशिश कर रहे हैं और एक ओर नल से पानी बह रहा है। इसी तरह जो आधे बच्चे स्कूल नहीं जा रहे थे, वे सब सन् 2005 में निरक्षर वयस्क हो जाएंगे और तब दसवीं पंचवर्षीय योजना में इनके लिए साक्षरता मिशन चलाया जाएगा। जब तक यह ढकोसला बंद नहीं होगा, तब तक संविधान का अनुच्छेद 45 सपना बना रहेगा। हमारा मानना है कि पानी का नल कसकर बंद कर दो तो फर्श सूख जाएगा। यानी सब बच्चों को स्कूल पहुंचा दो तो साक्षरता मिशन की जरूरत ही नहीं होगी।

प्रश्न 3 : संविधान के अनुच्छेद 45 में नीति निर्देशक तत्वों के अंतर्गत कक्षा 1 से 8 (14 वर्ष आयु तक के सभी बच्चे) तक प्रारंभिक शिक्षा को अनिवार्य और निःशुल्क रूप देने की जिम्मेदारी सरकार ने ली थी। लेकिन अब वह इस लक्ष्य को छोड़कर कक्षा 1 से 5 तक की प्राथमिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण पर जोर दे रही है। ऐसा करने से क्या कक्षा 5 तक की शिक्षा पर्याप्त मानी जा सकेगी?

मुख्यमंत्री : प्राथमिक शिक्षा सभी बच्चों को अनिवार्य रूप से मिले, यह हमारी जिम्मेदारी है। इसलिए कक्षा 1 से 5 तक की शिक्षा को निःशुल्क बनाया गया है। इससे निश्चित ही हम बच्चों को शिक्षा दे सकेंगे।

लेखक : इस प्रश्न का उत्तर संविधान बनाने वाली संविधान सभा की बहस के दौरान 1948 में डा. बाबा साहेब अंबेडकर ने दिया था। संविधान सभा के एक सदस्य ने अनुच्छेद 45 के संदर्भ में कहा था कि देश के पास 14 वर्ष तक के बच्चों को शिक्षित करने के

लिए पैसा नहीं होगा। इसलिए इस अनुच्छेद में केवल 11 वर्ष तक के बच्चों का जिक्र होना चाहिए और प्रारंभिक की जगह प्राथमिक स्तर तक का लक्ष्य होना चाहिए। डा. अंबेडकर ने इस प्रस्ताव को नामंजूर करते हुए संविधान सभा को बताया था कि बहुत सोच-समझकर 14 साल की आयु तक का लक्ष्य रखा गया है क्योंकि बड़ी तादाद में इस उम्र के बच्चे बाल मजदूरी करने के लिए मजबूर होते हैं। उन्होंने बताया था कि यदि ये बच्चे स्कूल जाएंगे तो बाल मजदूरी खत्म करने में मदद मिलेगी। यानी प्रारंभिक शिक्षा विशेषकर कक्षा 6-8 की शिक्षा बाल मजदूरी का विकल्प मानी गई थी। इसलिए वे सब लोग जो आज केवल पांच साल की प्राथमिक शिक्षा को यथेष्ट मानने की वकालत कर रहे हैं, वे सब संविधान निर्माताओं की स्पष्ट दृष्टि को नकार रहे हैं। क्योंकि प्रारंभिक शिक्षा की जगह प्राथमिक शिक्षा की बात प्रचलित करने का काम 1990 के बाद विश्व बैंक की तर्ज पर किया गया है, अतः यह सवाल उठना ही चाहिए कि संविधान की भावना का उल्लंघन करने वाले विश्व बैंक और जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डी.पी.ई.पी. जिसे मध्य प्रदेश में राजीव गांधी प्राथमिक शिक्षा मिशन चला रहा है) को भारत में क्यों जगह दी जाए? दरअसल सवाल इससे भी ज्यादा गहरा है और शिक्षा के उद्देश्यों से जुड़ा हुआ है। आठ साल की शिक्षा को अनिवार्य मानने की बात 1937 में महात्मा गांधी की अध्यक्षता में आयोजित वर्धा सम्मेलन में उठी थी। वहां डा. जाकिर हुसैन के नेतृत्व में गठित शिक्षाविदों की समिति ने आठ साल तक का पाठ्यक्रम बनाया था, जिसका उद्देश्य बच्चों को आत्मनिर्भर और स्वावलंबी बनाना था, ताकि वे इस शिक्षा के बाद स्वरोजगार के जरिए अपनी रोजी-रोटी कमा सकें और साथ में नागरिकता के दायित्व भी निभा सकें। यदि भारत सरकार स्वाधीनता संग्राम से विरासत में मिले महात्मा गांधी और जाकिर हुसैन के द्वारा तय किए गए उद्देश्यों को नहीं मानना चाहती और विश्व बैंक की तर्ज पर चलना बेहतर समझती है तो फिर सरकार को जनांदोलन ही समझा सकता है।

प्रश्न 4 : संविधान के 73वें और 74वें संशोधन से पंचायती राज कायम तो कर दिया लेकिन पंचायतों को शिक्षा की जिम्मेदारी जिस तरह से दी जा रही है क्या उसे प्राथमिक शिक्षा का लोकव्यापीकरण सन् 2000 तक तो क्या सन् 2010 तक भी संभव है?

मुख्यमंत्री : यह आपकी गलत धारणा है। वास्तव में हमने शिक्षा के प्रचार-प्रसार की जो रणनीति अपनाई है, उसमें जनसहयोग से निश्चित ही हम सन् 2001 तक प्राथमिक शिक्षा का लोकव्यापीकरण का लक्ष्य प्राप्त करेंगे।

लेखक : पहली बात तो 73वें और 74वें संशोधन को पहचानने की है। 73वां संशोधन ग्रामीण क्षेत्रों में पंचायती राज की स्थापना करता है और तीन-स्तरीय पंचायती राज संस्थाओं को नाना प्रकार के अधिकार देता है, खासकर शिक्षा, स्वास्थ्य और ग्रामीण विकास के क्षेत्र में। इसके जरिए हर गांव में या चार-पांच गांव के समूह में एक पंचायत स्थापित की गई है। इसकी तुलना में 74वां संशोधन शहरी क्षेत्रों में नगरपालिका या नगर निगम की स्थापना करता है लेकिन इसके तहत पूरा शहर, चाहे वह भोपाल और इंदौर के बराबर ही क्यों

न हो, एक ही नगर निगम के तहत आता है। इसका अर्थ हुआ कि 74वें संशोधन के जरिए स्वायत्त शासन की इकाई में आने वाली आबादी 50-60 हजार से लेकर कई लाख तक हो सकती है। अतः 74वां संशोधन विकेंद्रित प्रशासन और जनसहभागिता के सिद्धांतों से मेल नहीं खाता। आइए, हम 73वें संशोधन की बात करें। गांव का स्कूल ग्राम पंचायत चलाए, यह बात इस संशोधन में जरूर है, लेकिन पंचायत को बहुत ही सीमित अधिकार दिए गए हैं। मध्य प्रदेश शासन द्वारा जारी किए गए एक आदेश में पंचायतों को बताया गया है कि स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में कौन-कौन से अधिकार उनको नहीं सौंपे जा रहे हैं। न सौंपे जाने वाले अधिकारों की सूची इस प्रकार है—शिक्षकों का चयन एवं नियुक्ति, पाठ्यक्रम का निर्धारण एवं पाठ्यपुस्तकों का लेखन, स्कूल का कैलेंडर बनाना, निरीक्षण एवं मानिट्रिंग तथा मूल्यांकन एवं परीक्षा आदि। यदि ये अधिकार ग्राम पंचायतों को नहीं दिए गए तो फिर उनको क्या अधिकार दिए हैं—स्कूल की दीवार पर किस रंग का लेप किया जाए, केवल यह तय करने का अधिकार? इस हालात के चलते हर मायने में स्कूली शिक्षा एक केंद्रीकृत व्यवस्था के द्वारा चलती रहेगी और उसमें जन-सहभागिता केवल कागजी रहेगी। इसका प्रमाण आप राजीव गांधी प्राथमिक शिक्षा मिशन (डी.पी.ई.पी.) के कार्यक्रम में भी देख सकते हैं, जहां हर निर्णय भोपाल, दिल्ली और कभी-कभी वाशिंगटन में भी होता है। ग्राम शिक्षा समिति, शाला प्रबंधन समिति एवं शाला निर्माण समिति केवल प्रतीकात्मक भूमिका निभाती हैं। शायद इसीलिए इन समितियों में न गांव के शिक्षित तबके की रुचि होती है और न ही गैर-साक्षर तबके की।

प्रश्न 5 : अब संसद में शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाने और प्राथमिक शिक्षा को कानूनन अनिवार्य करने के लिए 83वें संशोधन को प्रस्तुत किया जा रहा है। क्या इससे यह मान लिया जाना चाहिए कि संविधान का अनुच्छेद 45 अब अप्रासंगिक या बेकार हो गया है?

मुख्यमंत्री : आवश्यकता और परिस्थितियों के अनुसार समय-समय पर संविधान की जरूरत महसूस की गई। तदनुसार संविधान के अनुच्छेदों में परिवर्तन हुआ है। यही बात 83वें संशोधन को प्रस्तुत करने के विचार पर भी लागू होती है।

लेखक : शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाने के लिए प्रस्तावित 83वें संशोधन को बहुत कम लोगों ने ध्यान से पढ़ा है। इसमें कई प्रकार की खामियां हैं, जिनकी ओर शिक्षाविदों एवं सामाजिक संस्थाओं ने संसदीय स्थायी समिति का ध्यान आकर्षित किया है। सबसे बड़ी खामी तो यही है कि यह विधेयक अनुच्छेद 45 को संविधान से हटाने का प्रस्ताव रखता है। इसके कारण संविधान में दिया गया निर्देश दो प्रकार से शिथिल हो जाएगा। पहला, संशोधन के अनुसार, जिसमें 45वें अनुच्छेद का खंड तीन के अनुच्छेद 21 (जीने का हक) में शामिल किया जाना प्रस्तावित है, वह केवल 6 से 14 वर्ष के बीच के बच्चों की शिक्षा की बात करता है। इसकी तुलना में अनुच्छेद 45 चौदह वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों की शिक्षा की बात करता है। इसका अर्थ हुआ कि 83वें संशोधन के लागू होने पर 6 वर्ष से कम बच्चों की शिक्षा, यानी पूर्व प्राथमिक शिक्षा, मौलिक हक नहीं रहेगी।

तो फिर यह संशोधन आज मिले हुए हक को छीनने वाला संशोधन हुआ, न कि हक देने वाला। यह उप-अनुच्छेद किसी प्रकार की समय-सीमा का जिक्र नहीं करता, जबकि अनुच्छेद 45 संविधान का शायद एकमात्र अनुच्छेद है जो लक्ष्य पूर्ति के लिए समय-सीमा निर्धारित करता है, जो कि 1960 में पूरी हो गई थी। जो सरकार 37 साल बाद भी संवैधानिक निर्देश को पूरा नहीं कर पाई, वह 83वें संशोधन के बाद जब समय-सीमा का जिक्र ही नहीं होगा, तब लक्ष्य पूर्ति के प्रति कितनी निष्ठावान होगी, इस पर गहरा शक है।

अतः जरूरी है कि या तो प्रस्तावित उप-अनुच्छेद में 14 साल की उम्र तक के सभी बच्चों को शामिल किया जाए और एक निश्चित समय-सीमा लक्ष्यपूर्ति के लिए लिखी जाए, या फिर अनुच्छेद 45 को बरकरार रखा जाए और उसमें सन् 2005 अथवा सन् 2010 की नई समय-सीमा निर्धारित की जाए, क्योंकि खंड चार जिसमें अनुच्छेद 45 शामिल है, राज्य के सामने लक्ष्य रखता है।

अतः अनुच्छेद 45 तो रहना ही चाहिए और उसमें 14 वर्ष की जगह कम से कम 16 वर्ष तक शिक्षा देने का नया लक्ष्य शामिल करना चाहिए। 83वें संशोधन विधेयक के साथ एक वित्तीय प्रस्ताव भी है, जिसके अनुसार स्कूल के बाहर छूट गए 6.3 करोड़ बच्चों की स्कूली सुविधा देने के लिए अगले पांच वर्षों में चालीस हजार करोड़ रुपए का अतिरिक्त प्रावधान करने की बात कही गई है। इस मामले में भी कोई गंभीरता नहीं दिखती, क्योंकि नौवीं पंचवर्षीय योजना के प्रारूप में शिक्षा के मद में मात्र 17 हजार करोड़ रुपए का प्रावधान किया गया है जिसमें से प्रारंभिक शिक्षा के लिए बमुश्किल 50 प्रतिशत हिस्सा रखा गया है। यानी विधेयक में उल्लेखित आवश्यक राशि का केवल पांचवां हिस्सा। अतः आगामी चुनावों में हर राजनीतिक दल से पूछा जाना चाहिए कि विधेयक में उल्लेखित अतिरिक्त प्रावधान के लिए वे नौवीं पंचवर्षीय योजना की प्राथमिकता को किस प्रकार बदलेंगे? जो दल इस सवाल का उत्तर नहीं दे सकता, उस दल के पास स्कूल से बाहर रह गए बच्चों को स्कूल पहुंचाने का कोई कार्यक्रम नहीं है, यह सिद्ध हो जाएगा।

प्रश्न 6 : मध्य प्रदेश के संदर्भ में भी अगर देखा जाए तो यहां करीब 70 हजार गांव हैं और एक लाख से ऊपर बिखरी हुई छोटी-छोटी बस्तियां हैं। अभी भी सत्तर प्रतिशत आबादी गांवों और आदिवासी इलाकों में है। आश्रम, गुरुकुल, कन्या परिसर और छात्रावास व्यवस्था भी पर्याप्त नहीं है। जो हैं वे भी ज्यादा कारगर साबित नहीं हुई हैं। ऐसे में ग्रामीण, पिछड़े और आदिवासी क्षेत्रों में क्या लोकव्यापीकरण का लक्ष्य हासिल हो सकेगा?

मुख्यमंत्री : शिक्षा गारंटी योजना हमारे ऐसे ही क्षेत्रों के लिए बनाई गई है, ताकि हम दूरस्थ इलाकों में भी प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध करा सकें।

लेखक : 1986 में राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण की एक रपट में यह बताया गया था कि स्कूल न जाने वाले बच्चों के स्कूल न जाने के क्या कारण हैं। इससे पता चला कि लगभग 40-45 प्रतिशत बच्चे इसलिए स्कूल नहीं जाते क्योंकि उनके लिए स्कूली पाठ्यक्रम अनाकर्षक एवं निरर्थक है। मेरी राय में अभी तक हमारे शिक्षा विभाग ने यह प्रश्न कभी नहीं उठाया

कि शिक्षा की निरर्थकता अथवा अप्रासंगिकता के क्या मायने हैं। जब किसी गरीब बच्चे को स्कूली पाठ्यक्रम निरर्थक लगता है तो यह प्रश्न किस प्रकार उस बच्चे के सामाजिक तथा आर्थिक यथार्थ का प्रश्न बन जाता है, यह संवाद अभी शुरू भी नहीं हुआ है। दरअसल पिछड़े और शोषित तबकों के जो बच्चे स्कूल जा रहे हैं वे किस प्रकार इस निरर्थक और अनाकर्षक पाठ्यक्रम के बावजूद टिके हुए हैं, यह भी खोज का विषय है। यह सवाल मध्यम वर्ग के बच्चों के लिए भी महत्वपूर्ण है। केवल स्कूली सुविधाओं को बढ़ाने से ही काम नहीं चलेगा, हालांकि होता वह भी नहीं है। सवाल यह है कि स्कूल के अंदर क्या होता है? और जो कुछ होता है वह बच्चे की बाहर की दुनिया, विशेषकर भावी काम की दुनिया से कैसे जुड़ा है? जब तक इस सवाल को गंभीरता से हल नहीं किया जाएगा, तब तक लोकव्यापीकरण केवल एक सपना ही रहेगा।

प्रश्न 7 : यदि 83वें संशोधन से चीन की तरह भारत में भी शिक्षा कानूनन अनिवार्य हो गई, तो वर्तमान भ्रष्टाचार को देखते हुए क्या इस कानून का दुरुपयोग भी शुरू नहीं हो जाएगा?

मुख्यमंत्री : यह आपकी कल्पना है।

लेखक : बेशक, 83वें संशोधन की यह एक बड़ी खामी है कि वह उन मां-बाप को दंडित करने की मान्यता पर आधारित है, जो अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेजेंगे। इस विधेयक में परोक्ष रूप से ऐसे नियम-कानून बनाने की बात यह कहकर कही गई है कि ऐसे प्रावधान राज्य सरकारें बनाएंगी। दंडित करने के प्रावधानों की ओर कमेटी में स्पष्ट रूप से इशारा किया गया है, जो इस विधेयक का आधार है। इस प्रकार के प्रावधान बनाने से गरीब तबके के लिए एक नई मुसीबत खड़ी हो जाएगी। इन लोगों को ऐसे स्कूलों में अपने बच्चों को न भेजने के लिए दंडित किया जाएगा, जिनका या तो कोई अस्तित्व ही नहीं है या वे चलते ही नहीं हैं और अगर चलते भी हैं तो वहां पांच साल रहकर भी बच्चे कुछ सीख नहीं पाते। इस दंड से बचने के लिए गरीब लोगों को शिक्षा विभाग को उसी प्रकार से रिश्वत देनी होगी, जिस तरह से पुलिस या जंगल विभाग के अत्याचारों से बचने के लिए आज उन्हें रिश्वत देते हैं। दंड का प्रावधान गरीब लोगों के विरुद्ध तो है ही, यह बाल-विरोधी और शिक्षा-विरोधी प्रावधान भी है। जरूरत इस बात की है कि हम ऐसे स्कूल हर गांव में उपलब्ध कराएं, जहां बच्चे वास्तव में कुछ सीख सकें और जहां का पाठ्यक्रम उनके जीवन के लिए प्रासंगिक हो। यदि ऐसा किया गया तो अपने आप हर मां-बाप चाहेंगे कि उनकी बच्ची या बच्चा स्कूल जाए।

प्रश्न 8 : आपकी राय में प्रारंभिक शिक्षा का लोकव्यापीकरण अनिवार्य होना चाहिए या केवल कक्षा 1 से 5 तक की प्राथिमिक शिक्षा का?

मुख्यमंत्री : शिक्षा सबको सुनिश्चित रूप से मिले यह हमारा लक्ष्य है। तरीका कोई भी हो सकता है।

लेखक : इसका उत्तर देने की मुझे जरूरत नहीं है। जैसा कि प्रश्न तीन के उत्तर में मैंने बताया है कि संविधान निर्माता बाबा साहेब अंबेडकर और उनके साथ महात्मा गांधी तथा डा. जाकिर हुसैन यह राय पहले ही जाहिर कर चुके हैं कि कक्षा 1-8 तक की प्रारंभिक शिक्षा क्यों जरूरी है।

प्रश्न 9 : सरकार कहती है कि उसके पास प्रारंभिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण के लिए पर्याप्त धन की व्यवस्था नहीं है, इसलिए वह विश्व बैंक और अन्य अंतर्राष्ट्रीय संगठनों से कर्ज ले रही है। पर क्या हम स्वयं अपने संसाधनों तथा समाज की भागदारी के जरिए इस काम को नहीं कर सकते? और विदेशी धन के जरिए होने वाले भ्रष्टाचार की संभावना को रोक नहीं सकते?

मुख्यमंत्री : शिक्षा के लिए हमारे पास पर्याप्त राशि उपलब्ध है, इसलिए विदेशी धन की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

लेखक : मैं यह मानने को बिलकुल तैयार नहीं हूं कि भारत जैसे विशाल देश के पास अपने बच्चों को शिक्षित करने के लिए पैसे नहीं हैं और इसके लिए उसे अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भीख मांगना जरूरी है। जो देश अपनी अर्थव्यवस्था के अंदर की प्राथमिकताएं बदलकर इस जरूरी काम के लिए पर्याप्त संसाधन नहीं जुटा सकता, वह देश बाहर से मिले कर्ज अथवा भीख पाने के बावजूद उस काम को कभी प्राथमिकता नहीं देगा। यह बार-बार सिद्ध हो चुका है कि सवाल अकेले संसाधनों का नहीं है, सवाल प्राथमिकता का है। सवाल शिक्षा की सही रणनीति और सही कार्यक्रमों का भी है। मैंने इस वर्ष के प्रारंभिक शिक्षा के बजट का विश्लेषण किया है। इससे यह बात साफ हुई है कि यदि प्रारंभिक शिक्षा के नाम पर चलाए जा रहे निरर्थक कार्यक्रमों के लिए जो प्रावधान किया गया है, उसे हटा दें तो हमारे पास इतना पैसा बच जाएगा कि विश्व बैंक एवं अन्य अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के कर्ज या अनुदान से चलने वाले सभी कार्यक्रमों को हम अपने पैसों से संचालित कर सकेंगे और उसके बाद भी पैसा बचेगा। लेकिन इसकी एकमात्र शर्त यह है कि शिक्षा की सही दृष्टि अपनाई जाए और तामाम फिजूल कार्यक्रम बंद किए जाएं। अगर यह दृष्टि अपनाने के लिए सरकार की राजनीतिक इच्छा शक्ति नहीं है तो पैसा चाहे बैंक दे या कोई और अंतर्राष्ट्रीय संगठन, वह गलत कार्यक्रमों और फिजूल की व्यवस्थाओं में ही खर्च होगा। और वह पीढ़ी जिसके नाम पर यह कर्ज लिया जा रहा है, दस साल बाद इस कर्ज को पटाएगी, वह भी बिना शिक्षा पाए।

प्रश्न 10 : शिक्षा के लोकव्यापीकरण को लेकर सभी चिंतित हैं, आप कुछ ऐसे तरीके सुझाएं जिनसे यह लक्ष्य आसानी से हासिल किया जा सके?

मुख्यमंत्री : सभी बच्चों को शिक्षा मिले इसके लिए अभिभावकों में जागरूकता लाना जरूरी है। स्वयंसेवी संगठन इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। जन चेतना, जन जागृति और गांव-गांव तक लोगों को शिक्षा के महत्व से अवगत कराना होगा और उसे विकास

के साथ-साथ रोजगार से भी जोड़ना होगा। इन तरीकों से हम एक शिक्षित समाज का लक्ष्य हासिल कर सकते हैं।

लेखक : लोकव्यापीकरण का लक्ष्य हासिल करने के लिए पांच ठोस कदम उठाए जाने जरूरी हैं, जिनकी अनुशंसा कोठारी शिक्षा आयोग (1964-66), राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986, राममूर्ति समिति 1990 एवं यशपाल समिति 1993 द्वारा की जा चुकी है। लेकिन सरकार ने इन अनुशंसाओं को विधिवत तरीकों से नकारा है। ये ठोस कदम इस प्रकार हैं :

1. देश की अर्थव्यवस्था की प्राथमिकताओं को इस प्रकार बदला जाए कि अगले पांच सालों में प्रारंभिक शिक्षा के लिए पर्याप्त संसाधन उपलब्ध हो जाएं। 1966 में कोठारी शिक्षा आयोग ने सिफारिश की थी कि सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जी.एन.पी.) का 6 प्रतिशत अंश शिक्षा को दिया जाए। लेकिन विगत तीन दशकों में ऐसा नहीं किया गया। इसके कारण हर वर्ष शिक्षा में अपेक्षित पूंजी निवेश नहीं हुआ जिसके चलते निवेश की एक बड़ी खाई बन चुकी है। इस कारण 6 प्रतिशत अंश की बात अब अर्थहीन हो गई है। हाल के अध्ययनों (तपस मजुमदार समिति) से पता चला है कि इस खाई की पूर्ति के लिए अगले पांच सालों में एक लाख बीस हजार करोड़ रुपए का अतिरिक्त प्रावधान करना पड़ेगा। यह केवल प्रारंभिक शिक्षा के लिए 83वें संशोधन विधेयक में उल्लेखित 40 हजार करोड़ रुपए का तीन गुना है। इसके लिए जरूरी है कि हम निरर्थक योजना एवं फिजूलखर्ची को एकदम बंद कर दें और शिक्षा के संवैधानिक दायित्व को प्राथमिकता दें।
2. कोठारी शिक्षा आयोग ने बिना किसी भेदभाव के सभी बच्चों के लिए समान गुणवत्ता वाली समान स्कूल प्रणाली (कामन स्कूल सिस्टम) की अनुशंसा की थी, जिसके पक्ष में राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968, 1986 एवं 1992 ने तीन बार संकल्प जाहिर किया। लोकव्यापीकरण के लिए आवश्यक है कि कोठारी आयोग की इस सिफारिश को लागू किया जाए। इसके लिए जरूरी होगा कि न केवल प्राइवेट, बल्कि पब्लिक स्कूल भी पड़ोसी स्कूलों में बदले जाएंगे, जहां उस इलाके के सभी बच्चे पढ़ने के हकदार होंगे। लेकिन इसका अर्थ यह भी है कि सरकार द्वारा चलाए जाने वाले भांति-भांति के स्कूल भी पड़ोसी स्कूल बनेंगे। इस श्रेणी में केंद्रीय विद्यालय, सैनिक विद्यालय, नवोदय विद्यालय एवं नाना प्रकार के मॉडल स्कूल भी शामिल हैं।
3. स्कूली तंत्र को विकेंद्रित किया जाए और वे जनसहभागिता के सिद्धांत पर संचालित हों। यानी वे लोग जिनके बच्चे उस स्कूल में पढ़ते हों, वे कानूनन उस स्कूल का संचालन करें। लेकिन इसके लिए आवश्यक संसाधन सरकार को संवैधानिक दायित्व के तहत उपलब्ध कराने होंगे। यहां बात सामुदायिक क्षेत्र की हो रही है, न कि सरकारी और निजी क्षेत्र की। जब ऐसा किया जाएगा और संबंधित समुदाय को पूरी जवाबदेही दी जाएगी तो कालांतर में पाठ्यक्रम प्रासंगिक भी बनेंगे और सामाजिक तथा

सांस्कृतिक परिवेश के अनुरूप भी। इस नई व्यवस्था में केंद्र और राज्य सरकार की भूमिका समर्थन एवं अन्य मदद देने की होगी जिसकी मांग विकेंद्रित इकाइयों के द्वारा की जाएगी।

4. पाठ्यक्रम का पुनर्निर्माण करना होगा, इसके बुनियादी सिद्धांत महात्मा गांधी की नई तालीम में प्रस्तावित हैं। इसके अनुसार 'ज्ञान की दुनिया' और 'काम की दुनिया' के बीच अंतरंग रिश्ते स्थापित करने होंगे। ऐसे रिश्तों का प्रभाव शिक्षण पद्धति, पाठ्यपुस्तकों, स्कूल के दैनिक जीवन, शिक्षकों-बच्चों के संबंध और स्कूल और सामाजिक संबंध, सभी आयामों पर पड़ेगा। ये स्कूल ऐसी शिक्षा देंगे, जो बच्चों को न केवल आत्मनिर्भर व स्वावलंबी जीवन जीने के लिए प्रेरित करेगी, बल्कि साथ-साथ वैज्ञानिक एवं मानवीय दृष्टिकोण भी देगी। *ये स्कूल ब्रिटिश राज की विरासत ढोने वाले स्कूल नहीं होंगे, बल्कि इनके जरिए इक्कीसवीं सदी के नए भारत का पुनर्निर्माण संभव हो सकेगा।*

5. कोठारी आयोग की समान स्कूल प्रणाली और पड़ोसी स्कूल व्यवस्था में यह निहित था कि ज्ञान का माध्यम बच्चे की मातृभाषा हो। यह अपेक्षा संविधान के अनुच्छेद 350 (क) में की गई है, इसके अनुसार जरूरी नहीं कि मातृभाषा राज्य की मानक भाषा हो। कम से कम शुरुआती वर्षों में (संभवतः कक्षा तीन तक) सभी बच्चों को, चाहे वे किसी भी वर्ग के हों, उनकी मातृभाषा के जरिए ही शिक्षा मिलनी चाहिए। यानी बिहार में भोजपुरी, मगही या संथाली का प्रयोग शुरुआती वर्षों में होगा और मध्य प्रदेश में छत्तीसगढ़ी, बुंदेलखंडी, मालवी और निमाडी का। यह अनुशंसा हर स्कूल के लिए लागू होगी, प्राइवेट और पब्लिक स्कूलों के लिए भी। फिर धीरे-धीरे एक व्यवस्थित क्रम में शिक्षा का माध्यम मातृभाषा से उस राज्य की मानक भाषा में बदला जाएगा। एक उचित स्तर पर (संभवतः कक्षा 6 या 7) अंग्रेजी को एक भाषा के रूप में, न कि माध्यम के रूप में, जरूर शामिल किया जा सकता है। इस तरह अंग्रेजी उन बच्चों के लिए बाहरी ज्ञान का जरिया बन सकती है जिन्हें इनकी जरूरत पड़े, लेकिन यह भाषा करोड़ों बच्चों को स्कूल से बाहर ढकेलने, फेल घोषित करने और उनमें निराशा पैदा करने का जरिया नहीं बनेगी। यह सुनिश्चित करना होगा कि हर विद्यार्थी राज्य की मानक भाषा के जरिए अधुनातन ज्ञान हासिल कर सके। दुनिया के कई मुल्कों में (उदाहरणतः चीन, जापान, कोरिया, रूस) उनकी भाषा के जरिए आधुनिक ज्ञान देना संभव हुआ है। पूरा लातिनी अमरीका स्पैनिश अथवा पुर्तगाली भाषा के जरिए आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी हासिल कर रहा है। तो फिर भारत में तमिल, तेलुगु, मराठी, बंगला, असमी, खासी, अंगामी और हिंदी जैसी भाषाओं को आधुनिक ज्ञान के रास्ते का रोड़ा बताने का षड्यंत्र क्यों किया जा रहा है? इसका एक ही उत्तर है—यह डर बताकर अभिजात तबका देश और ज्ञान पर अपना वर्चस्व जारी रख पाया है। शायद इसीलिए इस तबके ने पहले गांधी की नई तालीम का विरोध किया और बाद में कोठारी आयोग की समान स्कूल व्यवस्था का।

अनुक्रमणिका

अंतर्राष्ट्रीय,
- ऋण (कर्ज)-अनुदान 132, 136-37, 139-40, 206-07, 259, 280, 288
- निवेश 201
- मुद्राकोष 11, 136, 185, 259
- वित्त एजेंसियां 185, 189, 189 *सं.टि.*, 193, 251, 258-60, 280, 288

अंबेडकर, डॉ. बाबा साहेब 283-84, 288

अखिल भारतीय,
- विज्ञान शिक्षक संघ 27, 50, 51 *सं.टि.*, 54, 56
- शैक्षिक सर्वेक्षण (1986) 204

अधिगम 55, 85, 87, 149, 167 न्यूनतम अधिगम स्तर *भी देखें*

अध्यापक शिक्षण 51, 147, 151-52, 245

अनुसूचित जनजातियां 126, 182, 203

अनुसूचित जाति 182, 203

अभिजात 20
- वर्ग (तबका) 121-22, 129, 149, 218, 226-27, 229, 236, 290, शहरी 184
- स्कूल 54, 69, 158, 162 *सं.टि.*
- व्यवस्था 153

अभिभावक 149, 257-58
- शिक्षक संघ 154

अभिरुचियां 184

अमूर्त चिंतन 231, 235-37

अर्थवाद 240

अर्थव्यवस्था,
- प्राथमिकताएं 160, 163 *सं.टि.*, 288

अरविंद, महर्षि 108, 188

अरुण घोष समिति (1994) 105, 114

अरुणाचल प्रदेश 134 *सं.टि.*

अल्पसंख्यक 169, 172 *सं.टि.*, 193, 247

आंगनवाड़ी 145, 148

आंध्र प्रदेश 115, 170, 207, 243
- शिक्षक स्रोत केंद्र 205

ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड 97, 110, 113-14, 169, 180, 204, 283 आठवीं पंचवर्षीय योजना *भी देखें*

आई.सी.डी.एस. *देखें* समेकित बाल विकास योजना

आचार्य राममूर्ति समिति (1990) 13, 20, 82 *सं.टि.*, 88, 91, 92, 95, 98, 99, 100, 105, 112-13, 116 *सं.टि.*, 119-20, 147, 162 *सं.टि.*, 169, 175, 181, 184-85, 198, 202-05, 207 *सं.टि.*, 208 *सं.टि.*, 255, 258, 289

आदिवासी 126, 128, 134-35 *सं.टि.*, 148, 193, 216, 234-35, 247
- आंदोलन 235
- जनसमूह 127

आयु समूह,
- 0-3 वर्ष 140
- 0-6 वर्ष 100, 103 *सं.टि.*, 145, 197, 251, 253, 256
- 2-3 वर्ष 145, 149
- 3-6 वर्ष 140
- 6-9 वर्ष 199
- 6-11 वर्ष 111 *सं.टि.*, 181, 198, 201, 281
- 6-14 वर्ष 115, 280

9-11 वर्ष 199, 281
9-14 वर्ष 101-02, 108-09, 159-60, 180, 194, 198-99, 201, 256
14 वर्ष तक 112, 121-22, 140 *सं.टि.*, 247-48, 283
14-18 वर्ष 198
15-35 वर्ष 109-10, 180
18 वर्ष तक 202
14-18 वर्ष 198
आयोग *देखें* शिक्षा आयोग

इंद्रप्रस्थ विश्वविद्यालय 257

उच्चतर माध्यमिक स्तर (शाला) 86, 198, 203
उच्च शिक्षा 51, 85, 149, 218, 251, 270 *सं.टि.*
द्वारा उत्पीड़न 148-49
उड़ीसा 170, 221, 223
उत्तर प्रदेश 106, 124-26, 130, 207, 243
उत्तर-प्राथमिक (मिडिल) स्कूल 25, 28, 34, 55, 57, 61, 66-68, 70, 74, 84, 186-88, 192-99, 204, 226
उत्तर (उच्च)-प्राथमिक स्तर 52 *सं.टि.*, 198, 201
उत्पादक काम (श्रम) 10, 11, 15, 101, 126, 161, 189 *सं.टि.*, 198, 225-26, 253
उन्नीकृष्णन निर्णय (1993) 111 *सं.टि.*, 241, 247-48 *सं.टि.*
उपयोगितावाद 11

एकलव्य संस्था 52 *सं.टि.*, 53, 65, 71, 78, 79, 83 *सं.टि.*, 84, 87-91, 133, 271, 274-75, 277
सामाजिक अध्ययन (पाठ्यक्रम) 83 *सं.टि.*
एजुकेशन फॉर ऑल *देखें* सबके लिए शिक्षा
एन.सी.ई.आर.टी. *देखें* राष्ट्रीय शैक्षिक शोध एवं प्रशिक्षण परिषद
एम.एल.एल. *देखें* न्यूनतम अधिगम स्तर
एर्नाकुलम प्रयोग 99, 107, 113
एलिमेंट्री एजुकेशन *देखें* प्रारंभिक शिक्षा

औपचारिक शिक्षा 15, 163 *सं.टि.*, 177, 179, 185, 255
औपचारिक स्कूल 179-80, 184-85, 239-40, 256
औपचारिकेतर (नॉन फार्मल) शिक्षा 2, 52 *सं.टि.*, 58, 97, 100-02, 105, 114-15, 153, 157, 159, 161, 179, 185, 194, 199, 201, 253, 256, 258, 275, 281-82
औपचारिकेतर-करण 185, 255
औपनिवेशिक शिक्षा 19, 52 *सं.टि.*, 146, 165-70, 172

कट्टरवाद 260-61
कर्नाटक 107, 114, 243
कांग्रेस पार्टी (सरकार/शासन) 10, 124-25, 132, 271
काम और ज्ञान 176, 179
काम की दुनिया 15, 16, 166, 176, 205, 240, 250, 287, 290
कॉमन स्कूल सिस्टम *देखें* समान स्कूल व्यवस्था
कार्यक्रम की रूपरेखा *देखें* शिक्षा नीति—कार्यक्रम की रूपरेखा
कार्यानुभव (वर्क एक्सपीरियंस) 11, 101, 177-78, 189 *सं.टि.*
किंडर गार्टन 149, 151
किशोर भारती 16, 19-21, 25, 28, 42, 51 *सं.टि.*, 52 *सं.टि.*, 53, 58, 61, 63, 65-67, 69-74, 76-79, 81 *सं.टि.*, 83 *सं.टि.*, 88, 91, 132-33, 212, 223, 232-33, 237 *सं.टि.*, 270-79

केंद्रीकरण/केंद्रीकृत 18, 55, 56, 63, 146, 164, 166-168, 170, 172, 233, 255, 285
केंद्रीय,
अधिनियम 161-62
नियंत्रण 133, 164, 255
प्रायोजित योजनाएं 169
मंत्री/मंत्रालय 131, 168, 265
मानव संसाधन विकास मंत्री 208 *सं.टि.*
माध्यमिक शिक्षा मंडल (सी.बी.एस.ई.) 87, 131, 146
विद्यालय (स्कूल) 100, 122, 157, 160, 178, 201, 289
शिक्षा सलाहकार बोर्ड/शिक्षा परामर्शी मंडल (केब) 119-20, 169, 207
शैक्षिक एजेंसियां 146
श्रम मंत्रालय 247 *सं.टि.*
सरकार 60, 75, 88, 97, 130-31, 133, 146, 154-55, 163 *सं.टि.*, 168-70, 180, 185, 208 *सं.टि.*, 259-60, 290
स्कूल प्रणाली 178
केब *देखें* केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड (मंडल)
केरल 99, 106-08, 114, 211, 231
शास्त्र साहित्य परिषद 211, 231, 235
कोठारी शिक्षा आयोग (1964-66) 12, 17, 56, 82 *सं.टि.*, 100-01, 122, 123 *सं.टि.*, 140, 153, 156-57, 160-61, 162 *सं.टि.*, 164, 177-78, 201, 206, 250, 266, 289-90
कौशल निर्माण/विकास 166, 198, 205, 240
क्षेत्रीय,
असमानताएं/विषमताएं 199, 201, 204
शिक्षा महाविद्यालय/संस्थान 51, 70, 71, 73, 75

खुद करके सीखो 52 *सं.टि.*
खोजी पद्धति/खोजपूर्ण विधि 27, 29, 30, 39, 40, 45, 49-51, 52 *सं.टि.*

गति निर्धारक स्कूल 182
गतिविधि-आधारित शिक्षण 13, 16, 25, 52 *सं.टि.*, 69, 70, 75, 85, 205
गरीबी 131, 136-37, 187-88, 216-18, 221-27, 230, 233-36, 252
पूंजी का असमान वितरण 131
विकास की अभिजातोन्मुखी नीति 131
गरीबी की रेखा 216-17, 225, 267
गुजरात 59, 147, 189 *सं.टि.*, 222, 243
गांधीजी/महात्मा गांधी 10, 11, 15, 19, 53, 54, 58, 101, 108, 146-47, 165, 176-78, 188, 189 *सं.टि.*, 268, 284, 288, 290
गिजुभाई बधेका 108, 145, 147, 188
गैर-पुरुषवादी परंपरा 126
गैर-फीस खर्च 141
गैर-बराबरी 161, 187, 258
गैर-ब्राह्मणवादी परंपरा 126
गैर-वर्चस्वपूर्ण परंपरा 126
गैर-वैज्ञानिक 92, 265-67
चिंतन 236
परंपरा 218
गैर-शिक्षकीय काम 68
गैर-शैक्षिक मापदंड 138
गैर-सरकारी (निजी) स्कूल 156, 158, 160, 162 *सं.टि.*, 176, 256, 258
गैर-सरकारी संगठन (एन.जी.ओ.) 107, 109, 111 *सं.टि.*, 112, 168-71
गैर-साक्षर (निरक्षर) अभिभावक 251
गैर-स्कूली पहलकदमी 244
गोवा 59, 107
ग्राम शिक्षा समितियां 244, 254, 256, 285
ग्रामीण क्षेत्र 170, 183-84, 186-87, 203, 224, 255, 284, 286

ग्रामीण स्कूल/शालाएं 59, 64, 84, 165
ग्रास इनरोलमेंट रेश्यो (जी.ई.आर.) *देखें* सकल दर्ज अनुपात

चंडीगढ़ 147, 149
चट्टोपाध्याय आयोग 13, 19, 20, 265-70, 270 *सं.टि.*
चतुर्वेदी (रपट) समिति 119, 121, 169
चैलेंज ऑफ एजुकेशन *देखें* शिक्षा नीति–शिक्षा की चुनौती

जन आंदोलन 18, 20, 69, 103, 109, 112, 189, 209, 211, 229, 235-36, 238, 245-47, 281, 284
जन भागीदारी 79, 85, 123, 133, 164, 168-75, 227, 282, 284-85, 289
जनविज्ञान 20, 207, 211, 245
  आंदोलन 18, 76, 211
  द्वंद्वात्मकता 211
जन शिक्षण 211, 237 *सं.टि.*
जनसंख्या 216, 236
  नियंत्रण 22 *सं.टि.*, 108
  पाठ्यपुस्तकों में 216
  विस्फोट 131, 187
  वृद्धि दर 204
  शिक्षा संदेश 194, 200
जनार्दन रेड्डी समिति/रपट (1992) 20, 105, 119, 120, 169, 208 *सं.टि.*
जिला पंचायत 256
जिला परिषद 254
जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डी.पी.ई.पी.) 11, 104 *सं.टि*, 108, 113-14, 137, 140, 158, 164, 170, 179, 186-88, 194, 195 *सं.टि.*, 198, 207, 241, 244, 248 *सं.टि.*, 259, 284
जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान (डाइट) 68, 73, 86, 89, 205, 245, 254, 256
जी.ई.आर. *देखें* सकल दर्ज अनुपात
जी.एन.पी. *देखें* सकल राष्ट्रीय उत्पाद
जीने का हक 139-40, 247 *सं.टि.*
जोमतियन सम्मेलन 81 *सं.टि.*, 102, 104 *सं.टि.*, 179, 185, 187, 193, 197-98, 258-59
जोमतियन चरण,
  उत्तर- 53, 81 *सं.टि.*, 175, 185, 193, 199, 206
  पूर्व- 81 *सं.टि.*, 185
ज्ञान 15, 27, 28, 30, 149, 161, 166-67, 237 *सं.टि.*, 290
  और सत्ता का अंतर्संबंध 252
  का गलियारा 149
  काम और––176
  की दुनिया 15, 16, 166, 176, 250, 290
  प्रणाली 247
  सृजन 10, 15, 25, 237 *सं.टि.*, 251
ज्ञानमीमांसा (एपिस्टॉमोलॉजी) 16, 22 *सं.टि.*, 237 *सं.टि.*, 247

टीचर फेलोशिप स्कीम 52 *सं.टि.*, 64, 65

डिस्कवरी अप्रोच *देखें* खोजी पद्धति
डिस्ट्रिक्ट प्राइमरी एजुकेशन प्रोग्राम (डी.पी.ई.पी.) *देखें* जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम
ड्रॉप आउट (छीजन) 12, 187

तंत्रगत,
  ढांचे और प्रक्रियाएं 25
  तत्व 255
  हस्तक्षेप 59, 250
तपस मजुमदार समिति 163 *सं.टि.*, 289

तमिलनाडु 107, 134 *सं.टि.*, 148

दलित 193, 233, 247, 248 *सं.टि.*, 271, 276, 278 *सं.टि.*
दर्ज अनुपात
  आयु-संबंधित (आधारित)/वास्तविक 169, 181
  सकल 106, 111 *सं.टि.*, 116 *सं.टि.*, 169, 181, 281
दर्ज संख्या 194
10+2 शिक्षा प्रणाली 225-26
दिल्ली प्रशासन/राज्य सरकार 153-56, 159
  मुख्यमंत्री 154
  सर्वशिक्षा अभियान 159
दोहरी शिक्षा प्रणाली 100, 122

नई आर्थिक नीति 102, 136, 259-60
नई तालीम/बुनियादी शिक्षा 10, 15, 16, 19, 51, 53, 54, 58, 81 *सं.टि.*, 101, 146, 176-78, 189 *सं.टि.*, 290
नगर निगम 171, 257-58, 284-85
  अहमदाबाद 257-58
  इंदौर 258
  दिल्ली 139, 154, 171
  मुंबई 27, 57, 59, 63
नवयुग स्कूल 153, 156, 160
नवोदय विद्यालय 13, 14, 100, 122-23, 131, 150, 153, 157-58, 160, 182-84, 201, 258, 289
नर्सरी 148-49
नागरिक कर्तव्यों की शिक्षा 261
नागालैंड 134 *सं.टि.*, 145-46
नामांकन 181, 203
नारीवाद/नारीवादी 19, 76, 79, 80, 152, 241
नारी-विरोधी स्वरूप, शिक्षा का 241
निःशुल्क/अनिवार्य शिक्षा 95, 100, 103 *सं.टि.*, 112, 136-39, 165, 186, 202, 254, 285
  चौदह वर्ष की आयु तक 112, 136, 186, 197
निजी ट्यूशन 139
निवेश की खाई 206, 289
नीति, शिक्षा नीति *भी देखें*
  आर्थिक 184
  राष्ट्रीय आय एवं दिहाड़ी 193
  विकास 131
  विश्व बैंक 186
  वैश्वीकरण एवं बाजारीकरण 184
  सामाजिक-सांस्कृतिक 191
नीति-निर्देशक तत्व (सिद्धांत) 136, 139, 141, 158, 186, 247 *सं.टि.*, 283
नीति-निर्धारक 131, 163 *सं.टि.*, 185-86, 192, 197, 240, 268
नीति निर्धारण (निर्माण) 168, 185-87, 259
नीतिगत,
  उपाय 169
  दस्तावेज 199
  दृष्टि 84
  निहितार्थ 84, 239
  परिवर्तन 60
  वक्तव्य 190, 192, 202, 207
  वादा 198
  विकल्प 249
  संकट 17
नेट इनरोलमेंट रेश्यो (एन.ई.आर.) *देखें* आयु-संबंधित दर्ज अनुपात
न्यूनतम अधिगम स्तर 169, 199, 200, 208 *सं.टि.*
न्यूनतम मजदूरी 101, 138-39

पंचवर्षीय योजनाएं 206, 213
  प्रथम 206

छठी 213
सातवीं 95, 97, 110, 113, 180, 192, 206, 269, 283
आठवीं 95, 97, 101, 110, 114, 165, 206-07, 240, 283
नौवीं 101, 105, 109-10, 112, 114-15, 139-40, 206, 240, 283, 286
दसवीं 283
पंचायत 166, 170-71, 185, 225, 254, 256, 284-85
पंचायती राज 170, 227, 254, 259, 284
पड़ोसी स्कूल 12, 18, 123 *सं.टि.*, 153, 160-62, 250, 256, 289-90
पब्लिक स्कूल 27, 54, 57, 60, 122-23, 153, 157, 162 *सं.टि.*, 289-90
परिवेश 25, 27, 52 *सं.टि.*, 55, 62, 63, 70, 72, 73, 75, 89, 92 *सं.टि.*, 148, 162, 166-67, 170, 179, 185, 205, 216, 282, 290
परिषद *देखें* केरल शास्त्र साहित्य परिषद
परीक्षा/परीक्षा प्रणाली 14, 28, 48-50, 55, 56, 58, 61, 63, 68, 71, 82 *सं.टि.*, 86, 121, 124, 139, 145, 148, 166-67, 171, 182, 205, 255, 269
खुली पुस्तक 49, 50
पारंपरिक 63
बोर्ड 52 *सं.टि.*, 59, 82 *सं.टि.*, 91, 133, 269
मापदंड 58, 82 *सं.टि.*, 87
मौखिक-प्रायोगिक 49, 50
पश्चिम बंगाल 107, 169
पहली शिक्षा नीति *देखें* राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968
पांडिचेरी 107
पाठ्यक्रम 28, 34, 44, 47, 52 *सं.टि.*, 54, 60, 61, 63-65, 68, 77, 78, 81 *सं.टि.*, 83 *सं.टि.*, 86, 88, 92 *सं.टि.*, 101, 112, 115, 120, 124, 133-34, 146, 148-49, 151, 166-67, 170-71, 172 *सं.टि.*, 176, 178-79, 185, 191, 198, 200, 205, 210, 240, 244-46, 248 *सं.टि.*, 250, 253, 255-56, 260, 286-87, 289-90
एन.सी.ई.आर.टी. की रूपरेखा (1988) 119
एन.सी.ई.आर.टी. की रूपरेखा (2000) 260-61
नियोजन 55, 167
निर्माण/निर्धारण 55, 68, 73, 171, 251
प्रच्छन्न या परोक्ष 193, 218 *सं.टि.*, 244, 246, 248 *सं.टि.*
प्रत्यक्ष या घोषित 193, 244, 246, 248 *सं.टि.*
पूर्व-प्राथमिक 148, 152
प्राथमिक 148
प्रारंभिक 205
माध्यमिक एवं उच्च माध्यमिक स्तर 198
विश्वविद्यालयीन स्तर 64
वैविध्यपूर्ण 162
पाठ्यपुस्तक 40, 45, 55, 59, 71, 75, 81 *सं.टि.*, 124-35, 149, 166-67, 170, 216-17, 236, 290
पितृसत्तात्मक 103, 192, 194, 200, 241-43
पुरुषवादी 77, 126
पूर्णकालिक स्कूल 240
पूर्व-प्राथमिक,
चरण 150
पाठ्यक्रम 148, 152
प्रणाली 147
शिक्षक 151

शिक्षा 17, 100, 102, 145, 147, 149, 151-52, 254-56, 285
स्कूल 147, 151
पेस सेटिंग स्कूल *देखें* गति निर्धारक स्कूल
प्रतिभा 12, 14, 150, 182-84
प्रति शिक्षार्थी आवर्ती व्यय 206
प्रयोगनिष्ठ शिक्षण पद्धति 57, 58, 60, 63, 71, 83 *सं.टि.*, 84, 131
प्रवेश परीक्षा 149-50
प्रशिक्षण 32, 34, 59, 63, 65, 68, 72-74, 79, 86, 89, 133, 148, 161, 217, 221-22, 227-29, 248 *सं.टि.*, 256, 265
प्राथमिक (प्रायमरी) 75, 92, 102, 103 *सं.टि.*, 111 सं.टि., 116 *सं.टि.*, 163 *सं.टि.*, 180-81, 186, 192, 203, 218, 239, 253
एवं उत्तर प्राथमिक स्तर 52 *सं.टि.*
कक्षा 100
-प्रारंभिक 270 *सं.टि.*
स्कूल 32, 97, 98, 115, 151, 156-58, 161, 186-88, 193, 204, 208, 266
प्राथमिक बनाम प्रारंभिक शिक्षा 103 *सं.टि.*
प्राथमिक शिक्षा 95, 97, 99, 102, 103 *सं.टि.*, 105, 108, 111 *सं.टि.*, 123, 133, 140, 164, 187, 192-93, 197-200, 206-07, 251-52, 281-84, 286-87
लोकव्यापीकरण 267, 282-84
विश्व बैंक 187
प्रायवेट (प्राइवेट) स्कूल 54, 100, 132, 138, 153, 155, 157, 159, 162, 162 *सं.टि.*, 178, 289-90
प्रारंभिक शिक्षा 97-99, 102, 103 *सं.टि.*, 105-06, 111 *सं.टि.*, 112-14, 137, 140, 145, 149, 151, 165, 168, 184, 186, 189, 189 *सं.टि.*, 193, 197-98, 201, 203, 205-07, 238-40, 245, 251-55, 270 *सं.टि.*, 282-84, 286, 288-89
अनिवार्य और निःशुल्क 283
83वां संशोधन विधेयक 289
बुनियादी अधिकार 111 *सं.टि.*, 241
लोकव्यापीकरण (सार्वजनीकरण) 17-19, 65, 67, 69, 83 *सं.टि.*, 95, 96, 112, 137, 164-65, 172, 198, 201, 238-56, 280, 282-83, 287-88
विश्व बैंक 189
वैकल्पिक दृष्टि 145
प्रारंभिक शिक्षातंत्र 164-72
प्रारंभिक स्कूल प्रणाली 201
प्रोग्राम ऑफ एक्शन *देखें* कार्यक्रम की रूपरेखा
प्रौढ़ शिक्षा 180, 214, 9-14 वर्ष की आयु 180
प्रौढ़ साक्षरता 17, 95-98, 101-02, 113, 159, 180, 199, 201, 283
अभियान 107, 109, 113-14
कक्षाएं 2, 109, 159
कार्यक्रम 52 *सं.टि.*, 194, 198
राष्ट्रीय नीति 99

बचपन 145, 151
बच्चे
अधिकार 196
अभिजात तथा मध्यम वर्ग के 122
कुपोषित 216
गरीब 2, 96, 97, 115, 119, 121-22, 132, 139, 150, 161, 163 *सं.टि.*, 239-40, 287
गैर-नामांकित 203
ग्रामीण 85, 150

दलित 248 *सं.टि.*
दलित और आदिवासी 100
नामांकित 203
प्रतिभाशाली 14, 182-84
प्रतिभाहीन 14, 150, 182-84
मातृभाषा 290
विकलांग 2, 197-98, 201, 253, 256
शहरी मध्यम वर्ग 119
शिक्षित 95, 96
श्रमिक 239
साक्षर 95, 96
बस्ते का बोझ 12, 56, 119-20, 132, 138, 145, 199, 205
बहु-परती स्कूल व्यवस्था 153
बाल अधिकार 18, 196, 199
बाल-केंद्रित शिक्षा 69, 70, 75, 123, 133, 200, 253-54, 256
बाल मजदूर (श्रमिक) 97, 101-02, 109, 115, 153, 157-58, 200, 239-40, 246
बाल मजदूरी (श्रम) 18, 158, 169, 199, 238, 253, 282, 284
बाल-मृत्यु दर 102
बाल विकास 200, 246
बाल विरोधी 92, 138, 147, 149, 151, 189, 238, 287
बालिका (लड़की) शिक्षा 22 *सं.टि.*, 100, 188, 192, 194, 195 *सं.टि.*, 199, 200, 241-42, 244, 248 *सं.टि.*, 254
जनसंख्या नियंत्रण 22 *सं.टि.*
प्रजनन दर का नियंत्रण 22 *सं.टि.*, 188
विश्व बैंक 22 *सं.टि.*, 188
बाहरी वित्तपोषण 251
बिहार 151, 207, 243, 290
बुनियादी प्रशिक्षण संस्थान 73-75
बुनियादी शिक्षा *देखें* नई तालीम
बुनियादी हक *देखें* मौलिक अधिकार

भारत जन विज्ञान जत्था 52 *सं.टि.*, 65, 83 *सं.टि.*, 104 *सं.टि.*, 163 *सं.टि.*, 172 *सं.टि.*, 207, 242 *पा.टि.*, 245, 245 *पा.टि.*, 247 *सं.टि.*, 248 *सं.टि.*, 249
भारत सरकार 18, 79, 136, 180, 187, 189 *सं.टि.*, 196-98, 201-02, 207 *सं.टि.*, 208 *सं.टि.*, 211, 221, 225-26, 230, 239, 242, 249, 255, 258, 265, 269, 273-74, 278 *सं.टि.*, 281-82, 284, 289
भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) 124-25, 129-30, 132-34, 134 *सं.टि.*, 260, 271, 278, 279 *सं.टि.*
भाषा,
मातृभाषा 100, 123, 145-46, 149-51, 161, 179, 185, 250, 253, 290
माध्यम 146, 253, 290
मानक 250, 253, 290
मानकीकृत 151
मूल 127 संस्कृत 134, 135 *सं.टि.*
भू-सांस्कृतिक 14, 55, 147-48, 167, 172, 195, 246, 250
भौगोलिक एवं सांस्कृतिक विविधता 77
भौतिकीय सुविधाएं 161

मध्य प्रदेश,
उच्च शिक्षा अनुदान आयोग 126
राज्य माध्यमिक शिक्षा मंडल 87
राज्य शिक्षा संस्थान 27, 54, 75
शासन 28, 48, 51, 52 *सं.टि.*, 64, 68, 84, 133, 136, 208 *सं.टि.*, 274, 285
हिंदी ग्रंथ अकादमी 134 *सं.टि.*
मध्याह्न भोजन 115, 240, 247 *सं.टि.*, 281

मनोवैज्ञानिक,
कुंठा 75
स्तर 66
मरकजी मकतब इसलामी 130
महात्मा गांधी *देखें* गांधीजी
महाराष्ट्र 59, 147, 222, 235, 267
महाविद्यालय 65, 71, 74, 86, 270 *सं.टि.*
महिला 18, 103, 172 *सं.टि.*, 188, 192, 194, 195 *सं.टि.*, 196, 238, 242, 244-45, 255, 277
जोमतियन सम्मेलन 102-03
निरक्षर 103, 240
शिक्षा 190, 194, 281
समाख्या 191-92, 194, 195 *सं.टि.*, 241-43, 248 *सं.टि.*
सशक्तीकरण 19, 103, 191-95, 195 *सं.टि.*, 200, 238, 241-45, 245 *पा.टि.*, 248 *सं.टि.*, 254
साक्षर/साक्षरता 102-03
सामाजिक दर्जा 190-92, 194, 195 *सं.टि.*, 241
सामूहिक चिंतन 194, 243
सामूहिक ज्ञान 242
मॉडल स्कूल 153, 289
माध्यमिक शिक्षा 151, 198
माध्यमिक शिक्षा मंडल 162 *सं.टि.*
मानव विकास सूचकांक 241
मानव संसाधन विकास मंत्रालय 11, 65, 84, 88, 95, 96, 102, 106, 108, 110 *सं.टि.*, 116 *सं.टि.*, 119, 131, 134 *सं.टि.*, 135 *सं.टि.*, 137, 160, 188, 196, 258, 273-74, 278 *सं.टि.*, 281
यशपाल समिति 120
वार्षिक रपट 116 *सं.टि.*
मानव संसाधन विकास मंत्री 112, 120, 123, 183
मानवीय मजदूरी 139
मानवीय हक 188, 194, 202, 242
मिजोरम 106-07, 114, 134 *सं.टि.*
मिडिल स्कूल *देखें* उत्तर-प्राथमिक स्कूल
मित्र मंडल केंद्र रसूलिया 16, 25, 28, 50, 51 *सं.टि.*, 52, 54, 58, 59, 61-63, 69-74, 76, 78, 81 *सं.टि.*, 83 *सं. टि.*, 88, 91, 133, 224
मिनिमम लेवल्स ऑफ लर्निंग *देखें* न्यूनतम अधिगम स्तर
मिनी-एन.सी.ई.आर.टी. 90, 170
मिली-जुली संस्कृति 125, 148, 260
मुख्यधारा, शिक्षा की 53, 54, 72, 75, 189 *सं.टि.*
मुदालियर आयोग 82 *सं.टि.*
मुद्राकोष *देखें* अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष
मूल्यांकन 68, 71, 74, 77, 83 *सं.टि.*, 166, 171, 199, 239
मापदंड 14, 15, 55, 58, 73, 82 *सं.टि.*, 114, 149-50, 166-67, 254-55
मूल्यों की शिक्षा 134 *सं.टि.*, 268
मेघालय 134 *सं.टि.*, 148
मैकाले 11
मोडक, ताराबाई 147
मौलाना आजाद प्रारंभिक एवं सामाजिक शिक्षा केंद्र, शिक्षा विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय 207 *सं.टि.*, 245, 247 *सं.टि.*, 249
मौलिक (मूलभूत) अधिकार 22 *सं.टि.*, 110, 111 *सं.टि.*, 141, 156, 158, 160, 202, 241, 247 *सं.टि.*, 248 *सं.टि.*, 285

यंत्रवत सोच 151, 188
यथार्थ 132, 134 *सं.टि.*, 146, 151, 167, 175, 190, 198, 204, 218,

228-29, 231, 238, 249-50, 256, 267, 269-70, 287
यशपाल समिति (1993) 12, 119-20, 123, 149, 169, 205, 289
यूनिसेफ 111 *सं.टि.*, 196, 208 *सं.टि.*, 239, 239 *पा.टि.*
यूनेस्को 136, 214
यूरोपीय आर्थिक समुदाय 53, 137, 139, 163 *सं.टि.*, 179, 185
योजना आयोग 79, 105, 110, 112, 131, 134 *सं.टि.*, 213, 226, 236, 259
सदस्य 131

रटंत पद्धति 58, 138
राजनीतिक दल 17, 132, 140, 163 *सं.टि.*, 164, 280, 286
राजस्थान 59, 106, 207, 242
राजीव गांधी फाउंडेशन 95, 96
राज्य 161, 165, 167, 169-70, 186, 197-99, 202, 208 *सं.टि.*, 241, 252, 259, 266, 268
राज्य परीक्षा मंडल 189 *सं.टि.*
राज्य शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान 205
राज्य शिक्षा मंत्रियों का सम्मेलन 134 *सं.टि.*, 260
राज्य शैक्षिक शोध एवं प्रशिक्षण परिषद (एस.सी.ई.आर.टी.) 82 *सं.टि.*, 87
राज्य सरकार 60, 75, 131, 133, 153, 162, 170, 185, 211, 259, 271, 287, 289-90
राज्य सूची 60, 168
राधाकृष्णन आयोग 82 *सं.टि.*
राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद (एन.सी.टी.ई.) 136
राष्ट्रीय नमूना (बानगी) सर्वेक्षण 115, 203, 286
राष्ट्रीय प्रारंभिक शिक्षा मिशन 95, 97, 110, 113, 115-16, 283
राष्ट्रीय प्रौढ़ साक्षरता मिशन 52 *सं.टि.*
राष्ट्रीय शिक्षक आयोग *देखें* चट्टोपाध्याय आयोग
राष्ट्रीय शिक्षा नीति *देखें* शिक्षा नीति
राष्ट्रीय शिक्षा नीति समीक्षा समिति *देखें* आचार्य राममूर्ति समिति
राष्ट्रीय शैक्षिक नियोजन एवं प्रशासन संस्थान (नीपा) 168, 208, *सं.टि.*
राष्ट्रीय शैक्षिक शोध एवं प्रशिक्षण परिषद (एन.सी.ई.आर.टी.) 27, 29, 44, 51, 55, 56, 59, 60, 70-73, 81 *सं. टि.*, 82 *सं.टि.*, 83 *सं.टि.*, 87, 92 *सं.टि.*, 104 *सं.टि.*, 119, 130, 146, 168-69, 172, 182-83, 199, 216-18, 225-26, 260-61
  क्षेत्रीय परामर्शदाता 59, 60, 82 *सं.टि.*
  क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान (रीजनल कालेज) 89
  पाठ्यक्रम संबंधी रूपरेखा (1988) 119
  पाठ्यक्रम संबंधी रूपरेखा (2000) 260-61
  प्रयोगनिष्ठ विज्ञान शिक्षण 82 *सं.टि.*
  विज्ञान किट 31, 39, 82 *सं.टि.*, 86, 169
राष्ट्रीय साक्षरता मिशन 65, 95, 97-99, 101-02, 105, 107-08, 110, 110 *सं.टि.*, 112-15, 169-70, 180, 198-99, 201, 211, 240-42, 283
  गैर-सरकारी संगठन 169
  जोमतियन सम्मेलन 102
  नीतिगत तर्कहीनता 105
  प्रारंभिक शिक्षा से विरोधाभास 98, 105
  वैश्वीकरण 102
राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ 124, 271, 278-79
  सरस्वती शिशु मंदिर 124
रूढ़िगत पद्धति 58, 86
रोजगार मूलक शिक्षा/रोजगार 20, 176, 191,

220-21, 224-26, 230, 233, 240, 260 व्यावसायिक शिक्षा *भी देखें*

लिंग (लैंगिक) परिप्रेक्ष्य/विषमता 19, 132, 190, 193-95, 199, 201, 203, 238, 241-45

लोकव्यापीकरण, शिक्षा का 65, 97, 110, 112, 165, 201, 238, 240, 245, 254, 257, 267, 280, 282-84, 286-89

लोकशाला 83 *सं.टि.*, 104 *स.टि.,* 163 *सं. टि.*, 239, 249

कार्यक्रम 52 *सं.टि.*, 65, 163, 171, 172 *सं.टि.*, 242 *पा.टि.*, 245 *पा. टि.*

प्रक्रिया 207, 239, 243, 245, 248 *सं.टि.*, 249, 249 *पा.टि.*, 251-52, 255

मॉडल 249

वर्क एक्सपीरियंस *देखें* कार्यानुभव

वर्चस्व 20, 149, 162, 260

अंग्रेजी का 12, 145-46, 149, 253, 290

विशेषज्ञों का 14

वर्धा शिक्षा सम्मेलन 176, 268, 284

वस्तुनिष्ठ पद्धति 92

वास्तविक दर्ज अनुपात *देखें* दर्ज अनुपात

विकेंद्रीकरण/विकेंद्रीकृत/विकेंद्रित 18, 69, 71, 78, 79, 85, 88, 89, 91, 92, 123, 133, 147-48, 164, 167-69, 171-72, 227, 246, 250, 252, 255, 259, 285, 289-90

विज्ञान 25, 31, 211, 220, 228-29, 237 *सं.टि.*

जनविरोधी स्वरूप 211

शिक्षण 25, 27, 55, 56, 84, 131, 217

विश्व बाजार 260

विश्व बैंक 11, 22 *सं.टि.*, 53, 81 *सं.टि.*, 105, 108, 111 *सं.टि.*, 113-14, 116 *सं.टि.*, 136, 158-60, 164, 170, 179, 185-89, 189 *सं. टि.*, 193-94, 207, 241, 244, 251, 258-59, 280, 282, 284, 288

शिक्षा के उद्देश्य 187

विश्वविद्यालय 25, 42, 43, 50, 51, 52 *सं. टि.*, 55, 62-65, 83 *सं.टि.*, 86, 92, 106, 126, 139, 191-92, 249

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग 50, 52 *सं. टि.*, 64, 65, 78, 79, 83 *सं.टि.*, 131

विश्वविद्यालयीन 64-65, 91, 126, 191, 245, 251, 270 *सं.टि.*

विश्व शिक्षा सम्मेलन *देखें* जोमतियन सम्मेलन

वैकल्पिक,

दृष्टि 145-46, 249, 252-55

नीति 17, 20, 148, 238, 242, 249

परिप्रेक्ष्य 19

मॉडल 145, 249

विद्यालय 158-59, 179, 194, 281

वैज्ञानिक,

पद्धति 20, 54, 55, 67, 86, 175, 190, 214, 221-23, 229-30, 234, 236, 237 *सं.टि.*, 238

प्रक्रियाएं 223, 229-30

मानसिकता (दृष्टिकोण, सोच) 54-56, 66, 67, 79-80, 86, 89, 106, 129, 131, 166, 198, 227

(विविध) 54-57, 66, 67, 110, 125, 127, 131, 150, 163 *सं.टि.,* 190, 212-13, 215-16, 220-23, 226-30, 236-37, 261, 266-67, 270

वैधानीकरण 76, 81 *सं.टि.*, 168

वैश्वीकरण 11, 53, 81 *सं.टि.*, 102, 136,

160, 184-85, 187-89, 259-60
वोकेशनल एजुकेशन *देखें* व्यावसायिक शिक्षा
व्याख्यान 37, 55, 60
-आधारित शैली 138
पद्धति 67-69, 74, 75, 82 *सं.टि.*, 85
व्यावसायिक शिक्षा 11, 176, 191, 198, 201, 225-26

शराबबंदी आंदोलन 103
शहरी मलिन बस्तियां 239
शाला निर्माण समिति 285
शाला प्रबंधन समिति 285
शिक्षक 28, 34, 55, 131, 133, 166, 205, 265, 268, 282, 290
अभिजात पृष्ठभूमि के 266
दर्जा 68, 136, 265
प्रशिक्षक 133, 151-52, 217
प्रशिक्षण 82 *सं.टि.*, 124, 171, 189, 268
विश्वविद्यालयीन-महाविद्यालयीन 85
संगठन 125, 163 *सं.टि.*, 265-66, 268
समाख्या 205
सशक्तीकरण 205
स्थानांतरण 59, 68, 166, 168
शिक्षक-विद्यार्थी अनुपात 82 *सं.टि.*, 161, 187
शिक्षण पद्धति 55, 63, 68, 86, 115, 124, 147, 166, 170-71, 245, 255, 290
शिक्षा 10, 55, 149, 158, 182, 240, 244, 265, 268, 288
के उद्देश्य 187
कौशलात्मक आयाम 15, 22 *सं.टि.*, 166
गुणवत्ता 189, 197, 204, 206-07, 240
भावात्मक आयाम 15, 22 *सं.टि.*, 166
संज्ञानात्मक आयाम 15, 22 *सं.टि.*, 166
समग्र विकास 188
सांप्रदायिक स्वरूप 260
शिक्षा आयोग 64, 65, 131, 175, 177-78, 202
शिक्षाकर्मी योजना 282
शिक्षा गारंटी स्कीम 159, 163 *सं.टि.*, 208 *सं.टि.*, 282, 286
शिक्षा नीति 2, 10, 53, 60, 75, 76, 82 *सं.टि.*, 84, 87, 88, 92, 92 *सं.टि.*, 97-100, 109-10, 113, 124, 132-33, 148, 153, 155-60, 168-69, 175, 178, 180-85, 187, 189, 189 *सं.टि.*, 190-96, 201-02, 207, 208 *सं.टि.*, 238-39, 242, 249, 258-59, 280-82
कार्यक्रम की रूपरेखा 60, 75, 82 *सं.टि.*, 182-85, 190-91
गांधी की 177
पितृसत्तात्मक ढांचा 194
महिला सशक्तीकरण 191, 193-95
यौन शोषण 193
राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1968) 11, 56, 123 *सं.टि.*, 153, 156-57, 178, 183, 201, 280, 289
राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) 11, 82 *सं.टि.*, 92, 95, 97, 99, 100, 102, 109, 112-13, 123 *सं.टि.*, 130, 153, 157-58, 163 *सं.टि.*, 164-65, 168, 175, 178-83, 190, 198, 201, 206, 238, 242, 257-58, 273, 280, 282-83, 289
राष्ट्रीय शिक्षा नीति-संशोधित (1992) 11, 101, 108, 110, 116, 123 *सं.टि.*, 158, 165, 178, 181, 190, 201, 238, 280, 289
लिंग समता 194-95

विश्व बैंक 188
विश्वविद्यालय 191-92
विश्लेषण 82 *सं.टि.*, 175, 184, 190, 239
वैज्ञानिक पद्धति 175, 190
वैश्वीकरण 184
शिक्षा की चुनौती 182
सबके लिए शिक्षा 186
सामाजिक हस्तक्षेप 191
होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम 75, 82 *सं.टि.*
शिक्षा मंत्रालय 79, 188, 225, 258
शिक्षा महाविद्यालय 73, 75
शिक्षा-विरोधी प्रावधान 287
शिक्षाशास्त्र 145, 247, 250
शिशु देखभाल और शिक्षा 103 *सं.टि.*, 147-48, 151, 192, 197, 201, 251, 253, 256
शैक्षिक तकनालॉजी 265
शैक्षिक नवाचार 25, 51, 78, 83 *सं.टि.*
शैक्षिक प्रशासन 124, 133, 166, 169
शैक्षिक बजट 188-89
शैक्षिक बाजार 157
शैक्षिक मूल्य 138
शैक्षिक लक्ष्य 202
शैक्षिक संकुल 256
शैक्षिक हस्तक्षेप 52 *सं.टि.*, 73, 81

संघ परिवार 124-25, 128, 130, 133, 134 *सं.टि.*
आदिवासी 126
गैर-भौतिकवादी 134 *सं.टि.*
पलायनवादी सोच 125, 134 *सं.टि.*
विद्या भारती 133
सरस्वती शिशु मंदिर 124-25, 128, 130, 133
संचालक लोकशिक्षण (भोपाल) 27, 59, 72
संयुक्त राष्ट्र 18, 196, 207 *सं.टि.*, 241
संयुक्त राष्ट्र सहमति-प्रपत्र 196-99, 201-02
संरचनात्मक समायोजन 136, 193, 259
संविधान 60, 96, 97, 99, 103 *सं.टि.*, 106, 108, 112, 136-37, 148, 158, 161-62, 165, 184-86, 197, 238, 241, 244, 247, 248 *सं.टि.*, 249, 252, 257, 259, 261, 267, 280-83, 285, 290
अनुच्छेद *21* 247 *सं.टि.*, 285
अनुच्छेद *45* 95, 100, 102, 103 *सं.टि.*, 108, 112, 136-37, 139-41, 165, 186-87, 197-98, 238, 241, 244, 247 *सं.टि.*, 249, 252, 281, 283, 285-86
अनुच्छेद *350* (क) 290
खंड तीन 158, 247 *सं.टि.*, 282, 285
खंड चार 136, 158, 161, 186, 247 *सं.टि.*, 286
निजीकरण 257
नीति निर्देशक तत्व 136, 139, 141, 158, 186, 247 *सं.टि.*, 283
निर्माता 139, 284, 288
राज्य सूची 60, 168
संशोधन 168, 286
73वां/74वां 164, 170-71, 284-85
83वां 285-87, 289
अधिनियम 248 *सं.टि.*
बिल 111 *सं.टि.*
सभा 233-284
समवर्ती सूची (विषय) 60, 133, 168
समान स्कूल व्यवस्था 162
संवैधानिक (विविध) 103 *सं.टि.*, 105, 130, 133, 137, 140, 160, 162, 168, 170, 172, 186, 193, 198, 206, 239, 252, 254-55, 258, 286
संवैधानिक रूप से शिक्षित 199

संसद 133, 140, 153, 156-57, 160-61, 168, 178, 185, 208 *सं.टि.*, 258-59, 280, 285
संसदीय समिति 153
संसदीय स्थायी समिति 169, 285
संसाधन 200, 206-07, 216, 240, 253, 288
सकल दर्ज अनुपात *देखें* दर्ज अनुपात
सकल राष्ट्रीय उत्पाद 139-40, 162, 163 *सं.टि.*, 206, 289
सबके लिए शिक्षा 11, 81 *सं.टि.*, 101-03, 104 *सं.टि.*, 159, 179, 185-87, 193, 197-99, 206-07, 258-59
समता 153, 201-02, 248 *सं.टि.*, 253, 257, 259
समतामूलक (विविध) 11, 12, 20, 161, 193, 241, 258
समाजकर्मी 271, 278 *सं.टि.*, 279 *सं.टि.*
समाजविज्ञान *देखें* सामाजिक विज्ञान
समाजीकरण 166
समाजोपयोगी उत्पादक कार्य (एस.यू.पी.डब्ल्यू) 11, 225
समान गुणवत्ता 123 *सं.टि.*, 156, 161-62, 178, 194, 289
समान स्कूल प्रणाली (व्यवस्था) 12, 18, 100, 122, 123 *सं.टि.*, 153, 156-58, 160-62, 173, 178, 183-84, 201-02, 250, 252, 256, 289-90
समानांतर शिक्षा (धाराएं, परतें, व्यवस्था, अन्य) 153, 156, 158-61, 179-80, 194, 198, 201, 253, 256, 282
समुदाय/सामुदायिक 69, 88, 148, 164, 171, 202, 205-06, 250, 252, 254, 289
  नियंत्रण 85, 151, 168, 241, 247, 254
  पहलकदमी 239, 251
  प्रबंधन 251
  भागीदारी 69, 133, 147-48, 164, 168, 170-72, 241, 246
  सशक्तीकरण 244
  हस्तक्षेप 250
समेकित बाल विकास योजनाएं (कार्यक्रम/सेवाएं) 145, 148, 197, 253
समेकित विद्यालय 156
सरकारी सहायता-प्राप्त स्कूल 139
सरकारी स्कूल 58, 64, 85, 138-39, 141, 153, 155-61, 162 *सं.टि.*, 176, 179-80, 183-84, 194, 271
सरकारी स्कूली तंत्र (प्रणाली) 70, 85, 179, 189, 239, 250, 252, 282
सर्वोदय विद्यालय (स्कूल) 153-54, 156
सर्वोच्च न्यायालय 111 *सं.टि.*, 139-40, 154, 160, 169, 241, 247 *सं.टि.*
सवा रुपए में विज्ञान 52 *सं.टि.*, 72
सवाल पूछने की प्रवृत्ति 106
सशक्त स्कूल 171, 255
सशक्तीकरण,
  महिला 200
  शिक्षक 205
  स्कूल 255
सहायक जिला शाला निरीक्षक *देखें* स्कूल इंस्पेक्टर
सांप्रदायिक और धार्मिक कट्टरवाद 260
साक्षर 96, 108, 253, 280
  बच्चे 95, 96
  माता 200
साक्षरता 17, 95-111, 114, 160, 169, 189 *सं.टि.*, 199, 200, 203, 240-42, 282-83
  अभियान/आंदोलन 99, 102-03, 106-07, 109, 256, 281
  जोमतियन सम्मेलन 102-03, 104 *सं.टि.*

नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा 95
नीति/शिक्षा नीति 98
प्राथमिक/प्रारंभिक शिक्षा 95, 98
श्रम 110
वैश्वीकरण 102
स्वैच्छिक संस्थाएं 95, 98
साक्षरता दर 99, 102-03, 104 *सं.टि.*, 106-08, 113-14, 203
साक्षरता मिशन *देखें* राष्ट्रीय साक्षरता मिशन
सामाजिक आंदोलन 192, 211, 239, 244-45, 252
सामाजिक-आर्थिक यथार्थ *देखें* यथार्थ
सामाजिक इंजीनियरिंग 191
सामाजिक कर्म 253
सामाजिक चरित्र 167, 246, 261
सामाजिक न्याय 184, 202, 212, 246-47, 248 *सं.टि.*, 253, 257, 259
सामाजिक परिवर्तन 20, 21, 70, 191, 212, 229, 246, 271-73, 277-78
शिक्षा में परिवर्तन 19
सामाजिक-मनोवैज्ञानिक पहलू 149
सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ *देखें* यथार्थ
सामाजिक (समाज) विज्ञान 16, 131-33, 220-23, 228-29, 237 *सं.टि.*
सामाजिक समूह 151, 156-57, 247
सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश (माहौल) 148, 183
सामाजिक-सांस्कृतिक यथार्थ *देखें* यथार्थ
सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता 146, 253
सामाजिक (स्वैच्छिक) हस्तक्षेप 19, 89, 191, 207, 238, 247 *सं.टि.*, 250
सामुदायिक *देखें* समुदाय
सामूहिक चिंतन 194, 243, 247
सामूहिक ज्ञान 242
सामूहिक प्राकृतिक संसाधन 193, 199
सी.ए.बी.ई. *देखें* केंद्रीय शिक्षा सलाहकार मंडल
सीखने का माध्यम 250
सीखने की पद्धति 150, 199
सीखने की प्रक्रिया *देखें* अधिगम
सीखना-सिखाना 166-67, 170, 250,
सी.बी.एस.ई. *देखें* केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा मंडल
सुविधायुक्त स्कूल 153
सूक्ष्म नियोजन/योजना 169, 251, 256
सूचना प्रौद्योगिकी 260
शिक्षा 260-61
सेवाकालीन प्रशिक्षण/शिक्षण 63, 67, 68, 71, 254
सेवापूर्व प्रशिक्षण/शिक्षण 68, 74, 254
सैंपल सर्वे *देखें* राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण
सैनिक विद्यालय (स्कूल) 100, 122, 157, 160, 201, 289
सोशली यूजफुल प्रोडक्टिव वर्क *देखें* समाजोपयोगी उत्पादक कार्य
स्कूल इंस्पेक्टर 31, 72, 74, 172
स्कूलनुमा दुकानें 155, 157, 159
स्कूल पंचांग 37, 42, 43
स्कूल में ठहराव 203
स्कूलविहीन बस्तियां 204, 208 *सं.टि.*, 253
स्कूल संकुल 256
स्कूल-समाज (समुदाय) संबंध 69, 77, 255
स्कूल सशक्तीकरण 255
स्कूली अनुवर्तन 72
स्कूली तंत्र (प्रणाली, व्यवस्था) 19, 68, 112, 131, 156-57, 160-61, 163 *सं.टि.*, 167, 171, 172 *सं.टि.*, 182, 189, 211, 250, 283
स्थानीय निकाय 166, 171
स्थानीय परिवेश *देखें* परिवेश
स्वतंत्रता आंदोलन/स्वाधीनता संग्राम 121, 126, 133, 146, 201, 259-60, 268
स्वैच्छिक (स्वयंसेवी) कार्यक्षेत्र/संगठन/संस्था 20, 28, 66, 84, 95, 98, 111 *सं.*

टि., 168, 171, 196, 212, 214, 226, 246, 271-72, 277-78, 288

हाईस्कूल 68, 89, 106
हायर सेकेंडरी 72, 74, 75
 शिक्षक 74
 स्कूल 71, 72, 225
हिंदी 151, 290
हिंदुत्व/हिंदुत्ववादी 124, 126, 134 *सं.टि.*, 260-61
हिंदू संस्कृति 125-26
हुसैन, डॉ. जाकिर 288
होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम (होविशिका) 16, 19, 25, 48, 51 *सं.टि.*, 52 *सं.टि.*, 53, 63-72, 74-80, 82, 83 *सं.टि.*, 84, 86-92, 92 *सं.टि.*, 131, 133, 205
 कार्यक्रम की रूपरेखा 75, *82 सं.टि.*
 केंद्रीय मूल्यांकन समिति 84, 88-90, 92
 जनमंच (नागरिक समाज) 91
 जिला-स्तरीय 51, 52 *सं.टि.*, 70, 71, 73, 74, 76
 टाटा आधारभूत शोध संस्थान (टाटा इंस्टीच्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च) 25, 27, 50, 51 *सं.टि.*, 57-59, 61-62
 तंत्रगत परिवर्तन 87
 त्रिकोणीय फंसाव 77, 79
 दिल्ली विश्वविद्यालय 25, 42, 43, 50, 52 *सं.टि.*, 62-65, 83 *सं.टि.*, 139
 नारीवादी सोच 79, 80
 नीति 53, 60, 75, 76, 82 *सं.टि.*, 84, 87, 88, 92, 92 *सं.टि.*
 पी.ई.टी./पी.एम.टी. 89, 91
 प्रतिस्पर्धात्मक परीक्षा 87, 92 *सं.टि.*
 बोर्ड परीक्षा 82 *सं.टि.*
 महिलाओं की भागीदारी 79
 मुख्यधारा 53, 81, 87, 89
 राजनेता, शैक्षिक नौकरशाह एवं शिक्षक का त्रिकोण 69, 76, 79
 राज्य-स्तरीय (प्रदेश-स्तरीय) प्रसार 73, 75, 78, 84, 88-91
 राष्ट्रीय स्तर 84
 विकासखंड-स्तर 91
 विश्वविद्यालय स्तर 51, 64, 92
 शैक्षिक हस्तक्षेप 81
 संगम केंद्र 71, 72, 74, 86, 89
 समानांतर शिक्षा 81
 स्रोत दल (व्यक्ति, शिक्षक, समूह) 29, 34, 50, 51 *सं.टि.*, 61-63, 67, 68, 70-73, 75, 76, 79, 86, 89, 91

●●●

आम तौर पर स्वैच्छिक संस्थाओं में काम करनेवाले लोग अपने समृद्ध सामाजिक अनुभवों को राष्ट्रीय मुद्दों और नीतिगत सवालों से जोड़ नहीं पाते। यह पुस्तक इस लोक से हटकर काम करने और वैज्ञानिक चिंतन का परिणाम है। बात चाहे शिक्षा में परिवर्तन की हो या शिक्षा के जरिए सामाजिक बदलाव की, अकसर लोग इसका समाधान किसी सृजनात्मक संस्था का निर्माण करके अथवा चंद स्कूलों में नवाचार में खोजते रहे हैं। इस पुस्तक में काफी लंबे सामाजिक अनुभव और आंदोलन के विश्लेषण के आधार पर स्वैच्छिक संस्थाओं के कार्य क्षेत्र के इस भ्रम को चुनौती दी गई है। इन बातों के साथ ही लेखक ने राष्ट्रीय स्तर पर अनेक शैक्षिक आयोगों, समितियों और अन्य मंचों से हिस्सेदारी के दौरान जो सीखा है, उसकी सीमाओं और संभावनाओं की वस्तुनिष्ठ व्याख्या भी इस पुस्तक में प्रस्तुत की गई है।

इस पुस्तक में इस बात की जोरदार वकालत की गई है कि आजादी के पचास साल बाद भी शिक्षा के बदलाव और औपनिवेशिक ढांचे में फंसे रहने का असली कारण देश में अपनाई गई शिक्षानीतियों में अंतर्निहित विरोधाभासों और विकृतियों में खोजा जा सकता है।

शिक्षा पर भूमंडलीकरण और बाजारीकरण के प्रभावों तथा हाल में भारतीय स्कूल व्यवस्था में विश्व बैंक की दखलंदाजी के कारण बढ़ते हुए राष्ट्रीय संकट के प्रति हम सबको सतर्क किया गया है। आज के शैक्षिक हालात को बदलने के लिए यह पुस्तक एक जरूरी परिप्रेक्ष्य तथा विकल्प की रूपरेखा भी पेश करती है। भारतीय शिक्षा के सुधार और उसकी उन्नति में दिलचस्पी रखने वाले हर व्यक्ति को यह पुस्तक प्रेरित करेगी।

अनिल सद्‌गोपाल का जन्म (1940) लाहौर (पाकिस्तान) में हुआ और स्कूली शिक्षा उत्तर प्रदेश में; उच्च शिक्षा दिल्ली विश्वविद्यालय और भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान (पूसा, दिल्ली) में। पी-एच.डी. की उपाधि 'जीवरसायन और और आणविक जीवशास्त्र' में कैलिफोर्निया इंस्टीच्यूट आफ टेक्नॉलोजी (संयुक्त राज्य अमरीका) से प्राप्त की।

टाटा इंस्टीच्यूट आफ फंडामेंटल रिसर्च (मुंबई) में तीन वर्ष तक शोध और अध्यापन करने के बाद 1971 में बनखेड़ी (होशंगाबाद, म.प्र.) में 'किशोर भारती' संस्था की स्थापना कर बाद के बीस सालों तक इसी संस्था में ग्रामीण शिक्षा और विकास के क्षेत्र में अनेक बहुआयामी और सृजनात्मक प्रयोग किए। 1972 में 'होशंगाबाद शिक्षण कार्यक्रम' का श्रीगणेश और अगले दस वर्षों तक उसका नेतृत्व। इस समय दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग में प्रोफेसर हैं।

अनेक पुरस्कारों से सम्मानित प्रोफेसर सद्‌गोपाल शिक्षा की अनेक अन्य गतिविधियों से भी जुड़े रहे हैं। राष्ट्रीय शिक्षण आयोग (1983) और 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986' की समीक्षा के लिए गठित राममूर्ति समिति के सदस्य रहे। शहीद शंकर गुहा नियोगी के नेतृत्व में छत्तीसगढ़ (म.प्र.) में चले मजदूर आंदोलन पर 'संघर्ष और निर्माण' पुस्तक का संपादन किया।

ISBN 81-7917-057-8

मूल्य 275.00

ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड

बी-7, सरस्वती काम्प्लेक्स, सुभाष चौक

लक्ष्मी नगर, दिल्ली 110092